सौन्दर्य-शास्त्र

डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा

प्रकाशक
मधु प्रकाशन
ताशकन्द मार्ग, इलाहाबाद-211001

SAUNDARYA SHASTRA

by DR HARDWARI LAL SHARMA

पहला संस्करण 1953
द्वितीय संस्करण 1979
तृतीय संस्करण 1984

तृतीय संस्करण संशोधित तथा परिवर्धित	1984
प्रकाशक	मधु प्रकाशन, 42 ताशकन्द मार्ग, इलाहाबाद 211001
मुद्रक	अशोक मुद्रण गृह, 42 ताशकन्द मार्ग, इलाहाबाद 211001
मूल्य	पचास रुपये

निवेदन

'सुन्दर'—यह उन अभागे शब्दो मे से है जिनके शुद्ध प्रयोग की अपेक्षा दुष्प्रयोग अधिक करते है। साधारणतया हम किसी भी रोचक अथवा तृप्ति देने वाली वस्तु को 'सुन्दर' कह उठते हैं। यह सच है कि सौन्दय मे रोचकता उसका प्राण है और हमारे भावना-जीवन की तुष्टि और पुष्टि सौन्दर्य का चरम प्रयोजन है। यह भी सच है कि सौन्दर्य की अनुभूति केवल कलाकार अथवा दार्शनिक का एकाधिकार नही है, अपितु मनुष्य मे सहज सरसता के कारण यह अत्यन्त साधारण है, ठीक वैसे ही जैसे प्रत्येक पार्थिव पदार्थ का पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकषण। किन्तु जिस प्रकार 'आकषण' की अनुभूति सवसाधारण होते हुए भी विश्लेषण के लिये कठिन है, उसी प्रकार सृष्टि मे मानवी स्तर पर आकर्षण का मूल तत्त्व—सौन्दर्य—विलक्षण वस्तु है जिसके विश्लेषण के लिये शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक है।—

हमारी साधारण तृप्ति मे उद्वेग का स्पश रहता है। इससे जीवन का ह्रास होता है। सौन्दर्य जिस तृप्ति का नाम है उससे जीवन का विकास, प्राणो मे स्फूर्त्ति, हृदय में उदात्त वेदना का सचार तथा कल्पना के लिये नवीन आलोक का सृजन और शान्ति का सचार होता है। श्रम नही, विश्राम ही सौन्दर्यानुभूति का फल है। इस विशेषता के कारण ही यह जीवन के लिये परम उपयोगी अनुभव है—दाशनिक दृष्टि से तो यह जीवन का परम आधार है। इसीलिये कुशल स्रष्टा ने सम्पूर्ण सौन्दर्य की जननी पृथ्वी पर, दिव्य सौन्दय के अक्षय निधान रूप आकाश के नीचे, जीवन का आविर्भाव किया है। इससे भी बढ कर मनुष्य को सृजन के लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति देकर आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना के द्वार खोल दिये हैं। फलत मनुष्य के बनाए हुए ससार मे आध्यात्म जगत् के जीवित प्रतीक अनेक कला-कृतियो के रूप मे विद्यमान हैं। सौन्दर्यानुभूति के महत्त्व के कारण ससार मे कलाकार, दार्शनिक, रसिक, सभी ने इस विषय पर विचार किया है।

सस्कृत और अग्रेजी मे सौन्दर्य शास्त्र के ऊपर पर्याप्त साहित्य लभ्य हैं। हमे इसे अपनाना चाहिए। हिन्दी मे इस विषय पर अधिक रचनाएँ प्रकाश मे नहीं आई, ऐसा प्रतीत होता है। पुराने सस्कारो के प्रभाव से अभी हम पश्चिमी विद्वानो के विचारो को ही हिन्दी मे अनुवाद के रूप मे लाते हैं। मानना होगा कि हमे अभी

स्वतत्न विचार करने का साहस कम है । लेखक और प्रकाशक दोनो ही इस प्रभाव से बचे नहीं हैं । ऐसी परिस्थिति मे लेखक का 'सौन्दय-शास्त्र' सम्बन्धी प्रयास दु साहस मात्न प्रतीत होता है । पाठको से निवेदन है कि वे इसे दु साहस मान कर ही अपनावें और यह जान कर क्षमा करें कि इस प्रकार के प्रयत्नो के बिना मौलिक साहित्य का सृजन असम्भव है, ठीक उसी प्रकार जैसे वायुयान का विकास बिना उड़ाको के दु साहस बिना असम्भव था ।

लेखक आशा करता है कि सौन्दय सम्बन्धी अनेक दृष्टिकोणो को स्पष्ट करने के लिये अभी और रचनाएं होगी तथा कला के विभिन्न अगो का सूक्ष्म निरूपण होगा। यदि इस ओर प्रस्तुत पुस्तक से कोई प्ररणा मिल सकी तो लेखक का श्रम अवश्य ही सफल होगा ।

श्री गणेश प्रसाद गुप्त तथा श्री नमदेश्वर चतुर्वेदी जी से इस पुस्तक के लिखने मे लेखक को प्रोत्साहन मिला है । ये अवश्य ही लेखक के लिये धन्यवाद के पात्न हैं ।

—हरद्वारी लाल शर्मा

तीसरे सस्करण की भूमिका

पुस्तक का तीसरा सस्करण पाठक के हाथ मे है, कई विश्व विद्यालयो ने इसे पाठ्य पुस्तक के रूप मे अपनाया है। पाठक की सख्या के बढने से लगता है कि उसने इस पुस्तक आर इसके उद्देश्य को स्वीकार किया है ।

सान्दय सस्कृति का महामूल्य है। इसे सन्य आर शिव से अलग नही किया जा सकता। सौन्दय के अनुभव के लिये अपेक्षित है सवेदनशील हृदय आर सूक्ष्म-ग्राहिणी बुद्धि। सोन्दर्य का गभीर अध्ययन इन क्षमताओ को निखारता है, इसमे सन्देह नही, इस प्रक्रिया को आगे बढाने के लिये लेखक क कई अन्य प्रयास भी हुए हैं, जैसे, सुन्दरम्, हमारी सौन्दर्य सम्पदा, काव्यालोचन मे सौन्दय-दृष्टि, आदि।

मनुष्य कई ऐसे मूल्यो को पहचानता है जिन्हे निम्न कोटि के पशु नही पहचानते, सच तो यह है कि मूल्यो की पहचान से सस्कृति का प्रारम्भ होता है।

मूल्य क्या है ?

स्वरो के वितान, उतार-चढाव एव मधुर मूर्च्छनाओं को हम सगीत कहते हैं। ये हवा मे पैदा होने वाले सूक्ष्म स्पन्दन है। कोई भी सस्कृत मानव इनको ग्रहण और आत्मसात् करने की क्षमता रखता है। उसकी सूक्ष्मग्राहिणी बुद्धि ओर सवेदनशीलता इस क्षमता के आधार हैं। यह क्षमता सहज है, परन्तु अध्ययन से इसमे निखार आता है, इस क्षमता से मनुष्य स्पन्दनो को आत्मसात् करके अद्भुत आनन्द आर आलोक का अनुभव करता है। इस अनुभव का नाम 'रस' है, ओर जिन सूक्ष्म स्पन्दनो से रसानुभूति होती है, वह 'सौन्दर्य' है। यह सौन्दय मानवमूल्य है, क्योकि रसानुभूति से उसका जीवन समृद्ध होता है।

चित्र, मूर्त्ति, साहित्य, स्थापत्य, वास्तु आदि कलाओ मे भी हम सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। रस इनका प्राण-तत्त्व है।

आज विचारणा है कि इन पुरानी, जानी-मानी कलाओ के अतिरिक्त जहाँ कही कृतित्व, रचना, गठन, सक्षेप मे, मनुष्य द्वारा रूप दिया जाने का प्रयत्न दिखाई पडे—और, यह प्रयत्न कहाँ नही है ? वहाँ सौन्दर्य के विधान प्रकट हो जाते हैं। सन्तुलन,

लय, सवाद, एक-और-अनेक का रूप विधान सवत्र मिलता है। जो भी मनुष्य करता है, बनाता है, सोचता है, वहाँ रूप के विधान से बचा नही जा सकता। वहा सौन्दर्य है। उपनिषत् मे कहा गया है यदि रस से पूण आकाश का प्याला हमारे लिये उलट न दिया होता तो कौन प्राणी यहाँ पैदा होता, प्राणन करता ! वैसे लगता है, यदि हमारे चारो ओर यहाँ रूप का सौन्दय न होता, तो जीवन रस के बिना सूख कर नष्ट हो जाता ! और, यह रूप-सौदय, अन्तत , स्पन्दनो, तरगो, धाराओ की सरचना है जिन्हे मनुष्य अपनी सहज सवेदनशीलता के द्वारा आत्मसात् करके सुखी होता है।

सवेदनशीलता के अभाव मे मूल्य की सम्भावना नही हो सकती, और मूल्यो के न र्‌हने रो सस्कृति शून्य हो जायेगी।

सौभाग्य से, मनुष्य की सवेदनशीलता पर धार चढाई जा सकती है। यदि सौन्दय शास्त्र इस ओर कुछ भी कर सका तो सस्कृति की प्रक्रिया मे इसका योगदान होगा, और लेखक इस रचना को कृताथ मानेगा।

तीसरे सस्करण मे एक नया अध्याय जोडा गया है कला और सौन्दर्य नये सन्दर्भ।

दूसरे सस्करण की भूमिका

हमारे एक विश्वविद्यालय के कला-कक्ष को खूब सजाया गया। उस दिन देश के कतिपय 'महान्' नेताओ के लिये वहाँ भोजन की व्यवस्था की गई थी। कला के अध्यक्ष और अध्यापको को आशा थी कि कलात्मक सौन्दर्य के परिवेश मे नेतागण आकर अपनी भूख भूल जायेंगे और छवियो को निहारते रहेगे। कलाकारो का हृदय उनकी सराहना से फूल उठेगा। समय पर मुख्य अतिथि आ गये। प्रवेश-द्वार से ही मानो कला ने सौन्दर्य के पावडे बिछा दिये थे स्वागत मे! पर पर यह क्या? भूख भी विचित्र बला है! वे सीधे कक्ष मे घुस पडे। चारो ओर बिखरी सौन्दय-सम्पदा की ओर आँखे उठाकर किसी ने देखा तक नही!

घटना कला अध्यक्ष ने लेखक को सुनाई थी।

अनेक प्रश्न उठ खडे होते हैं इस घटना से क्या सौन्दय के लिये हमारे मन मे भूख जागी ही नही? अथवा, वह भोजन की भूख से दब कर मर गई? क्या हम इतना सतही जीवन जी रहे हैं कि अपने भीतर की सहज और गम्भीर मागों को हम समझते तक नही, समझ ही नही सकते? क्या हमारी खण्डित, विकल चेतना सत्य को समझेगी? सत्य जो समग्र होता है, एक, अखण्ड और अविकल! जो कट-कट गया, वह सत्य नही। जीवन की पूर्णता मे मगल और कल्याण रहता है, आधे-अधूरे जीवन मे नही। यही पूर्णता शिव और शुभ है। सत्य और शिव का साक्षात् दर्शन सुन्दर की अनुभूति मे होता है। प्रत्येक सस्कृति सम्पूर्ण, समग्र, सुन्दर का अनुभव अपनी कला के माध्यम से उपस्थित करती है। कोई भी सस्कृति मात्र भूख की सस्कृति को स्वीकार नही करती। आज पूछा जा सकता है क्या हम इस देश मे सत्य, शिव और सुन्दर को भुला कर सचमुच सस्कृत जीवन जी रहे हैं, और यह भी कि क्या भूख की सस्कृति से भूख भी मिट सकेगी?

स्मरण रहे, सास्कृतिक जीवन के मूल्यो का सार, यह सौन्दर्य हल्की, सस्ती वस्तु नही है। जीवन की पूणता के लिये, सत्य और मगल के स्वरूप को समझने के लिये वह अनिवार्य आवश्यकता है।

विषय-सूची

सौन्दर्य-शास्त्र

हमारे अनुभव का अन्तर्जगत् रूप रस-गन्ध स्पर्श शब्दमय बाह्य ससार की अपेक्षा अधिक विस्तत और विचित्र है। उसमे आँखो देखे विश्व की झाँकी तो है ही, इससे भी अधिक, वहाँ प्रेम की धाराएँ बहती हैं, क्रोध-ईर्ष्या की ज्वालाएँ धधकती हैं, ज्ञान के दीपक जलते हैं, कही आशा का धूमिल प्रभात फूट उठता है और स्वप्नो उलझ कर कामना के मधुगन्धमय झोके चलते हैं। वहाँ निराशा की निबिड रजनी भी है, उत्कण्ठा के प्रबल प्रपात भी, वहाँ आदर्शों के शिखरो की उच्चता है और शील के समुद्र का गाम्भीय भी। वहाँ करुणा के स्रोत फूटते हैं, हिंसा के ज्वालामुखी गरजते हैं। वहाँ शान्ति और क्रान्ति दोनो ही पलते हैं। वहा कोमल-कान्त भावनाएँ, मृदु-सजीव कल्पनाएँ, उदात्त विचार और मधुर स्मृतियाँ हैं। विज्ञ लोगो का तो कथन है कि हमारे परिचित चेतन अनुभव के भी मूल मे अनन्त, अचेतन शक्तियाँ क्रियाशील हैं। जीवन के गम्भीरतम, क्रान्तिकारी अनुभव, जिनसे नवीन युगो का निर्माण होता है तथा जिनसे नवीन सौन्दर्य की सृष्टि और सत्य का उद्घाटन होता है, इसी आत्मा के गम्भीर गर्भ में उत्पन्न होते और पलते हैं। अन्तजगत् मे विचरण करने वाले ऋषियो ने आत्मा को अनन्त, अनादि, अखण्ड, अज्ञेय, अमेय आदि कह कर अपनी वास्तविक अनुभूति का ही वर्णन किया है।

चिरकाल से हम इस अन्तजगत को समझने और व्यवस्थित करने का प्रयत्न करते आये हैं। 'व्यवस्था' भी मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर हम अपने अनुभव को व्यवस्थित करते हैं। व्यवस्था का सबसे पहला क्रम समान अनुभवो को एकत्र करना होता है। अनेक समान वस्तुओ के समुदाय को 'वर्ग' कहते हैं और अनेक वस्तुओ को वर्गों मे व्यवस्थित करना 'वर्गीकरण' कहलाता है। इसके अनन्तर हम प्रत्येक वर्ग के सामान्य और विशेष गुणो का पता लगाते हैं। इस क्रिया का नाम 'विश्लेषण' है। निरीक्षण और प्रयोग द्वारा हम वस्तुओ का विश्लेषण किया करते हैं। ऐसा करने से हमे उनके 'सामान्य' नियम स्पष्ट प्रतीत होने लगते हैं। प्रत्येक सामान्य नियम दूसरे से निश्चित सम्बन्ध रखता है। सामान्य नियमो मे परस्पर सम्बन्ध की गवेषणा करने से हमारा सम्पूर्ण ज्ञान विशद और सगठित हो जाता है।

आन्तरिक और बाह्य—को समझने के लिए होता है। व्यवस्था करना और समझना वस्तुत एक ही प्रक्रिया के दो नाम है।

एक उदाहरण लीजिए हम कुछ वस्तुओ को समानता के कारण 'पुष्प' कहते है। हम निरीक्षण द्वारा इसके गुणो और अवयवो का पता लगाते हैं। ऐसा करने से अनेक सामान्य नियम स्पष्ट प्रतीत होते है, जैसे प्रत्येक पुष्प रगीन होता है और अपने वर्ण के कारण परिमण्डल मे आकषक प्रतीत होता है। कुछ मक्खियाँ और भौंरे उन पर मँडराते और उनका पराग इधर उधर ले जाते है। जहाँ इनके उडने के लिए अधिक अवकाश नही मिल पाता, वहाँ पुष्प के अनन्तर फलो की समृद्धि कम होती है, आदि। पुष्प सम्बन्धी इन सामान्य नियमो को हम सगठित करते हैं पुष्पो का रगीन और आकर्षक होना, उन पर मधुमक्खियो और भ्रमरो का गुनगुना कर मडराना, इसके अनन्तर फल की समृद्धि—ये तीनो नियम वस्तुत उस प्राकृतिक व्यवस्था के अग हैं जिससे सारा वनस्पति-जगत् पलता और समृद्ध होता है। इन नियमो के आविष्कार और सगठन से हम प्राकृतिक उद्देश्य को समझने मे समथ होते हैं। हमारा ज्ञान व्यवस्थित हो जाता है। वनस्पति सम्बन्धी इस व्यवस्थित ज्ञान को वनस्पति-विज्ञान कहा जाता है।

किसी भी व्यवस्थित ज्ञान को हम 'विज्ञान' कहते हैं। विज्ञान का एक विशेष दृष्टिकोण होता है। वह यह कि इसमे हम वस्तुओं के गुणो, प्राकृतिक घटनाओ के क्रम-विकास और उनके सामान्य नियमो की गवेषणा और स्थापना करते हैं, किन्तु उन वस्तुओ के मानव-सम्बन्ध और उनके आध्यात्मिक प्रभाव का अध्ययन नही करते प्रत्येक वस्तु का अपना स्वरूप है, वह प्राकृतिक जगत् की एक घटना है और प्राकृतिक व्यवस्था का एक आवश्यक अग है। एक फूल को ही लीजिए वह वनस्पति-जगत् की अनिवाय घटना है। वनस्पति का एक ओर तो जीवधारियो और चेतन प्राणियो से सम्बन्ध है, दूसरी ओर जल, वायु, ताप, खाद्य आदि अनेक पार्थिव पदार्थों से निश्चित सम्बन्ध है, जिस सम्बन्ध को हम सामान्य-नियमो द्वारा जानने का प्रयत्न करते हैं विज्ञान फूल को प्राकृतिक वस्तु मान कर तत्सम्बन्धी नियमो का अन्वेषण करता है यह फूल किस प्रकार मनुष्य को प्रभावित करता है, किस प्रकार मानव-हृदय आनन्द की भावनाओ को जागृत करता है, क्यो इसका सौरभ और सौन्दय गम्भी चेतनाओ को उद्बुद्ध करता है, क्या कारण है कि यह प्रकृति का साधारण पदाथ निष्पाप, निष्कलक जोवन, इसकी रगरेलियाँ, सुरभित सुख और इसके अन्तिम परिणाम का प्रतीक बन गया है? इस वस्तु के स्पर्श, दर्शन अथवा ध्यान से मनुष्य

नैतिक भावनाएँ किस प्रकार पुष्ट और प्रभावित होती हैं ? इन सब प्रश्नो पर विज्ञान विचार नही करता । सक्षेप मे, विज्ञान का दृष्टिकोण वस्तु की प्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करने के कारण वास्तविक है, उसके मानव प्रभावो का अध्ययन न करने के कारण आध्यात्मिक नही है ।

(2)

हमारे अनुभव की वैज्ञानिक व्यवस्था वास्तविक होती है, आध्यात्मिक नही । यह विज्ञान का दोष नही, गुण है, क्योकि प्रत्येक वस्तु के मानवीय प्रभावो का अध्ययन करने मे वस्तु का अपना महत्व घट जाता है और हमारा ध्यान केवल उसके प्रभावो को समझने मे लग जाता है । विज्ञान ने वस्तु के स्वतत्र स्परूप को समझने के लिये उसको 'मनुष्य' से पृथक् किया और प्राकृतिक व्यवस्था का अग बनाया, जिससे विज्ञान मे प्रेम द्वेष, शोक-भय-उत्कण्ठा आदि के स्थान पर सामान्य-नियमो का निष्पक्ष, सगत और सगठित ज्ञान उदय हुआ । इस ज्ञान का नीरस होना अनिवाय था, क्योकि रस की भावना से पक्षपात उत्पन्न हो सकता है । वत्तमान विज्ञान ने बुद्धि को भावना के प्रबल प्रभाव से मुक्त करके उसे अपने ही नियमो के अनुसार स्वतत्र विचार करने की शक्ति दी है, यहा तक कि हम वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य को भी प्राकृतिक जगत् की एक घटना समझते हैं, और, उसके शरीर और मन का अध्ययन बादल और बिजली की भाँति ही करते हैं ।

विज्ञान का दृष्टिकोण हमे मान्य होते हुए भी पूण प्रतीत नही होता, क्योकि वस्तु की सत्ता उसके गुणो के विश्लेषण और सामान्य नियमो के ज्ञान से समाप्त नही हो जाती । फूल केवल पखुरियो, रज, सौरभ और रस का समुदाय मात्र ही नही है, वह सुन्दर भी है, वह हमारी अनेक भावनाओ का केन्द्र है, क्योकि मनुष्य का अनुभव केवल ज्ञान तक ही सीमित नही है, उसकी भावनाएँ, कल्पना शक्ति, आह्लाद और आनन्द केवल भ्रम अथवा मनोविकार नही है, ये सम्पूर्ण मानव-जीवन के अभिन्न, निकटतम, श्रेष्ठतम और प्रियतम अग हैं । इनके अभाव की एक क्षण के लिए कल्पना कीजिए हमारा सारा अनुभव और जगत् व्यथ घटनाओ का प्रवाह-मात्र रह जायगा । वस्तुओ के रग रूप उनके रस, स्पश तथा ध्वनि, प्रभावहीन होने के कारण, केवल निष्प्राण आकार अथवा प्रतिबिम्ब की भाँति चित्रपट पर अकित होगे । हम नही कह सकते कि उस भावना-शून्य अवस्था मे हमे सूर्य और चन्द्रमा, सन्ध्या और प्रभात, बादल, वन, समुद्र, प्रपात, निर्झर और सरिताए, हमारे स्वय प्रियजन, पत्नी,

आकषण समाप्त हो जायगा और इसके साथ जीवन की प्रवृत्तियाँ भी। सारा जगत् आकर्षण-विकर्षण-शून्य निष्चेष्ट आकृतियो का पुतलीघर बन कर रह जायगा। हम नही कह सकते कि उस अवस्था मे जीवन और अनुभव सम्भव हो सकेंगे।

वस्तु, सम्पूर्ण वस्तु के अध्ययन के लिये उसके आध्यात्मिक प्रभावो का अध्ययन आवश्यक है। ये प्रभाव मानसिक जगत की घटनाएँ हैं और आँधी, वर्षा, भूचाल आदि प्राकृतिक घटनाओ की भाति ही सत्य और विश्वास के योग्य हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु केवल प्रकृति का अग ही नही है, अपितु अपने आध्यात्मिक प्रभावो के कारण, वह चेतना का स्फुलिग है। वह हमारे आत्मिक जगत की घटना है और हमारी भावना, कल्पना और आनन्द का प्राण है। वस्तुओ के इस आध्यात्मिक और चेतन स्वरूप को समझने तथा इनके प्रभावो को यथाविधि व्यवस्थित करने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी उनके प्राकृतिक स्वरूप को विज्ञान द्वारा व्यवस्थित करने की होती है। वस्तुओ के चेतन स्वरूप और उनके आध्यात्मिक प्रभावो को 'व्यवस्था' देने क लिए 'शास्त्र' का उदय होता है।

वैज्ञानिक और शास्त्रीय व्यवस्था मे वास्तविक और आध्यात्मिक दृष्टि का भेद है अवश्य, परन्तु दोनो मे व्यवस्था के सिद्धान्त समान ही हैं। व्यवस्था का मूल-सिद्धान्त सगति है। इसके अनुसार प्रत्येक सामान्य नियम का आधार साधारण अनुभव और निरीक्षण है, अतएव विज्ञान अथवा शास्त्र के सामान्य निष्कर्ष हमारे अनुभव का विरोध करके सत्य नही माने जा सकते। हम विचार द्वारा जिन निर्णयो पर पहुँचते हैं, वे अनुभव के अनुकूल होकर ही सत्य माने जा सकते हैं। इन निर्णयो मे परस्पर विरोध भी सम्भव नही, क्योकि ऐसा होने पर इनका सगठन ही न हो सकेगा। शास्त्र और विज्ञान दोनो ही सगत और सगठित ज्ञान का सम्पादन करते है।

तब शास्त्र का स्वरूप क्या है?

विज्ञान का प्रत्येक निणय, अन्ततोगत्वा, साधारण अनुभव की ओर लौटता है। यह साधारण अनुभव प्राकृतिक घटनाओ का निरीक्षण है। ये घटनाएँ बाह्य जगत् मे किसी स्थान, समय और परिस्थिति मे प्राकृतिक नियमो के अनुसार घटित होती रहती हैं। इनका निरीक्षण वैज्ञानिक निणय की कसौटी है। परन्तु हमारा अनुभव निरीक्षण तक ही सीमित नही है, हम अपने आन्तरिक, गम्भीर अनुभवो को भी बाह्य घटनाओ की भाति ही स्वीकार करते है, इन्ही अनुभवो पर हम विचार करते है। बाह्य घटनाओ के निरीक्षण करने के स्थान पर अपने आन्तरिक अनुभवो पर विचार

करना 'मनन' कहलाता है। शास्त्र इसी मनन क्रिया की उपज है। यदि वैज्ञानिक सत्य की अन्तिम परीक्षा वास्तविक घटनाओ का निरीक्षण है तो शास्त्रीय सत्य का आधार और कसौटी हमारे आन्तरिक अनुभवो का मनन है। विज्ञान ने हमे बताया है कि आकाश की नीलिमा अनन्त अन्तराल का केवल अन्धकार है, और, ये नक्षत्र और तारे गैसो से बने महा पिंड हैं, परन्तु इस ज्ञान से तारिका-जटित नीलाकाश के सौन्दय का अनुभव भ्रम सिद्ध नही हुआ। आज हम उषा, इन्द्र-धनुष, विद्युत् आदि प्रकृति के अनेकानेक पदार्थों के विषय मे अधिक जानते ह, परन्तु इनकी दिव्यता और छटा की अनुभूति मे कोई अतर नही हो पाया है। हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरो और समुद्र के अमेय विस्तरो को देखकर हमारा हृदय दिव्य भावना से गद्‌गद् हो जाता है। दु खी मनुष्य की सहायता करके मन प्रसन्न होता है, दीनो पर अन्याय होते देख मन मे दु ख और अन्याय के प्रति क्रोध और घृणा का अनुभव होता है। यदि हमारे ये आह्लादमय, धार्मिक अथवा नैतिक अनुभव सत्य नही है तो हम बाह्य जगत् के अनुभव को कैसे विश्वसनीय मान सकते हैं ? शास्त्र इन्ही अनुभूतियो का अनुशीलन करके इनके स्वरूप का निश्चय करता है, उनमे सगति के सिद्धान्तो के अनुसार व्यवस्था उत्पन्न करता है।

(3)

शास्त्र और विज्ञान के अतिरिक्त, दर्शन का भी एक पृथक् दृष्टिकोण है। विज्ञान 'पुष्प' के प्राकृतिक स्वरूप का निश्चय करता है, और शास्त्र उसके आध्यात्मिक प्रभावो का मनन करता है। परन्तु इतने से पुष्प की सत्ता समाप्त नही हो जाती। इसको पूर्णतया समझने के लिये अभी पूछा जा सकता है, क्योकि 'पुष्प' केवल प्राकृतिक वस्तु अथवा आध्यात्मिक अनुभूति ही नही है, इसलिये इसके अतिरिक्त इसका चरम स्वरूप क्या है ? क्या इसका कोई अपना उद्देश्य है अथवा इसका विकास और ह्रास नियमो के अकाट्य ब धनो मे बधा हुआ है ? हमारे सम्पूर्ण अनुभव मे इसका क्या स्थान है ? इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिये, हमे केवल 'पुष्प' के ऊपर ही विचार न करना होगा, वरञ्च कुछ चरमान्त प्रश्नो को सुलझाना होगा, जैसे, सत्ता' किसे कहते हैं ? यह सत्ता जड है अथवा चेतन ? इन्द्रियो की बाह्य गति को थोडा रोक कर अनुभव करने से प्रतीत होता है कि हमारा स्वय स्वरूप प्रवाह की भाति प्रवहणशील है। प्रवाह की भाति ही यह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता और आगे बढता प्रतीत होता है। यह सारी सत्ता काल की धारा-सी प्रतीत होने लगती है। काल की यह सततगामी धारा क्या निरुद्देश्य है अथवा इसका कोई उद्देश्य है। क्या इस प्रवाह मे हमे कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है अथवा कोई महाशक्ति हमे अज्ञात दिशा की ओर ले

जा रही है ? हमारा अनुभव विचित्र और विशाल है। इसमे बाह्य और आन्तरिक जगत का अनुभव सम्मिलित है , भावना, कल्पना, स्मृति, प्रवृत्ति और इच्छाएँ भी हैं। इस विस्तृत और विविध अनुभव को सूत्रित करने के लिये किस प्रकार सामजस्य उत्पन्न किया जाये ? क्या सामजस्य सम्भव भी है ? यह सामजस्य क्यों हमारे मानवीय स्वभाव के लिये आवश्यक है ? क्या हम अपनी बुद्धि आदि शक्तियो के द्वारा 'सत्ता' को समझ भी सकते हैं ? यदि नही, तो यह समझने की इच्छा क्या भ्रम है ? क्या बुद्धि के अतिरिक्त भी कोई अन्य साधन है जिससे हम सत्ता को हृदयगम कर सकें।

ऊपर प्रस्तुत किये गये प्रश्न दार्शनिक प्रश्न है। इनसे दाशनिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वह सक्षेप मे इस प्रकार है प्रत्येक वस्तु और अनुभव सम्पूर्ण सत्ता का अग है। इस सत्ता के स्वरूप और उद्देश्य को समझकर हम किसी वस्तु और अनुभव को पूर्णरूपेण समझ सकते हैं। जब कभी हम 'पुष्प' अथवा 'आनन्द' अथवा किसी भी वस्तु और अनुभव के चरम स्वरूप को जानने के लिये उसे सम्पूर्ण सत्ता का अश मान कर विचार करते है तब हमारा दृष्टिकोण दार्शनिक होता है। सत्ता असीम, अनन्त, अनादि, और किसी के अनुसार, अज्ञेय अथवा अनिवचयीय भी हैं, और, हमारा अनुभव अथवा कोई वस्तु ससीम, सान्त, सादि और ज्ञेय है। दाशनिक विचार का अर्थ तब तो ससीम को असीम के द्वारा, सान्त को अनन्त के द्वारा, सादि को अनादि के द्वारा तथा ज्ञेय को अज्ञेय के द्वारा समझने का प्रयत्न है। क्या यह प्रयत्न व्यर्थ और मूढता का द्योतक तो नही है ? कुछ लोग दशन को 'अन्धेरे कमरे मे काली बिल्ली की खोज जहाँ वह नही है' की भाति मानते है। सत्य तो यह है कि हमारी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति बिना दर्शन के हो जाती प्रतीत होती है, परन्तु हमारा प्रत्येक काय, योजना और तृप्ति हमारे दार्शनिक दृष्टिकोण को, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से, प्रकट करते हैं। जो व्यक्ति पुष्प के सौन्दर्य, विद्युत् की दिव्यता और आकाश के उदात्त मडप का अनुभव न करके, केवल 'नून-तेल लकडी' के प्रयत्नो मे फँसा हुआ है, उसका जीवन सकुचित है। जीवन के विस्तृत अन्तराल मे ज्यो ही हम प्रवेश करते हैं, इसकी समस्याओ पर विचार और इसकी विचित्रता का अनुभव करते हैं, हमे अवश्य ही सत्ता की सम्पूर्णता का अनुभव होता है, इतना स्पष्ट न सही जितना 'पुष्प' का, परन्तु यही अस्पष्ट, धूमिल अनुभव हमारे सारे जीवन को रग देता है और यह प्रत्यक्ष पुष्प' अक्षय आनन्द और सौन्दर्य का निधि बन जाता है।

(4)

हमने जीवन के अनन्त अन्तराल और विविध अनुभवो का उल्लेख किया है।

प्रस्तुत निबन्ध का विषय केवल एक अनुभव है । वह अनुभव है आनन्द, आह्लाद अथवा रस । इसके स्वरूप को समझने के लिये, मनुष्य युगो से मनन करता आया है, और इस आनन्द चेतना के अनुशीलन से वह अपनी आत्मा के स्वरूप को भी समझने मे समर्थ हुआ है । उसने आज से युगो पूव निणय किया था कि आत्मा स्वय रसमय है, यह आकाश आनन्द का छलकता हुआ प्याला है इत्यादि । आर्य-काल से लेकर अब तक हमारी सभ्यता और सस्कृति मे निरन्तर परिवत्तन और विकास होता आया है । हमारे नैतिक और धार्मिक विश्वास, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ ऐतिहासिक कारणो से बदलते रहे हैं । न जाने कितनी क्रान्तिया इधर-उधर बिखरे खडहरो मे छिपी पडी हैं । यह सब होते हुए भी हमारी आनन्द-भावना आज भी जीवित है और सदैव जीती रहेगी, कारण कि इसका जीवन के मूल से घनिष्ठ सम्बन्ध है । निश्चय है, इस भावना के उन्मूलन से जीवन ही उन्मूल हो जायगा । युग के प्रभावो और ऐतिहासिक परिस्थितियो से जीवन की यह मूलभूत चेतना निर्बल अथवा सबल, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, मलिन अथवा निमल, ऊमर अथवा उवर, होती रही है, किन्तु इसका प्रवाह सनातन और अविच्छिन्न रूप से बहता रहा है । प्रत्यक युग ने साहित्य और कला के सृजन से अपनी पुष्ट आनन्द चेतना को व्यक्त किया है ।

हमारा यह अनुभव असाधारण नही, अपितु सव-साधारण है । ससार की असभ्य, अद्ध-सभ्य और बबर जातियो मे भी नृत्य, वाद्य, चित्रकारी, सगीत आदि के द्वारा जीवन मे उल्लास भरने का प्रयत्न किया जाता है । इनका प्रकृति प्रेम प्रसिद्ध है । पवत मालाओ, गिरि-गुहाओ और घने वनो को छोडकर, ये हमारे नगरो के कठोर और कृत्रिम वातावरण से दूर रहना पसन्द करते हैं । विशेषज्ञो का कथन है कि इन लोगो के गीतो और वाद्यो मे सभ्य कहलाने वाले सगीत की जटिलता न सही, किन्तु इतनी मार्मिकता, मार्दव और माधुय होता है कि वह हृदय के गम्भीर स्तरो को स्पश करता प्रतीत होता है । जीवन की सरलता और स्वाभाविकता मे, हमारी आनन्द चेतना और भी स्वच्छन्द, स्पष्ट और प्रबल हो उठती है । सभ्यता और सस्कृति अवश्य ही इसका सस्कार करते हैं साथ ही जटिल और जड भी बनाते हैं, क्योकि वस्तुत सभ्यता और सस्कृति दोनो ही बाह्य और आन्तरिक जीवन मे विशेष नियमो के बन्धन और अनुशासन के नाम है ।

जीवन की यह सनातन और व्यापक चेतना कहा और कैसे उत्पन्न होती है ?

आनन्द की जिस अनुभूति का वणन करने चले है वह वस्तुत अनुभूति का आनन्द है । हम अनेक वस्तुओ, उनके आकारो और रगो का प्रत्यक्ष करते हैं, ध्वनियाँ सुनते हैं, स्मृति द्वारा अतीत का अवगाहन और कल्पना द्वारा अपूव और

नवीन प्रदेशो मे भ्रमण करते हैं। हमारे विचार और भाव भी हमे तल्लीन करने मे समथ होते है। अपने दैनिक जीवन मे प्रत्यक्ष आदि का उपयोग प्रवृत्तियो की सफलता के लिये किया जाता है। हम सूर्योदय देखकर काय मे लग जाते है, विद्युत् की चमचमाहट देखकर शीघ्र सुरक्षित स्थान मे चले जाते है, कल्पना की सहायता से योजनाएँ बनाते है। परन्तु जब कभी सूर्योदय और विद्युत् का साक्षात् अनुभव, कल्पना, स्मृति, विचार और भावना प्रवृत्ति को जन्म न देकर अपने रग रूप आदि विशेष गुणो के द्वारा केवल भोग ओर रस का उद्रेक करते हैं, तो हमारे जगत की ये साधारण वस्तुएँ अद्भुत आनन्द के मूलस्रोत-सी प्रतीत होने लगती हैं। उस समय हम इनको सुन्दर' कहते है। सु दर वस्तुओ के इस सौन्दय से हृदय आह्लाद पाता है जीवन की साधारण प्रवत्तिया कुछ समय के लिये स्थगित हो जाती है सघष रुक जाने से मन और शरीर की प्रणालिकाओ मे नवीन रस का सचार होता हुआ प्रतीत होता है, और आखो मे आनन्द के आँसू उमड उठते है। हमारी यह अनुभूति किसी वस्तु की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द का नाम है। अपनी अनुभूति—प्रत्यक्ष स्मृति, कल्पना आदि—द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाले वस्तु के गुण को 'सौन्दय' और उस वस्तु को 'सुन्दर' कहते हैं।

सौन्दय का अनुभव व्यापक और महत्त्वपूण है। इससे हृदय सरस और जीवन उदार होता है, बुद्धि को नवीन चेतना और कल्पना को सजीवता प्राप्त होती है। इस महत्त्वपूण अनुभूति का अनुशीलन करने, इसके स्वरूप और स्वभाव को समझने, जीवन की दूसरी अनुभूतियो के साथ इसका सम्बन्ध स्पष्ट करने तथा इसकी पुष्ट और रचनात्मक शक्ति को समझने के लिये जिससे कला का जन्म होता है हमे एक विशेष विचार-माला की आवश्यकता होती है। इस व्यवस्थित विचार-माला को हम सौ दर्य-शास्त्र' कहते हैं।

सौन्दय-शास्त्र सौन्दय की शास्त्रीय विवेचना है।

यदि हम सुन्दर वस्तु को प्राकृतिक जगत की वस्तु मानकर निरीक्षण, प्रयोग आदि द्वारा उसके गुणो का विश्लेषण करें, और सुन्दर कही जाने वाली वस्तुओ के सम्बन्ध मे सामान्य नियमो की गवेषणा करें, तो हमारे प्रयत्न से 'सौन्दय-विज्ञान' प्राप्त होगा। उदाहरणार्थ हम आकाश, हरे वन, जल-विस्तार, दूर तक फैले हुए खेतो और मैदानो को सु दर कहते हैं। इन वस्तुओ के विश्लेषण से एक बात स्पष्ट जानी जाती है कि ये प्रिय लगने वाले रगो के विशाल और विस्तृत पदाथ हैं। इनकी विशालता और तरलता मे हमारे जीवन की प्रतिध्वनि मिलती है। अत हमे ये सुन्दर प्रतीत होते हैं। अतएव सौन्दर्य विज्ञान का निर्णय है कि वस्तुओ की

विशालता* और तरलता उन्हे सौन्दय प्रदान करती हैं। इसी प्रकार हम अनेक सुन्दर वस्तुओ के निरीक्षण और परीक्षण से—सुन्दर रागो, मूर्तियो, चित्रो, काव्य कथानको आदि के विश्लेषण से—इनके सौन्दर्य के स्वरूप को सामान्य नियमो द्वारा समझने मे समथ हो सकते हैं। आधुनिक विज्ञान ने स्वरो, श्रुतियो, रगो और आकारो आदि की परीक्षा करके इनके माधुय और सौन्दर्य को निश्चित रूप से समझने का प्रयत्न किया है।

हमे यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण आदरणीय है। परन्तु हम इसे पूर्ण नही मानते, कारण कि वस्तु के सौन्दय का उसके रग, रूप, रचना, आकार आदि से जितना सम्बन्ध है, इससे अधिक उसका सम्बन्ध आनन्द' अथवा 'रस' की अनुभूति से है। सुन्दर वस्तु आनन्दप्रद होने के कारण हमारी चेतन सत्ता का अश है। हम उस वस्तु को उसके आध्यात्मिक प्रभाव से विच्छिन्न नही कर सकते। हम सुन्दर वस्तु का प्राकृतिक पदाथ—पानी और हवा—की भाँति अध्ययन नहीं करते। पानी इसलिए पानी है, क्योकि विश्लेषण द्वारा हम जानते हैं कि यह हाइड्रोजन और ओषजन के विशष सयोग से बना है। परन्तु सुदर वस्तु केवल अपने आकार और रचना के कारण ही नही, वरन् इसलिए भी सुदर है कि इसका अनुभव आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करता है। प्रत्येक रचना के सौन्दय की अन्तिम परीक्षा हमारी अनुभूति के द्वारा ही होती है। सौन्दय के इस आध्यात्मिक स्वरूप की परीक्षा सौन्दय शास्त्र और इसके प्राकृतिक स्वभाव की गवेषणा सौन्दय-विज्ञान का काम है।

प्रस्तुत निबन्ध मे शास्त्रीय दृष्टिकोण की प्रधानता है, परन्तु हमने वैज्ञानिक विचार-शैली को भी उचित स्थान दिया है।

सौन्दय के विषय मे कुछ दाशनिक समस्याएँ भी हैं। सौन्दर्य की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि क्यो है? सौदय से हमारा क्या सम्बन्ध है। क्या सम्पूण सृष्टि की रचना सौन्दय के सिद्धान्तो के अनुसार किसी दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति के लिये हुई है? क्या बहते हुए स्रोत, खिलते हुए पुष्प, लहराते हुए वन, शालि क्षेत्र, समुद्र और तारिकाओ वाला आकाश ये सब चेतन सत्ता के मूत्तरूप हैं? किन मूल-भावनाओ की प्रेरणा से मनुष्य अपनी आनन्द-अनुभूतियो को मूर्त करना चाहता है? हमारे सम्पूण अनुभव मे 'आनन्द' का क्या स्थान है? इत्यादि प्रश्न सौन्दर्य

*लौंजाइनस, कान्ट आदि दाशनिको के मत मे सौन्दय का यह रूप 'उदात्त (Sublime) भाव का मूलोद्गम है।

के दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये हैं। यद्यपि इन प्रश्नो का पूण उत्तर हमारे प्रस्तुत क्षेत्र से बाहर है, तथापि अपने विषय का स्पष्ट विवेचन इनके बिना सम्भव नही है। इसलिये सौन्दर्य दशन हमारी शास्त्रीय विवेचना की मूल-भित्ति की भाँति हमारे सम्पूण ग्रन्थ मे विद्यमान है।

(5)

सौन्दय-शास्त्र के क्षेत्र और विस्तार को स्पष्ट करने के लिये हमे इसकी मुख्य समस्याओ को समझना चाहिये।

(क) हमारी चेतना का वह अश जिसे हमने 'आनन्द कहा है, अनेक ऐतिहासिक कारणो से विकास और ह्रास पाता है। मूलत यह चेतना सामूहिक है अतएव, समाज के उत्थान और पतन के नियम इसके लिये लागू होते है। प्रागतिहासिक काल से लेकर अब तक की इसके निरन्तर विकास की कहानी, इसके नियमो का अध्ययन, इस शास्त्र का आवश्यक अग है।

(ख) हमारी चेतना अखण्ड है, अतएव इसका खण्डश अध्ययन सुलभ होते हुए भी सही नही माना जा सकता। 'आनन्द' जीवन की व्यापक अनुभूति है। इसको दूसरी अनुभूतियो से पृथक् करना न सम्भव है, न उपयुक्त। यह शास्त्र 'आनन्द' का सम्पूर्ण चेतना तथा इसके दूसरे महत्त्वपूर्ण अशो के साथ सम्बन्ध स्पष्ट करता है।

(ग) हमने ऊपर कहा है कि 'वस्तु' सुन्दर होती है और इस वस्तु के अनुभव को 'आनन्द' कहते है। वस्तु का सौन्दर्य उसका आध्यात्मिक रूप है। वह जिस चेतना को जन्म देता है उसे 'रस' वा आनन्द' कहा जाता है। सौन्दय से रस की उत्पत्ति एक रहस्यमय क्रिया है। इस शास्त्र मे हम न केवल सौदय और आनन्द के स्वभाव का निश्चय करते है, साथ ही रसोत्पत्ति की प्रक्रिया को भी समझने का प्रयत्न करते है। इसके लिये हमे कई मनोवैज्ञानिक प्रश्नो का सुलझाव करना होता है, जैसे मन की वे कौन-सी स्वाभाविक प्रवृत्तिया है जिनसे हम वस्तु के सौन्दय को ग्रहण कर पाते हैं? मानसिक आस्वादन का क्या प्रकार है? इत्यादि।

(घ) हम 'सुन्दर' वस्तु और उसके अनुभव का विश्लेषण भी करते है, जिसके फल स्वरूप इसके मूल-तत्त्वो का उद्घाटन होता है। ये मूल तत्त्व वस्तु के सौन्दय के जनक होते है। इनमे पहला अश 'भोग' है। यह अश उस वस्तु के विशिष्ट रग, रस, ध्वनि स्पश आदि है जो हमे स्वभावत प्रिय लगते है और भोग' की भावना उत्पन्न करते है। दूसरा रूप' तत्त्व है, यह रगो, रेखाओ, ध्वनियो का विशेष विन्यास है जो स्वभावत आह्लाद जनक होता है। तीसरा तत्त्व 'अभिव्यक्ति'

है। 'भोग' और 'रूप' से किन्ही मानसिक अनुभवो की व्यजना होती है, जैसे किसी मूर्ति मे मुख की कुछ रेखाएँ निराशा, धैय अथवा उल्लास को प्रकट करती हैं, अथवा, पीले रग से आश्चय, लाल से भयकर तेज, श्याम वर्ण से शृङ्गारिक सौन्दय आदि की प्रतीति होती है। सौन्दय-शास्त्र इन तत्वो के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है।

(ङ) सौन्दय के अतिरिक्त एक और अनुभव है जो वस्तुत इसी की विकसित उच्च भूमि है। इसका नाम 'उदात्त' है। हमारी आनन्द-चेतना साधारण भोगेच्छा से भिन्न है, क्योकि हमारे साधारण सुख दुख इसे नही छू पाते। परन्तु हम सुख-दुख के अनुभवो से तटस्थ भी नही हो सकते। 'सुन्दर' के अनुभव मे 'सुख' का पर्याप्त अश रहता है। परन्तु विशेष अवस्थाओ मे हमे 'दुख' से भी 'आनन्द' का अनुभव होता है। दुख से 'आनन्द' की अनुभूति का नाम 'उदात्त' होता है। प्रस्तुत निबन्ध मे हमने 'सुन्दर' और 'उदात्त' भावनाओ के विश्लेषण के लिये स्थान दिया है।

(च) विधाता की सुन्दर सृष्टि के अतिरिक्त मनुष्य ने भी 'सुन्दर वस्तुओ का सृजन किया है। मनुष्य की ये सुन्दर सृष्टिया जो रस के पुलकित स्रोत की भाँति हैं सगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, भवन, काव्य आदि अनेक कलाओ के रूप मे विद्यमान हैं। कला-सम्बन्धी अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर सौन्दय-शास्त्र देता है। वैसे तो कला-शास्त्र भिन्न ही होता है, परन्तु कला मे सौन्दय का प्रश्न, भिन्न-भिन्न कलाओ मे इसके अनुभव का स्वरूप आदि निश्चय करना, इसी शास्त्र का काम है।

प्रस्तुत निबन्ध की सीमाएँ उपयुक्त दिग्दशन से निश्चित की गई हैं। हम इसकी सहायता से सौन्दर्य शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र और विस्तार का अनुमान कर सकते हैं। सौन्दर्य शास्त्र (एक विशेष दृष्टिकोण से जिसे 'शास्त्रीय' कहा जा सकता है) मानवीय चेतना के उस अश का विधिवत अध्ययन करता है, उसके विश्लेषण, विकास, सृजन आस्वादन सम्बधी प्रश्नो पर विचार करता है, जिस अश को हम 'आनन्द' ('रस'), 'आह्लाद की अनुभूति कहते हैं और जो वस्तु के सौदय से उत्पन्न होता है।

(6)

इस शास्त्र के अध्ययन की क्या उपयोगिता है ?

वैसे तो किसी भी शास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता सामान्य-रूप से बुद्धि का प्रसाद है। शास्त्र के अध्ययन से हमारा ज्ञान और अनुभव सुव्यवस्थित और

सगठित हो जाता है। वस्तुओ का स्वभाव, उनकी सत्ता का स्वरूप, साथ ही अपना स्वरूप, समझ मे आने लगते हैं, तथा विश्व और इसका अनुभव कुछ सामान्य नियमो से बँधे हुए प्रतीत होने लगते हैं। इससे एक विचित्र मानसिक आह्लाद तो होता ही है, साथ ही, जीवन मे हमारा विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। इससे जीवन का आनन्द मिलता है। साथ ही, मनुष्य शास्त्र के अध्ययन से मननशील होता है, और, मननशीलता ही मनुष्यता का सार होने से, उसका जीवन गम्भीर, उसकी दृष्टि प्रसन्न, उसके काय विचारपूण, उसकी बुद्धि निभ्रान्ति और भावना पुष्ट और सन्तुलित हो जाती हैं। हमारे जीवन मे इससे अधिक सुख और क्या होगा ?

सौन्दर्य-शास्त्र की विशेष उपयोगिता भी है। सौन्दय के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ रहने से विश्व मे आनन्द की निधि हमसे तिरोहित रहती है। अनभिज्ञता के कारण ही हम अनेक दिव्य और सुन्दर वस्तुओ को छोड कर, वस्तुत असुन्दर वस्तुओ के पीछे लगे रहते हैं। सौन्दय चेतना के विकास के लिये इस शास्त्र का अध्ययन अतीव उपयोगी है। कला मे तो विशेष रूप से हमे साधारणतया सुन्दर और असुन्दर का भेद करना कठिन होता है। शास्त्र के अज्ञान से हमारे समय मे तो केवल पशु-प्रवृत्ति को तृप्ति देने वाले रागो, चित्रो और काव्यो के प्रचार से जन रुचि इतनी विकृत हो गई है कि इसके सुधार के बिना राष्ट्रीय पतन का भय है। लोक-रुचि को परिष्कृत और विकसित बनाने के लिये इस शास्त्र का अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है, क्योंकि सौन्दय शास्त्र ही हमे यह बताता है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तुत सुन्दर वस्तु आकषक, प्रिय और मनोमोहक होती है तथापि प्रत्येक आकर्षक, प्रिय और मनोमोहक वस्तु सुन्दर नही होती।

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

हम नही जानते कि जीवन मे सौन्दय चेतना का उदय किस समय हुआ सम्भवत जीवन के साथ ही जीव में आनन्द की भावना भी जागृत हुई। अथवा, आनन्द की भावना से ही जीवन का आविर्भाव हुआ। इस प्रश्न का निश्चित सुलझाव कठिन है और अनावश्यक भी। हम जड और चेतन के सन्धि-काल और जीव सृष्टि के धूमिल प्रभात का ठीक अनुमान नही कर सकते। इतना हम अवश्य जानते हैं कि बिना आनन्द और आशा के जीवन की कल्पना असम्भव है।

यहाँ हमारा मुख्य प्रश्न इस चेतना के उदय-विषयक नही, इसके विकास के सम्बन्ध में है। हमारे व्यक्तिगत जीवन मे सौन्दय चेतना का विकास होता है। शिशु की आँखो से देखे गये जगत का सौन्दर्य प्रौढ होते होते बदल जाता है। शिशु का अनुभव सरल और शुद्ध होता है। उसमे युवावस्था की वासना, किशोर के स्वप्न और वृद्ध की दार्शनिकता का मिश्रण नही होता। उसे भाति-भाँति के रगो, ध्वनियों, स्पर्शों आदि मे ही अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। जो वस्तु हमारे लिये साधारण प्रतीत होने लगती है, उसकी नवीनता ही उसके लिये आकर्षक होती है। हमारी सरल और साक्षात् अनुभूति का यह शिशु आनन्द सौन्दय-चेतना के विकास की प्रथम भूमि है। इसका मुख्य लक्षण वस्तु के प्रत्यक्ष गुणो का 'भोग' है।

अनुभव के व्यवस्थित होने पर केवल रगो और ध्वनियो के स्थान पर उनके विशिष्ट आकारो का भी साक्षात्कार होने लगता है। रगो के विशेष सस्थान, वस्तुओ की विशेष व्यवस्था, ध्वनियो का विशेष सयोजन, एक विशिष्ट आह्लाद को उत्पन्न करते हैं। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव मे आकार का यह आनन्द सौन्दर्य चेतना के विकास की दूसरी भूमि है। इसके अनन्तर, जीवन की जटिलता के साथ ही, वस्तु के गुणो और आकारो के अनुभव मे एक व्यञ्जकता का आविर्भाव होता है। प्रत्येक रग, रेखा, ध्वनि और उनके आकारो का एक आध्यात्मिक अथ निकलने लगता है। किसी रग से शीतलता, किसी से तेज, किसी से आश्चर्य तो किसी से गम्भीरता, किसी

इसी प्रकार सगीत की ध्वनि से प्रेम, वैराग्य, वीरता आदि का अनुभव होने लगता है। यह मनुष्य की पक्व और गम्भीर अवस्था का अनुभव है। वह आकाश मे जीवन की अनन्तता, बहती हुई जलधारा मे हृदय की तरलता लहलहाती दूर्वा मे भावनाओ का विश्राम और उनकी शीतलता, आदि की झाँकी पाकर प्रसन्न हो उठता है। यह हमारे सौदय-जीवन मे विकास की तृतीय भूमि मानी जा सकती है।

हमारी सौन्दर्य-अनुभूति केवल व्यक्तिगत ही नही होती, उसका एक सामूहिक रूप भी है। इतिहास मे जिस काल-विभाग का 'युग' कहा जाता है, उसमे भावना की एकता होती है। उस युग के लोगो का नैतिक दृष्टिकोण, उनका धार्मिक विश्वास तथा जीवन के प्रति भाव लगभग समान ही होते है, जिसके कारण समाज मे सामजस्य रहता है। एक युग मे सम्पूर्ण जन-समाज एक ही भावना के वायु-मण्डल मे श्वास लेता है, जिस कारण उसकी आशा और निराशा, उसके हृष और विषाद, उसके गान और क्रन्दन, साहित्य, कला, और जिस किसी प्रकार से मनुष्य जीवन के आन्तरिक अनुभवो को व्यक्त करता है इन सबमे प्रेरणा समान ही होती है। यथाथ मे मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना अपने युग की सामूहिक चेतना का अङ्ग ही होती है।

युग क्रान्ति के साथ जीवन और भावना मे भी क्रान्ति उत्पन्न होती है, अथवा, यो कहिये कि सामाजिक जीवन मे नवीन चेतना के उदय से नवीन युग का आह्वान होता है। आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो के बदल जाने से समाज की व्यवस्था, उसके नियम और अनुशासन, यहाँ तक कि हमारी भावना, विश्वास और जन रुचि सभी असगत-से प्रतीत होने लगते हैं। वह युग-सन्धि का समय होता है जब एक ओर पश्चिम मे अपनी लाल ज्वाल-मालाओ को लिये, क्रन्दन, आवेग और पीडा के साथ, एक युग अस्त होता दिखाई देता है, और, दूसरी ओर, क्षितिज मे, नवीन युग, अपनी प्रस्फुटित किरणो का आकषण लिये, उत्साह और उल्लास के साथ, उदय होता दृष्टि मे आता है। मनुष्य न जाने अब तक कितनी युग-क्रान्तियाँ देख चुका है। इन्ही क्रान्तियो की कहानी उसका इतिहास है।

प्रत्येक युग नवीन आदर्शों को लेकर आता है। इन्ही आदर्शों की स्वप्निल छाया मे समाज मे भी नवीन सौन्दय-चेतना का आविर्भाव होता है। अपने हृदय की इस गम्भीर और प्रिय अनुभूति को व्यक्त करने के लिये शब्द, ताल लय, रेखा-रग आदि अनेक साधनो द्वारा, प्रत्येक युग सुन्दर वस्तुओ की सृष्टि करता है। युग-परिवर्त्तन के साथ हमारी अभिरुचि मे भी परिवर्त्तन होता है, और, नवीन युग सौन्दर्य की नवीन

अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार आदिम काल से लेकर अब तक मनुष्य की कला-कृतियाँ, इधर-उधर बिखरे हुई मूर्तियो और भवनो के अवशेष, साहित्य और सगीत, इस चेतना के विकास की कहानी कहते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास इसी आध्यात्मिक चेतना के विकास की क्रमबद्ध कहानी है।

(2)

मनुष्य ने अपनी आदिम अवस्था मे किस सौन्दर्य का अनुभव किया ? इस प्रश्न का उत्तर हमारे इतिहास का प्रथम पृष्ठ है। हम इसके विषय मे कल्पना ही कर सकते है। यह हमारे इतिहास का शैशव काल और चेतना का प्रथम स्फुरण था। आदिम मनुष्य ने अपने आप को 'अन तता' से घिरा पाया होगा। उसके चारो ओर अछोर वन, उसके सम्मुख क्षितिज से भी उस पार तक फैला हुआ सागर, उसके ऊपर अनन्त अन्तरिक्ष का नीला आवरण। यद्यपि आज भी ये वस्तुएँ हमारे सम्मुख हैं, तथापि हमारा अनुभव नगरो तालाबो, छोटे छोटे बागीचो और उपवनो आदि से इतना पूण है कि इसमे 'असीम' की अनुभूति को कोई मुख्य स्थान प्राप्त नही। आदिम मनुष्य का दूसरा अनुभव 'स्वच्छ दता' का रहा होगा। अनुशासन, नियम और विधान के अनेक बन्धनो मे बँधा हुआ हमारा आज का जीवन इस अनुभव से लगभग अपरिचित सा है। आकाश मे उडता हुआ चालक और जलयान को समुद्र मे खेने वाला नाविक भी एक निश्चित माग और नियम का पालन करता है। वह भी 'स्वच्छन्दता' के अनुभव से अनभिज्ञ रहता है, साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या जो पद-पद पर माग के अनुशासन का पालन करने के लिए बाध्य होता है। आदिम मनुष्य ने अपने समय मे प्रचण्ड आँधियो के वेग को, स्वच्छन्द-गति नदो को, निर्बाध रूप से विचरने वाले वन-पशुओ को देखा होगा। उसके ससार मे माग और मर्यादा थे ही नही। ब धन का यह सवथा अभाव एक विशेष अनुभति उत्पन्न करता है, जो, यद्यपि वह आज हमसे दूर है, हमारी सौन्दय-अनुभूति के लिये आवश्यक है।

'असीम' और 'स्वच्छन्द' का अनुभव आदिम मनुष्य के जीवन का मुख्य अग रहा होगा। साथ ही, 'जीवन' का भी स्वय अनुभव उसने निकटतम होकर किया होगा। सभ्यता और सस्कृति, धर्म और नीति, अथ और राजनीति, आदि के आवरणो से मनुष्य जीवन की मूल प्रेरणाएँ आज कुछ तिरोहित और शिथिल सी हो गई है। आदिम अवस्था में प्रतिदिन भीषण झझा, अग्नि-काण्ड, शिखरो का आस्फालन, आदि भयकर प्राकृतिक घटनाओ का सामना होता होगा। आखेट मे जीवन और मृत्यु का नित्य निकट से दशन होता होगा। वस्तुत आदिम मनुष्य ने जीवन मे

तरलता, वेग, उसकी भीषणता और साथ ही जीवन का जीवन के लिये आह्लाद, उत्साह, वीरता, आशा और निराशा, तुमुल सघष और विश्राम, आदि का ज्वलन्त अनुभव किया होगा। जीवन की सरलता मे ये अनुभव स्पष्ट रहे होगे, और, हमारे आज के जटिल जीवन का दमन और चिन्ताओ का आवरण न होने से वास्तविक उल्लास और विषाद का अनुभव हुआ होगा।

जीवन मे, हर्ष से भी अधिक भय प्रेरक शक्ति है। आदिम जीवन मे 'भय' का प्रमुख स्थान है। चन्द्र और सूर्य ग्रहण के अवसरो पर, ज्वालामुखी के उद्‌गारो, भूकम्पो, बवडरो, अग्नि-काण्डो और पवतो के फटने पर उसका भय कितना तीव्र हुआ होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। सभ्यता के आदिकाल में ये प्राकृतिक घटनाएँ प्राय घटती रहती थी। इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन मे भी नित्य भय का अनुभव करना पडता होगा। आदिम मनुष्य ने भय से प्रेरित होकर ही सभ्यता की ओर पद रक्खा—यह मानना कठिन न होगा। यद्यपि साधारणतया भय उद्वेग उत्पन्न करने वाली भावना है तथापि आदिम जीवन मे अनिवायरूप से विद्यमान रहने के कारण सम्भवत यही भावना सुख और साहस का भी मूल बन गई होगी। आज भी हमारे सौन्दय के अनुभव मे, विशेष अवसरो पर, आतक का पर्याप्त अश रहता है, जैसे, ऊँचे पवत खण्ड, प्रपात, अतल गत्त, जल-प्रवाह आदि भयावह प्राकृतिक दृश्यो को देखने मे इनके आकर्षक का मूल इनमे भय उत्पादन करने की शक्ति है। भय का यह आकषण आदिम जीवन की एक मूल प्रेरणा थी।

हमने आदिम जीवन की व्यापक अनुभूतियो का उल्लेख किया है। ये उस युग की चेतना के मुख्य अग और आकषण थी। इस चेतना के कोई अवशिष्ट व्यक्त चिह्न तो हमे प्राप्त नही, किन्तु कही-कही गिरि गुहाओ मे गेरू से बने हुए उस समय से सम्बन्ध रखने वाले चित्र पाये जाते है जैसे वन्य वराह को भाले से छेदने के या किसी भयकर भैसे द्वारा पीछा किया जाने के दृश्य, गेरू की रेखाओ के माध्यम से अकित है। इन आदिम चित्रो मे रेखाएँ सरल हैं, किन्तु उनकी गति स्वच्छन्द है. उनमे चित्र-कला के नियमो की अवहेलना है। परन्तु इसी गति की स्वच्छन्दता से जीवन की तरलता और उसकी उद्दण्ड शक्ति प्रस्फुट हो उठी है। भय की भावना इन चित्रो का प्राण है। निश्चय ही, ये चित्र उस युग की सौन्दय-चेतना की सफल अभि-व्यक्तियाँ हैं।

उस युग की ही क्यो, आज भी सभ्यता के बोझ से विकल होकर हमारे जीवन की मूल-भावना अपने आदिम स्वरूप की ओर दौडती है जब इसकी गति सरल और

निर्बाध, किन्तु इसकी शक्ति अदम्य और उद्दण्ड थी। यद्यपि आज उस चेतना का उदय सम्भव नही रहा, तथापि उसके प्रति हमारा आकर्षण वैसा ही है। कला के द्वारा उस जीवन की अभिव्यक्ति का तो इस समय सफल होना सम्भव प्रतीत नही होता, किन्तु आज भी कला का आदर्श उसी चेतना को व्यक्त करना माना जाता है। आदिम मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना, और उसकी कला द्वारा अभिव्यक्ति हमारे वर्त्तमान जटिल युग के लिये तो अवश्य ही आदर्श होने चाहिए, जिससे हम जीवन की अनन्तता स्वच्छन्दता, सरलता और तरलता, गति और शक्ति, तथा इसकी प्रबल प्रेरणा का फिर से आस्वादन कर सकें।

(3)

आदिम अवस्था से लेकर मोहनजोदडो और हडप्पा की सभ्यता तक बहुत समय बीता होगा—ऐसा इतिहासकारो का अनुमान है। इसी अन्धकाल मे, हमारे देश मे पूर्व की ओर से कई जातियो ने प्रवेश किया और यहाँ के मूल निवासियो की सभ्यता मे एक नवीन धारा का सगम हुआ। एक नूतन वातावरण का उदय हुआ, जिसका महत्त्व सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से बहुत है, यद्यपि हमारा घटनात्मक इतिहास इस काल के विषय मे मौन है।

सौन्दर्य-शास्त्र का अनुमान है कि इस काल मे 'शिव-चेतना' का आविर्भाव हुआ जो मोहनजोदडो और आर्यों के काल तक व्यापक और पुष्ट होकर हमारी तत्कालीन सभ्यता, सस्कृति और धार्मिक भावना का अग बन चुकी थी। ये 'शिव' क्या हैं? वस्तुत यह शिव-तत्त्व हमारी आदिम-चेतना का जीवित प्रतीक है। हमने कहा है कि सभ्यता के उदय से पूर्व जब मनुष्य अपने स्वाभाविक रूप मे था, उसने 'असीम', 'स्वच्छन्द', 'तरल', 'सरल' और 'भयकर' जीवन का अनुभव किया। यह आदिम अनुभव ही 'शिव-चेतना' की मूल-भूमि है। इसी मे उत्पन्न होकर यह पुष्ट हुई और अपनी पुष्ट अवस्था मे यह चेतना साकार और सजीव होकर हमारे सम्मुख 'शिव' रूप मे उपस्थित हुई। हमने अपनी साकार चेतना को दिव्यता प्रदान की, उसकी उपासना प्रारम्भ की, उसके सारे इतिहास को कल्पना-शक्ति से उत्पन्न किया, और, आज तक भी हम उसी समूर्त्त और सजीव आदिम चेतना की उपासना के लिये शिव-मन्दिरो का निर्माण करते हैं। सत्य तो यह है कि यदि हम 'शिव' के इस रूप को नही समझते, तो हम अपनी वर्त्तमान सस्कृति की नीव से अनभिज्ञ ही हैं।

हम इस कल्पना से मोहनजोदडो की सभ्यता को स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। वहाँ पर पाई गई शिव-मूर्तियाँ, धातु की बनी हुई नर्त्तिकाओ की प्रतिमाएँ,

सिक्को पर खुदे हुए साँड, हिरण आदि के चित्र, ये सब शैव-सभ्यता के स्पष्ट चिन्ह हैं। सम्भव है पश्चिम की ओर से आई हुई जातियो के सम्पक से इसी समय 'शिव-चेतना' मे और भी अधिक विकास हुआ हो। उसके साथ शक्ति, त्रिशूल, वृषभ, डमरू, कपाल माला, ताण्डव-नृत्य, प्रलयकर तृतीय नेत्र, आदि वस्तुएँ, शिव चेतना को और भी स्पष्ट और सजीव बनाने के लिए जोड दी हो। कुछ भी हो, आय-सभ्यता के उदय से पूर्व, शिव की सदेह उपासना व्यापक हो चुकी होगी। ये शिव हमारे सरल, तरल, असीम स्वच्छन्द, किन्तु भयकर, आनन्द के जीवित प्रतीक हैं।

(4)

वैदिक जीवन मे जीवन के प्रति आनन्द और उत्साह की भावना है। परन्तु इसमे दिव्यता और आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। ऋग्वेद काल के देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि, एक ओर तो प्रकृति के दिव्य पदाथ हैं, किन्तु दूसरी ओर, ये आय-जीवन की ज्वलत अनुभूतियाँ हैं। ये उस काल की सौन्दर्य-चेतना के स्फुलिङ्ग है। 'सविता' को लीजिये वह केवल पूर्व मे उदय होकर पश्चिम मे अस्त होने वाला प्रकाश-पिण्ड ही नही है, वरन् वह 'वरेण्य भर्ग.' अथवा श्रेष्ठ तेज भी है जिसके ध्यान से मानव-बुद्धि को विशुद्ध प्रेरणा मिलती है। आर्य-सस्कृति की विराट्-कल्पना अपूर्व थी। विराट्-जीवन अथवा विश्व-जीवन मे पशु, मनुष्य, वनस्पति, पर्वत, सागर, वायु, सूय, चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र, सभी किसी दिव्य शक्ति की प्रेरणा से अपना अपना काम कर रहे हैं। वह दिव्य शक्ति जो चराचर की प्रेरक है और जो विराट्-जीवन को सभालती है ऋत' है। हम विराट् को सत्य भी कहते हैं। क्योकि उसकी सत्ता है। हमारे अनुभव का सारा जगत् 'सत्य' अथवा सत्ता तथा 'ऋत' अर्थात् उस सत्ता मे व्यवस्था, नियम और विधान, से बना हुआ है। ऋत और सत्य ही विश्व का स्वरूप है, यही हमारे अनुभव का भी स्वरूप है। इसका जन्म 'तप' से होता है। वैदिक साहित्य मे 'तप' शब्द का गम्भीर अर्थ है। तप से उत्पत्ति और सृजन होते है। वस्तुत तप का अर्थ सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्तियो को अन्तर्मुखी बनाना होता है। जीवन का स्वाभाविक प्रवाह बहिर्मुख है, किन्तु इस जीवन का मूल-स्रोत अन्तरात्मा है। सम्पूण प्रवृत्तियो को सजनात्मक शक्ति के इस केन्द्र की ओर ले जाने से नवीन सृष्टि होती है। अत तप से ही 'सत्य ऋत' रूप सम्पूर्ण विराट और अनुभव उत्पन्न होते हैं।

विराट्-जीवन के लिए ही सूर्य तपता और पवन चलता है। सभी प्राकृतिक

कार्य 'ऋत' शक्ति की प्रेरणा से उसी जीवन के पोषण और वृद्धि के लिए चलते रहते हैं। सारे विश्व मे कोई भी वस्तु अपने लिये नही है। प्रत्येक वस्तु उसी के लिए मानो अपने आपको 'समपण' कर रही है। विराट जीवन के लिए यह आत्म-समर्पण 'यज्ञ' है जिसमे वन, पवत पशु, मनुष्य और देवता सभी आहुति दे रहे हैं। मनुष्य का जीवन विराट् जीवन का अभिन्न अग है, उसी विराट्-यज्ञ की आहुति है। उसकी चेतना उसी विराट्-चेतना का अश है, उसकी श्वास विश्व-श्वास की एक उच्छ्वास है। मनुष्य जितना भी अपने आप को इस विराट्-जीवन से दूर करता है, उसका जीवन भी उतना ही क्षुद्र और दु खमय बन जाता है। जितना उसके साथ तादाम्य और एकता स्थापित करता है, उतना ही वह सुखी, बृहत् और व्यापक हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्द का अथ ही बृहत् और व्यापक है, मनुष्य का मूल-स्वरूप ब्रह्म है। इसी विराट् जीवन के साथ 'यज्ञ' द्वारा तादात्म्य प्राप्त करके वह 'ब्रह्मत्व' का अनुभव करता है।

वैदिक जीवन की व्यापकता ही उसका प्राण है। यह व्यापकता वस्तुओ को अलग, अलग करने अथवा विश्लेषण से प्राप्त नही होती, वरञ्च उनमे सामञ्जस्य उत्पन्न करने से मिलती है। हमारे इतिहास का रहस्य यही सामञ्जस्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति और शक्ति है। अनेक सस्कृतियाँ और सभ्यताए, अनेक भूषा और भाषाएँ, हमारे जीवन मे आज घुल-मिल गई हैं। सम्मिश्रण और सामञ्जस्य की एक प्रवृत्ति का मूल वैदिक जीवन की व्यापक दृष्टि ही है।

वैदिक जीवन की व्यापकता में सौन्दय और धम की भावनाएँ अलग, अलग नही रह सकती थी। किन्तु उस समय धम ने सौन्दर्य को गम्भीरता और आध्यात्मिकता प्रदान की, और, सौन्दय के अनुभव ने धम को केवल शुष्क आडम्बर ही न रहने दिया, उसे सरस और हृदय-ग्राह्य बना दिया। वेद को धार्मिक साहित्य अथवा काव्य साहित्य कहना उचित नही प्रतीत होता, क्योकि उसमे धम की गम्भीरता के साथ काव्य की सरसता का स्वाभाविक सम्मिश्रण है।

धार्मिक दृष्टि ने सौन्दय-चेतना को किस प्रकार प्रभावित किया ?

हमने अनुभूति के आनन्द को सौन्दय-चेतना कहा है। वह वस्तु सु दर होती है जिसके प्रत्यक्ष, कल्पना आदि अनुभव से आनन्द प्राप्त होता है। वैदिक काल की धार्मिक दृष्टि ने 'विराट्-जीवन' का अनुभव किया था। यह अनुभव ही उसमे परम आनन्द का मूल स्रोत था। विराट् मे ऋत और सत्य के कारण व्यापक व्यवस्था विद्यमान रहती है, जिससे प्रकृति की दिव्य शक्तियाँ, वन, पशु और मनुष्य, अपने-

अपने स्वभाव के अनुसार कार्य मे लगे रहते है। विराट् का प्रत्यक्ष चम-चक्षुओ से तो अनुभव सम्भव नही। इसके लिये दिव्य-चक्षु चाहिये। ये दिव्य-चक्षु वस्तुत हमारी आन्तरिक अनुभूति है। कल्पना और विचार के बल से, हमारे साधारण अनुभव के ऊपर, एक व्यापक, नवीन, अनन्त, अनादि विराट् अथवा ब्रह्म का अनुभव उत्पन्न होता है। इस अनुभव मे दु ख, शोक और भय के लिए स्थान नही, क्योकि जब तक व्यक्ति अपने आप को समष्टि-जीवन से अलग रख कर अपने क्षुद्र सुख-दु खो मे डूबा रहता है, तब तक उसका जीवन क्षुद्र, मृत्यु-भय से पीडित बना रहता है। ब्रह्म अथवा समष्टि-स्वरूप का अनुभव होने से, उसे आनन्द का सच्चा आस्वाद मिलता है। विराट जीवन का यह आन्तरिक अनुभव आनन्द का जनक होए के कारण अन्त सौन्दय कहा जा सकता है।

अन्त -सौन्दर्य की अनुभूति से हमारा सम्पूर्ण साधारण अनुभव भी बदल जाता है। यह दो प्रकार से होता ह, (1) हम प्रत्यक्ष अनुभव के परे, प्रत्येक साधारण वस्तु को विराट् के अश की भाँति देखने लगते हैं। इस दृष्टि से सूर्य केवल आग का तपता हुआ गोला ही नही रह जाता, वरन् वह सहस्र कर-धारी 'मत्य' और 'अमर्त्य को आदेश देने वाला सकल भुवनो को देखने वाला देव हो जाता है। चन्द्रमा सुधाकर, समुद्र वरुणालय, हिमालय देवतात्मा, इसके उत्तुग धवल शिखरो पर देवताओ का निवास, गगा ब्रह्म-द्रव आदि बन जाते है। यह अनुभूति केवल भ्रम ही नही है, यह वास्तविक है, क्योकि वैदिक काल की जिस धार्मिक दृष्टि का हमने उल्लेख किया है, उस दृष्टि से हमारा साधारण अनुभव रूपान्तरित हो जाता है और वह दृष्टि हमारी आन्तरिक, विश्वास-योग्य अनुभूति है। हम वस्तुत प्रत्येक वस्तु को ईश्वर-भावना अथवा विराट्-चेतना से ढक देते हैं। तब उस वस्तु मे, साधारण से भिन्न, एक नवीन, आध्यात्मिक और दिव्य आनन्द-मय रूप का उदय होता है। हमारे देश के कला-जीवन और सौन्दर्य की अनुभूति मे साधारण अनुभव का यह रूपान्तरण वैदिक काल से विद्यमान रहा है।

(2) हम साधारण अनुभव से परे वस्तु के दिव्य-रूप की झाकी पाना चाहते हैं। इससे वस्तु के 'पर' और 'अपर' दो रूप हो जाते हैं। इसीलिये हमारे सौन्दय के अनुभव मे अपर से पर रूप को देखने की चेष्टा रहती है। कला मे इस चेष्टा के कारण हम मूर्ति, रेखा, रगो और स्वरो द्वारा अमूर्त्त को मूर्त्त, निराकार को साकार, अमेय को मेय, बनाते है। हम प्रत्येक अनुभव मे उसी अरूप, अनन्त विराट् का दर्शन करते हैं, इसलिये व्यष्टि हमारे लिये हेय है, समष्टि ही सत्य है, सूर्य आदि का प्राकृतिक रूप नगण्य हैं, इसका दिव्य, आध्यात्मिक रूप ही परम सत्य है। रूप

के द्वारा अरूप की खोज मेय के द्वारा अमेय की झाँकी, सान्त और सादि के द्वारा अनन्त और अनादि का दर्शन, ये भारतीय कला जीवन और सौन्दर्य अनुभूति के अविकल अङ्ग बन गये हैं।

संक्षेप मे, वेद-काल की धार्मिक दृष्टि जीवन मे 'विराट्' की अनुभूति को उत्पन्न करती है। यह अनुभूति परम आनन्द देने वाली है, अतएव यह सौन्दर्य की अनुभूति है। सौन्दर्य की इस अनुभूति से हमारा साधारण अनुभव रूपान्तरित हो जाता है और प्रत्येक वस्तु मे दिव्यता और आध्यात्मिकता का आविर्भावता होता हैं। इतना ही नही, हम वस्तुओ का सौन्दर्य उनके 'पर' रूप खोजने लगते हैं। हमारी कलाओ मे रेखा और रगो द्वारा वस्तुओ के 'पर रूप की व्यञ्जना है, वस्तुओ के साधारण अनुभव के पीछे विराट् जीवन की झाकी है। भारतीय सौन्दर्य चेतना मे यह आध्यात्मिक दृष्टि वैदिक काल की देन है।

(5)

वैदिक काल से लेकर रामायण-काल तक बहुत समय बीत चुका था क्योकि अब सामूहिक-जीवन का केन्द्र प्रकृति के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप से हट कर मानव-जीवन की राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक समस्याए बन गया था। यदि हम आदिम मनुष्य की अनुभूति को 'प्राकृतिक सौन्दर्य', वैदिक युग की अनुभूति को 'दिव्य सौन्दर्य' कहे तो हम रामायण काल की अनुभूति को 'मानव सौन्दर्य' कह सकते हैं। रामायण का 'मनुष्य' प्रकृति का स्वच्छन्द भोगी तो नही है, न उसमे वेद-काल की गम्भीर आध्यात्मिक दृष्टि है, परन्तु वह अपने पूर्व के इतिहास से प्रभावित है। 'राम' उस काल की मानवता की समष्टि है। उस मानवता मे प्राकृतिक-भोग-भावना का आध्यात्मिक जीवन के साथ सम्मिश्रण है। परन्तु इस समय राजनैतिक परिस्थितियाँ जटिल हो गई है, सत्य और असत्य, प्रतिज्ञा हानि, कर्त्तव्य-पालन आदि के नैतिक प्रश्न उपस्थित हो गये हैं। रामायण की समस्या भोग भावना, आध्यात्मिक दृष्टिकोण और नैतिक तथा सामाजिक जटिलता मे सामञ्जस्य उत्पन्न करने की समस्या है। राम का जीवन इसी सामञ्जस्य को उत्पन्न करने का निरन्तर प्रयत्न है। हमारे देश के आध्यात्मिक जीवन मे इसीलिये राम के चरित्र का उच्च स्थान है। रामायण के 'मानव-सौन्दर्य, का रहस्य यही सफल सामञ्जस्य है।

रामायण मे सघर्ष दो प्रकार का है। पहला, राम और रावण का, जो वस्तुत जीवन के सामञ्जस्य और केवल अनियन्त्रित भोग भावना का सघर्ष है। रावण उस भोग-इच्छा का प्रतीक है, जो नीति, धर्म, पाप-पुण्य, आदि के विधान मे

नही रहना चाहती। राम मे जीवन के विविध अगो का सामञ्जस्य है। परन्तु दूसरा सघर्ष राम के स्वय व्यक्तित्व मे है। यह सघर्ष भोग और भाग्य का सघर्ष है, जिसका मूल-रूप रामायण की क्रौञ्च कथा मे व्यक्त किया गया है। क्रौञ्ची और क्रौञ्ची का वन मे स्वच्छन्द विहार भाग्य को कहाँ भाता है? व्याध ने शर-प्रहार से उनके सुख का का अन्त कर दिया। सूक्ष्म-दृष्टि ऋषि वाल्मीकि ने जब यह देखा तो इस घटना मे उन्हे सम्पूण मानव-जीवन का रहस्य मिल गया। उनका कोमल हृदय शोक से छट-पटा उठा और उनकी कवि-प्रतिभा जीवन के इस करुण रहस्य के उद्घाटन के लिये उद्बुद्ध हो उठी। उनका शोक श्लोक बन कर व्यक्त हुआ। वस्तुत सौन्दर्य के अनुभव मे 'शोक' को इतना महत्व देना ही वाल्मीकि का महत्त्व है।

रामायण के 'मानव-सौन्दर्य' का सार यह 'शोक' है। केवल अनियन्त्रित भोग और आनन्द से सौन्दर्य-चेतना जाग्रत नही होती। 'शोक' की पुट के बिना आनन्द का स्तर नीचा रहता है। शोक आनन्द को उदात्त, तीव्र और स्पष्ट बनाता है। मनुष्य जिसे 'सुन्दर' कहता है, उसके भोग मे भाग्य का शर विधा हुआ है, उसके सयोग मे वियोग का निरन्तर भय विद्यमान है। रामायण के 'शोक' को कत्तव्य, सत्य आदि की नैतिक भावना ने और भी उदात्त बना दिया है। यह शोक रोना-धोना नही है। राम अपने जीवन के सम्पूण धैर्य के साथ, अपने नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि-कोण को न त्याग कर, नियति के विधानो का सामना करते हैं। इस सघष से साम-ञ्जस्य उत्पन्न होता है। सामञ्जस्य के कारण राम की करुणा साधारण न रहकर अद्भुत सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति को उत्पन्न करती है। आनन्द की अनुभूति मे राम का 'उदात्त शोक' उसका तत्त्व है, और सौन्दय मे 'करुणा' को उचित स्थान देना रामायण का महत्त्व है।

(6)

महाभारत-काल की सौन्दर्य-भावना मे कई धाराएँ बहती हैं। (क) आदिम काल की स्वच्छन्द भोगेच्छा—किन्तु यह जीवन की जटिलता मे इतनी उलझ गई है कि इसका स्पष्ट रूप कही-कही ही दृष्टिगत होता है। (ख) नियति और मर्यादा तथा देवताओ का प्रसाद और कोप भी मनुष्य की स्वच्छन्द गति का विरोध करते हैं। (ग) वैदिक काल की विराट्-दृष्टि ने भोग और मर्यादा के क्रूर सघष को, रामायण की भाति, करुणा से आप्लावित न करके, वीरता और वैराग्य से मिश्रित कर दिया है। इन तीनो धाराओ के सगम से इस काल का बृहत् सौन्दर्य-प्रवाह बना है। इनकी समष्टि और सामञ्जस्य श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व मे विद्यमान है।

महाभारत मानसिक जगत् की एक घटना है। यह सघष है जिसमे एक ओर कौरव दल के रूप मे प्राकृतिक बल, भोग की अनन्त लालसा और ऐश्वय का मद है। दूसरी ओर यह सब है, किन्तु साथ ही, नीति, धम और मर्यादा का बन्धन है, जिसके कारण पाण्डव सदा भटकते रहे। इस ब धन को बिना शिथिल किये हुए आत्मा को वीर बनाने वाला, जीवन मे विराट्-दृष्टिकोण है। महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व कृष्ण ने गीता के उपदेश के रूप मे इसी दिव्य-दृष्टि के द्वारा अर्जुन को जीवन का विराट स्वरूप दिखाया। हमारा जीवन काल के अनन्त अनादि और अगाध स्रोत मे एक छोटा सा प्रवाह है। इसको स्रोत से अलग करने मे यह अत्यन्त क्षुद्र हो जाता है। पर तु अनन्त स्रोत से मिल जाने पर वह स्वय अनन्त हो जायगा। जीवन की इस अनन्त और सनातन धारा मे सहस्रो सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि बहते दिखाई देगे। अर्जुन जिन वीरो से भयभीत था और जो अपनी वीरता का उसे मद था, वे सब और स्वय भी काल की दाढो मे उलझे हुए दिखाई पडे। हमारी मानव-दृष्टि जो बहुत दूर आगे पीछे नही जाती, विराट के इस सनातन और भव्य रूप को देख कर भयभीत हो जाती है। यदि हमे अर्जुन की भाति दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाये तो हमारे व्यक्तिगत सुख और दु ख, जय और पराजय, पुण्य और पाप स्नेह और द्रोह, हमारा स्वय जन्म और मृत्यु, यहाँ तक की सृष्टि और प्रलय, सभी अनन्त प्रवाह की क्षुद्र तरङ्गो की भाति प्रतीत होने लगें। जीवन मे विराट-दृष्टि से मोह दूर हो जाता है, आँखें उज्वल और तेजयुक्त, गति मे वीरता और हृदय मे एक अद्भुत प्रसाद का आविर्भाव होता है। व्यास ने हृदय के इस गम्भीर अनुभव को 'शान्ति' कहा है। जिस प्रकार रामायण मे सघष के अनन्तर सामञ्जस्य से 'करुण' अथवा 'उदात्त शोक' की प्रतीति होती है, उसी प्रकार महाभारत मे जीवन के जटिल सघर्ष से श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व मे जो सामञ्जस्य उत्पन्न होता है, उससे 'शान्ति' अथवा 'शान्त-रस' की अनुभूति का ज म होता है।

'शा त-रस' हमारी सौन्दर्य-चेतना का अश है। इसी रस की अनुभूति के लिये, मुनि, स यासी और सन्त विशाल पवत-शिखरो और वनो मे रहते थे, जिससे सत्ता की अनन्तता मे उनका लघु जीवन घुल-मिल जाये। यद्यपि श्रीकृष्ण ने जिस 'शान्ति' के अनुभव का उपदेश दिया है, वह सन्यासियो की काषायग्रहण से उत्पन्न शान्ति नही है, तथापि उसमे सन्यासियो की त्याग भावना निर्मोह-दृष्टि और मन प्रसाद विद्यमान है। जीवन की अनन्तता की उत्कट अनुभूति तो सासारिक जीवन मे सघर्षों से घिरे रह कर ही होती है। विराट-जीवन मे व्यक्ति का जीवन लघु तरङ्ग, विराट्-यज्ञ की एक आहुति अथवा विशाल सत्ता के अनन्त दिशाओ मे बिखरी हुई जडो,

शाखाओ वाले अश्वत्थ वृक्ष का एक छोटा पल्लव है। गीता के अनुसार सघष से सामञ्जस्य और सामञ्जस्य से इस 'शान्ति' कहलाने वाले अनुभव का जन्म होता है। सम्पूर्ण महाभारत ग्रन्थ अनेको कथानक और प्रसगो द्वारा इसी '**सघष से सामञ्जस्य—सामञ्जस्य से शान्ति**' के आविर्भाव की गाथा है।

(7)

महाभारतकार ने, अपने युग की नवीन परिस्थिति मे, वैदिक काल की विराट-दृष्टि को लाने का प्रयत्न किया था। युद्ध के भयकर जन-कदन का शोक ज्यो ही उपराम होने लगा, सामूहिक जीवन मे, नवीन दाशनिक दृष्टि से, अवश्य ही निर्मलता का आविर्भाव हुआ। निमल और स्वच्छन्द आनन्द की भावना जगी। यज्ञो का प्रचार और विस्तार होने लगा। शक्तिशाली राष्ट्रो की स्थापना हुई, और कला और साहित्य के सृजन के लिये उत्साह और प्रेरणा मिली। प्राचीनतम पुराण, सूत्र-ग्रन्थ, दर्शनो के प्रस्थान-ग्रन्थ, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त, आयुर्वेद आदि शास्त्र, इसके अतिरिक्त नाट्य-शास्त्र, कुछ नाटक और काव्य, आदि साहित्य का निर्माण हुआ। महाभारत का यह उत्तर-काल अत्यन्त उवर काल रहा है। इस समय की सामूहिक चेतना मे आदिम काल से लेकर उस समय तक की सारी प्रवृत्तियाँ आकर मिल गई हैं। अत जीवन व्यापक, सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुख हो गया है। इस समय के शान्त वातावरण मे साहित्य, कला और दशन न केवल अकुरित हुए, वे पुष्ट और विकसित भी हुए।

हमे इस युग के साहि य, कला और दशन ग्र थो के अतिरिक्त मूर्ति, भित्ति-चित्र आदि के रूप, मे कुछ नही मिलना। इन ग्रन्थो के और फिर ईसापूर्व चतुथ तृतीय शताब्दी के कला अवशेषो के आधार पर इस युग की सौ दय-चेतना के विषय मे हम अनुमान कर सकते है। भारत का नाट्य शास्त्र, जिसमे नाटक, नाट्य, नृत्य, सगीत, रस, विभाव, अनुभाव आदि का साङ्गोपाङ्ग वणन मिलता है, अवश्य ही कई शताब्दियो की विचार-धारा का सम वय और समष्टि है। पुराणो मे दिव्य-लोको की विभूतियो का वणन है। नाटको मे भित्ति चित्र, चित्र-पट आदि का उल्लेख है, अलङ्कार और वस्त्र भूषा आदि का वणन है। दशन साहित्य और निरुक्त तथा व्याकरण-शास्त्र मे जीवन के आध्यात्मिक आदर्शों, और विभूतियो पर गम्भीर विचार किया गया है। इससे महाभारत के उत्तर-काल की सामूहिक और सृजन के लिये उत्सुक चेतना तथा उर्वर प्रतिभा का स्पष्ट पता लगता है।

जीवन इस समय इतना विस्तृत और गम्भीर हो गया है कि इसमे कई

धाराएँ और कई स्तर दिखाई पड़ते हैं। एक ओर शास्त्रीय यज्ञो का जीवन हैं, दूसरी ओर दर्शनो पर गम्भीर विचार किया जा रहा है, जिससे वैराग्य की भावना अङ्कुरित होती है, तीसरी दिशा आनन्द और भोग की है, जिसमे सङ्गीत, नृत्य, मूर्ति कला, वास्तु-कला आदि का सृजन और इससे सम्बन्ध रखने वाली समस्याओ पर मनन हो रहा है। चौथी ओर महत्त्वपूर्ण दिशा जनता के साधारण जीवन की है, जिसमे दर्शन की गम्भीरता और शास्त्रो की उलझन तथा राज दरबारो मे पली हुई कला का विलास तो नही है, किन्तु धम और नीति की मर्यादा है, साथ ही, कला की सरसता और जीनव मे अमित आनन्द की उत्कट कामना है। इन चारो दिशाओ मे विस्तार और विकास के लिये जीवन को अनन्त अवकाश मिल गया है जिसके फलस्वरूप ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी मे साची, भारहूत तथा अन्य कई स्थानो मे पाये गये यक्ष और यक्षणियो की मूर्तियाँ आदि उस समय की कला के प्रतिनिधि स्वरूप हमे प्राप्त हुए हैं। ये उत्तर-मौर्य काल की सौन्दय-भावना के प्रस्तर-खण्डो मे अंकित अमर प्रतीक हैं।

(8)

प्रत्येक युग चूडान्त पर पहुँचने से पूर्व ही अपनी विरोधी प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कर देता है।

हम यह तो निश्चय पूर्वक नही जानते कि हमारा उपलब्ध दर्शन साहित्य बौद्ध-धम के आविर्भाव से पूव या पश्चात् का है। इतना अवश्य है कि इस साहित्य के प्रस्थान अथवा सूत्र-ग्रन्थो से पूर्व कई शताब्दियो तक दार्शनिक विषयो पर विस्तृत-रूप से विचार चलता रहा होगा, और, इस प्रकार की विचार शैली के विकास के लिये अनुकूल वातावरण मिला होगा। सम्भवत महाभारत के उत्तर कालीन भारत मे वनो और उपवनो मे, तपो भूमि, तीर्थ-स्थान, सिद्ध-स्थल थे, जहाँ दार्शनिक ज्ञान की चर्चा चलती होगी जिनमे जीवन, ससार, आत्मा, परमात्मा आदि गूढ विषयो पर अनुशीलन चलता होगा। जीवन के रहस्य को समझने के लिये शान्ति की इच्छा से जिज्ञासु, भक्त और साधुओ का समुदाय वहा एकत्र रहता होगा। गौतम भी इन्ही अनेक स्थलो मे शान्ति के लिये गये। किन्तु वहाँ उन्हें दशन की गूढता और तर्क की नीरसता ही मिली, जिससे जीवन की समस्याएँ सुलझने के स्थान पर और भी उलझ जाती हैं। गौतम की पहली प्रतिक्रिया इसी शुष्क और निणय-शून्य दार्शनिक शैली का विरोध था।

यज्ञो का प्रारम्भिक रूप जो आध्यात्मिक था समाप्त हो चुका था, अब

केवल द्रव्य-यज्ञ ही शेष रहा था, जिसका एक मात्र लक्ष्य इस लोक और परलोक मे सुख, अनन्त सुख-भोग था। यज्ञ केवल अतृप्त आकाक्षाओ का साधन और निदय हिंसा, बलिदान का स्थान बन चुका था। यह भारत के ऐश्वय और भोग का काल था, जिस समय गौतम का जन्म हुआ। उन्होने सुख भोग की लालसा के प्रति घृणा की, क्योकि इससे जीवन के मूल प्रश्नो का कोई सुलझाव नही होता, और, साथ ही हिंसा-पूण यज्ञ-पद्धति का विरोध किया। इसके स्थान पर गौतम ने 'बुद्ध' हो जाने के अनन्तर ससार के प्रति वैराग्य और करुणा का उपदेश दिया।

बुद्ध का मूल उपदेश केवल इतना ही था कि ससार दु खमय है, इस दु ख का कारण अवश्य है, इस दु ख का निर्मूलन होना चाहिये और इसका निर्मूलन होना सम्भव है। सब दर्शनो की उलझन के स्थान पर सीधा, समझने योग्य यह उपदेश था। इस दु ख का कारण हमारी वासनाए हैं, वैराग्य द्वारा इनका मूलोच्छेद किया जा सकता है। ममता से वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। ममता के त्याग से स्वार्थ दूर होता है, और हृदय मे कोमलता, विशालता और करुणा के उदय से अनन्त शान्ति की अनुभूति होती है। बौद्ध-धर्म मे 'सुख' और 'सरसता' के लिये स्थान न था। जीवन वासना-शून्य होना चाहिये। परन्तु यदि जीवन स्वय ही अमिट वासना है, तो इस शून्यता—अनन्त शून्यता—की अनुभूति ही साधना का लक्ष्य है।

एक ओर चेतना की वह धारा, जिसका उदगम महाभारत के उदात्त आदशो से हुआ था, अनेक स्रोतो और प्रवाहो को लेकर बह रही थी। इसमे दर्शन की गम्भीर दृष्टि, वेद की व्यापकता, आदिम काल की स्वच्छन्द आनन्द-भावना, यज्ञो के प्रसार से अनेक दिव्य लोको और भोगों की कल्पना, नृत्य, सगीत, काव्य के विकास से रस की अनुभूति, आदि सभी विद्यमान थे। जीवन की सहस्र-धारा जाह्नवी मे, दूसरी ओर से, बुद्ध की वैराग्यमयी करुणा, शान्ति और शून्यता का 'सगम' हुआ। 'सगम' इसलिये कि यह शून्यता और शान्ति जीवन के प्रवाह मे बहुत काल तक अलग न रह सकी। फलत इस शून्यता मे सरस भावो का आविर्भाव होने लगा। बुद्ध के जीवन के विषय मे सरस कल्पनाए की गई। उनके जीवन के चित्रण के लिये रग और तूलिका, शिला-खण्ड और टाँकी का प्रयोग किया गया। उस विरागी के वैराग्यमय जीवन को व्यक्त करने के लिये पहाडो, गिरि-गुहाओ को खोद कर अनन्त धन और अथक परिश्रम द्वारा मन्दिरो और भित्ति चित्रो का आयोजन किया गया। वस्तुत बुद्ध ने जीवन के लिए शून्यता-रूप नवीन आदश उपस्थित किया, किन्तु उसकी तरल धारा ने उस शून्यता को रस, आनन्द और सौन्दर्य के वैभव से भर दिया।

जीवन की इस बहुमुखी धारा की अभिव्यक्ति 'मथुरा की कला' मे हुई है। अजन्ता की चित्रकारी का प्रारम्भ इसी युग की सौन्दय-चेतना को रग और रूप देने के लिये हुआ। जीवन के बहुमुखी विकास और वैभव से अवश्य ही आनन्द की प्रखर अनुभूति उत्पन्न हुई होगी, उल्लास और उत्साह उमडा होगा, क्योकि इनके विना पहाडो को खोद कर स्तम्भो, प्रकोष्ठो और मन्दिरो का निर्माण करना, रेखाओ और रगो से ओज, ऐश्वर्य, अनन्त करुणा, वैराग्य, आन द आदि का व्यक्त करना, पत्थर की बुद्ध मूर्तियो मे टाँकी के बल से आध्यात्मिक चेतना और उदात्त जीवन का जागृत कर देना, सम्भव नही था। आश्चय नही कि यह चेतना यही तक सीमित न रह सकी, और, ब्रह्मा, शाम, कम्बोडिया, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन आदि देशो मे स्तूपो मन्दिरो और मूर्तियो मे अभिव्यक्त हुई।

(9)

बौद्ध-धर्म ने जिस नवीन चेतना को ज म दिया, वह हमारे सामूहिक जीवन की पुरातन और गम्भीर धारा में घुल-मिल गई। इसका तिरोभाव अथवा पतन नहीं हुआ, किन्तु रूपान्तरण अथवा सश्लेषण हुआ। इसके फलस्वरूप बुद्ध धम की शू यता मे निराकार ब्रह्म की स्थापना की गई, निर्वाण का स्थान मोक्ष ने लिया, वैराग्य और सन्यास का स्थान वैसा ही रहा। इस प्रकार, एक ओर, शकराचाय के अद्वैतवाद का बीजारोपण हुआ। दूसरी ओर, इसी शून्यता मे सरसता का सचार हुआ, बुद्ध के 'जातक' ग्रन्थो के साथ ही अवतारवाद ने जन्म लिया, दिव्य लोको और भोगो की कल्पना प्रारम्भ हुई, पुराणो की रचना से मनोरम भावो के प्रतीक विष्णु, राम, कृष्ण आदि की लीलाओ का प्रचार हुआ। देश के वैभव-सम्पन्न और शान्त वातावरण मे कला, साहित्य, काव्य, दर्शन और शास्त्रो का सृजन हुआ। यह भारतवर्ष मे गुप्तकाल था। यह स्वर्णयुग था, क्योकि देश की आनन्द चेतना और उर्वर प्रतिभा ने अपने चरम विकास पर पहुँच कर अजन्ता, सारनाथ, मथुरा, यहाँ तक कि देशान्तरो मे, मध्य एशिया से लेकर लका तक और फारस से लेकर चीन तक, मूर्तियो और चित्रो की सृष्टि की। गुप्त-काल की मूर्तियो और चित्रो मे मथुरा-कला की अपेक्षा यह विशेषता थी कि रेखा की स्वच्छन्द गति, ओज और उल्लास का स्थान सयम, रूप की कोमल सरसता और गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति ने ले लिया था। शक्ति से अधिक भावना के परिपाक का सम्मान था। इस काल की बुद्ध-मूर्तियो और गुहा-चित्रो मे शान्ति, ध्यान-मुद्रा, करुणा आत्म-विजय का आनन्द, वैराग्य आदि आध्यात्मिक वैभव का परिपक्व रूप मे अकन हुआ है। इसके सु दर

उदाहरण अजन्ता के चित्रो मे 'अवलोकितेश्वर पद्मपाणि' का चित्र और सारनाथ की बुद्ध मूर्तियाँ हैं।

अपने चूडान्त विकास को पहुँच कर गुप्त युग की पल्लवित और पुष्पित आनन्द-चेतना शाखाओ मे विभक्त होने लगी। कई धाराओ के मिश्रण से यह पुष्ट हुई थी, इसी पुष्टि के फलस्वरूप इसका भिन्न-भिन्न पहलुओ मे विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। धार्मिक-भावना और आनन्द भावना मे अन्तर उत्पन्न हुआ, जिससे, एक ओर, मन्दिरो और मूर्तियो, अवतार और जातक के कथानको का अकन हुआ, और, दूसरी ओर, केवल सौन्दर्य के आस्वादन के लिये, सुन्दरी और उनकी लीला और विलासो का ललित कला के रूप मे सृजन हुआ। यद्यपि धार्मिक कला और ललित कला का यह भेद मौर्य काल मे ही प्रारम्भ हो चुका था, तथापि ईसा की सातवी-आठवी शताब्दी मे यह स्पष्ट हो गया। इन दोनो धाराओ का विकास भिन्न-भिन्न मार्गों मे ही हुआ। धार्मिक कला मे मन्दिरो, मूर्तियो का निर्माण और चित्रण प्रधान था। भाँति-भाँति के देवताओ, अवतारो, दिव्य पुरुषो के मान और माप, उनकी मुद्रा और ध्यान-मन्त्र, देवताओ के वाहन, उनकी पत्नियो और विभूतियो, इत्यादि का आविष्कार किया गया। इन विषयो पर अनेक ग्रन्थो की रचना की गई। मध्यकाल के उदय होते-होते वराह भगवान् सूय, नन्दीश्वर सरस्वती, लक्ष्मी आदि की अनगिनत मूर्तियों से सारा देश परिपूण हो गया। वैष्णव, शैव और शाक्त शाखाएँ भी कला के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुईं, जिसके फलस्वरूप उत्तर मे विष्णु, और वैष्णव-धर्म की मूर्तियाँ और मन्दिर बनें, दक्षिण मे शिव-मूर्तियो और शैव मन्दिरो का निर्माण हुआ, पूर्व के प्रान्तो मे शाक्त मन्दिरो और मूर्तियो का सृजन हुआ। मान-ग्रन्थ लिखे गये। एलोरा, एलीफेन्टा के मन्दिर, नटराज की धातु-मूर्तियाँ, जगन्नाथ, द्वारिका, सोमनाथ आदि का आविर्भाव इसी धार्मिक-कला के विकास के सम्बध मे हुआ।

ललित-कला भी धार्मिक कला से पीछे न रही। नायक और नायिकाओ के अनगित भेद हुए, उनके लीला विलासो, पक्षी और पशुओ के साथ क्रीडा, स्नान, विहार, प्रेम-पत्र आदि लिखना, और, इसी प्रकार जीवन के सभी आनन्द-पूर्ण अवसरो का चित्रण और अकन हुआ। भुवनेश्वर, खजुराहो आदि की कला ललित-कला के विकास के नमूने हैं। कला का शास्त्रीय रूप भी स्पष्ट होने लगा तथा अनेक शिल्प और मुद्रा ग्रन्थो की रचना हुई।

कला और सौन्दर्य के शास्त्रीय रूप की समालोचना का प्रारम्भ भरत मुनि से पूर्व हो चुका था, क्योकि इनके नाटय-शास्त्र मे यह पर्याप्त विकास को

पहुँची हुई प्रतीत होती है। भरत के अनन्तर (ईसा पूर्व पहली शताब्दी) रस के स्वरूप के ऊपर विचार मे प्रगति हुई, सगीत, चित्र और मूर्तियो मे रस की अभिव्यजना के लिये प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। भरत ने सौन्दर्य चेतना के अध्ययन के लिए जिस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार किया, उससे 'रस' की अनुभूति का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। सम्भवत विज्ञान की विश्लेषणात्मक पद्धति का यह प्रयोग इस विषय के अध्ययन के लिए प्रथम ही था। प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, सचारी भाव, उसके स्थायी भाव, शरीरादि के अग प्रत्यग से प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के प्रकार, सात्विक भाव, आदि मन के सभी स्तरो और सभी दिशाओ का अवगाहन किया गया। इस विचार-प्रणाली के निष्कर्षों का उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ इतना पर्याप्त है कि इस समय भरत का 'रस-सूत्र पडित-मण्डल मे व्याप्त हो गया था, जिसके प्रयत्नो से सौंदर्य सम्बधी अनेक प्रश्नो पर गम्भीर विचार उपस्थित हुआ।

आठवी शताब्दी का सबसे महत्त्वपूण आविष्कार 'ध्वनि' है। वस्तुत सौन्दय आस्वादन मे रस का स्थान तो है ही, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति इस कौशल के साथ होनी चाहिये कि हमारे मन और बुद्धि मे आनन्दमयी क्रिया उत्पन्न हो। वह पिहित (ढका हुआ) भी हो किन्तु, घटा बजाने के पश्चात् जिस प्रकार वह देर तक अनुरणन और स्पन्दन करता है, उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी रस की अनुभूति से देर तक अनुरणन करता रहे। रसानुभूति मे आनन्द को उत्पन्न करने वाला तत्त्व 'चमत्कार' कहलाया, और, रसाभिव्यक्ति का यह प्रकार 'ध्वनि' माना गया।

ध्वनि के आविष्कार के अनन्तर विचार दो शाखाओ मे विभक्त हो गया। एक ओर रस-प्रधान और दूसरी ओर ध्वनि-प्रधान शास्त्रो का निर्माण हुआ। इसका प्रभाव कला पर पडा। रस-प्रधान कला मे भाति भाँति से रसो का साक्षात्कार कराने का प्रयत्न किया गया। इनमे श्रृङ्गार रस को प्रधानता मिली, और, श्रृङ्गार के प्रतीक 'राधा-कृष्ण' का कला मे जम हुआ। 'श्रृङ्गार-तत्त्व' की गवेषणा की गई और काम-तत्त्व के साथ इसकी एकात्मता स्वीकार हुई। बारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे जब कला को जन्म देने वाली प्रतिभा और प्रेरणा निर्बल हुई, तब इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ ऐसे साहित्य, चित्र और मूर्तियो का निर्माण हुआ जिनमे श्रृङ्गार के स्थान पर कुरुचि और वासना की गध आती है। उधर, ध्वनि प्रधान विचार-धारा मे सहानुभूति के प्रकार को समझने के लिए 'वक्रोक्ति',

काव्यानुमिति' आदि का आविष्कार हुआ। कला मे इसका प्रभाव मूर्तियो, चित्रो और मन्दिरो के निर्माण मे गम्भीरता-लाने के लिये हुआ। प्रत्येक रूप रग और रेखा के स्पष्ट, साक्षात् अर्थ को छोडकर उनके ध्वन्यात्मक अथवा ध्वनित अर्थों का पता लगाया गया। फलत काव्य और कला मे गम्भीरता के स्थान पर गूढता और अस्पष्टता आ गई। तन्त्र-शास्त्रो का भी इसी समय प्रचार हुआ। चित्रो की भगिमा और मुद्राओ का तान्त्रिक अर्थ लगाया गया। इस प्रकार, बारहवी शताब्दि के साहित्य और कला-रचनाओ मे प्रसाद गुण नही है। वे क्लिष्ट और दुरूह कल्पनाओ से ढक सी गई हैं।

(10)

मध्यकालीन जीवन को समझने के लिये हमे एक नवीन प्रभाव का अध्ययन करना है, जो पहले यूनान और फिर इस्लाम के सम्पक से भारतवर्ष को मिला। वैसे तो हमारे जीवन की जाह्नवी मे अनेक दिशाओ से प्रभाव आकर मिले, परन्तु उनका ऐसा सजीव सश्लेषण हुआ कि वे सब मिल कर एक व्यापक चेतना के रूप मे ढल गये। यह यूनानी प्रभाव भारतवष मे सिकन्दर के साथ आया, और एक विशेष क्षेत्र में इसने कला को जन्म दिया जिसे हम 'गान्धार कला' कहते हैं। ईसा-पूर्व की पहली शताब्दि से लेकर दूसरी और तीसरी शताब्दी तक यह प्रभाव भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर कोने मे शक्तिशाली रहा, किन्तु इसके अनन्तर बौद्ध और हिन्दू धर्म के अभ्युत्थान से देश की मूल-चेतना जाग्रत हुई, जिसमे यह प्रभाव समाविष्ट न हो सका। इसलिए हम इसे 'विदेशी' प्रभाव कहेगे। कुछ समय बाद, इसी यूनानी प्रभाव का मुसलमानी सस्करण हुआ, और गौरी और गज़नवी के आक्रमणो के साथ, यह देश मे आया। इस समय परिस्थिति भिन्न थी, देश की मूल चेतना निर्बल और सृजन की शक्ति शिथिल हो चुकी थी, कारण सम्भवत राजनैतिक रहे हो, किन्तु इस अवस्था मे नवीन प्रभाव यहाँ आया और जम गया। इस उपजाऊ भूमि मे पडकर यह पुष्पित और पल्लवित हुआ। देश की सामूहिक चेतना मे इसकी धारा मिल गई, किन्तु कुछ कारणो से, जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे, यह हमारे जीवन का मूल-भावना के साथ एकात्मता न पा सकी। इसीलिये हमने इस प्रभाव को विदेशी कहा है।

प्राचीन यूनानी सभ्यता और सस्कृति दाशनिको, गणितज्ञो और साहित्यिको की सभ्यता और सस्कृति है। इसमे प्लेटो का आदर्शवाद, पाइथोगोरस का गणित और होमर की साहित्य-कला की त्रिवेणी है। प्लेटो ने एक आदश-लोक की कल्पना

की थी जो हमारे दैनिक जीवन से अस्पृष्ट तो है, परन्तु जिसमे हमारे अनुभूत लोक की वस्तुओ की आदश, अमर और स्थिर मूर्तिया विद्यमान है। उसमे आदर्श नर-नारियो, पशु पक्षी आदि सभी की अचल आकृतियाँ हैं। वस्तुत हमारे अनुभव का जगत् उसी आदश-लोक का प्रतिबिम्ब है। जीवन मे तरलता और विकास के साथ ही ग्लानि और ह्रास भी रहता है। इसलिये आदर्शों के लोक मे जीवन का विकार उत्पन्न करने वाला प्रभाव नही है। वहाँ स्थिरता और चिरन्तनता है। परन्तु वह चिरन्तन रूप पूर्ण है। हमारे अनुभव के नर-नारियो की आकृति मे दोष होते हैं। वहाँ निर्दोष, अचल और पूर्ण आकृतियाँ हैं। इन आकृतियो का विचार और मनन ही दार्शनिक आनन्द का ही मूल है।

गणित और विज्ञान के अध्ययन ने यूनान देश के जीवन मे नियम और अनुशासन की प्रियता को उत्पन्न किया। गणित मे कोमल, करुण आदि भावनाओ के लिए स्थान नही। वहाँ नियम का बधन और अनुशासन की कठोरता रहती है। गणितज्ञ का आनन्द, यदि हम इसे आनन्द कहें, आधारभूत कल्पनाओ से चल कर, प्रत्येक पद पर नियमानुसार, शुद्ध निष्कष तक पहुँच जाना है। नियम मे जडता, स्थिरता और आदश का अनुभव होता है। यूनान मे ज्यामिति के अध्ययन से वृत्त, रेखा और इनसे बनी हुई अनेक ज्यामितिक आकृतियो का आविष्कार हुआ। गणितज्ञ ने इन आकृतियो मे, स्त्री-पुरुषो की जीवित आकृतियो मे नही, एक अपूव सौन्दय का अनुभव किया।

यूनान का प्राचीन साहित्य 'देवताओ' का साहित्य है। ये देवता कोई आध्यात्मिक शक्तियाँ अथवा दिव्य व्यक्ति नही है। ये तो केवल मनुष्यता के पूर्ण और और निर्दोष उदाहरण हैं। उनमे मनुष्य के सभी भाव विद्यमान है, किन्तु उनमे आदर्श सौन्दर्य, ओज और वीरता है। इसीलिये मनुष्य उनसे भय मानता है और वर पाना चाहता है। यूनान देश ने अपोलो, डियाना, इत्यादि अनेक देवी देवताओ की कल्पना मे अपने जीवन की आनन्द और सौन्दर्य, आदर्श तथा अनुशासन, की भावना को भर दिया है।

सिकन्दर के आक्रमण का सास्कृतिक महत्त्व यूनानी विचार-धारा का न केवल भारतवष पर किन्तु सारे मध्य-पूर्व के देशो पर गम्भीर प्रभाव छा जाना है। यूनानी प्रभाव ने जिस सौन्दर्य के आदर्श को उपस्थित किया, उसके अनुसार गान्धार को केन्द्र बना कर कला सृजन प्रारम्भ हुआ। यह बुद्ध युग का प्रभात था। बुद्ध-मूर्तियों का निर्माण हुआ, किन्तु इनमे जीवन की तरलता का अकन न था, न

इनमे बुद्ध की कोमल करुणा, न आत्म विजय का उल्लास है। ये मूर्तियाँ यूनानी अनुशासन की कठोरता, नियम पालन की धीरता और 'चिरन्तन' और 'अचल' आदर्शों के ध्यान की गम्भीरता मे डूबी हुई प्रतीत होती है, मानो ये प्लेटो के आदर्श लोक से बातें कर रही है, अथवा ज्यामिति की आकृति के ध्यान मे निमग्न हैं। कनिष्क के काल मे गान्धार-कला का रूप और भी उज्वल हुआ और यूनानी सौन्दय-चेतना के आलोक से पत्थर की बुद्ध मूर्तियाँ चमक उठी।

यद्यपि भारतवष मे भारतीय मूल-चेतना के उदय से यूनानी प्रभाव समाप्त हो गया, फारस आदि मध्य-पूर्व देशो मे यूनानी साम्राज्य के साथ साथ यह प्रभाव भी जीवित रहा। इस्लाम के आविर्भाव ने उसमे 'एकता' और 'समानता' की भावना को और जोड दिया। इन भावो का धार्मिक महत्त्व जो भी हो, सौन्दय की दृष्टि से 'अनेको की एकता और उनमे समभाव' तो सौन्दर्य का प्राण है। धार्मिक मतान्धता तथा अन्य कारणो से अरबी धम के साथ कला का विकास तो नही हो सका, किन्तु इस्लाम की इन मूल धारणाओ का समस्त प्रभाव जब फारस की सरस भूमि पर पडा, और यूनानी प्रभाव से इसका सम्मिश्रण हुआ तो एक नवीन सौन्दर्य के आदश का जन्म हुआ। यह सौदर्य रेखा, वृत्त, ज्यामितिक आकृतियो का सौन्दर्य था। इनको मिलाकर 'एकता' और समानता' की भावना उत्पन्न करने से एक 'सुन्दर' आकृति का उदय होता है। भाँति भाँति के बको और रेखाओ के सयोजन से जिसमे विविधता के साथ समानता, 'अनेक' के साथ 'एक' का सामञ्जस्य विद्यमान हो, 'फारस की कला' का जन्म हुआ। यदि हम इसमे अरब देशो ने जिस विशालता और स्थिर जीवन का अनुभव किया था जिसके फलस्वरूप मिस्र के पिरामिडो का निर्माण हुआ, और जोड दें, तो यह पूणरूपेण 'मुसलमानी कला' का आदश हमे मिल जायगा। पत्थरो के विशाल स्मारक और मस्जिदें, गोल गुबदें और ऊँची मीनारें, जिनमे पत्थर की कटी जालियाँ, पच्चीकारी, मखमली कोमल फश, बाग और फव्वारे, किन्तु ये सब मिलकर 'एकता' के सूत्र मे ग्रथित—यह मुसलमानी कला की रूप रेखा है, जिसका प्रभाव, मुसलमानी शक्ति के साथ, इस देश मे आया और यहाँ आकर और भी समृद्ध और विकसित हो गया।

(11)

भारत मे मध्ययुग का प्रथम प्रहर आरम्भ हुआ। यह आतक, निराशा, पराजय और सघर्ष का समय था। इससे पूव ही गुप्त काल से आरम्भ होने वाली बहुमुखी जीवन की प्रेरणा शिथिल और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कुठित हो चली

थी। राजपूत राजाओं की विलास-प्रियता मे पड कर सौंदर्य-चेतना और उससे उत्पन्न होने वाली कला भी विलासिनी हो गइ थी। ऐसे समय मे जब धार्मिक-राजनैतिक जीवन पर मुसलमानी आक्रमण हुआ, तो राष्ट्र का ऐतिहासिक प्रवाह गम्भीर होकर अन्तस्तलो पर बहने लगा। सारा वायु-मण्डल रण नाद से गूज उठा, तूलिका के स्थान पर तलवार सँभाली गई, नृत्य समाप्त हुआ। मुसलमानी शक्ति के विस्तार के साथ, विजय का उन्माद बढा, कट्टरता से भय छा गया। हिन्दुओ के आत्म सम्मान पर यह भारी आघात था।

इस आघात के एक नवीन चेतना का उदय हुआ। इस चेतना मे दीनता, समपण और दिव्य प्रेम के भाव थे। धार्मिकता और गम्भीर हो गई, पुराने आदर्शों और आदर्श-पूर्वजो का स्मरण हुआ। "यदा यदा हि धमस्य ग्लानिभवति भारत—अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मान सृजाम्यहम्" इन वाक्यो से धैय हुआ, सतोष एक व्यापक भावना बन गई। इस भावना की अभिव्यक्ति सन्तो के पदो मे हुई। वस्तुत मध्य युग का प्रथम भाग सन्तो और सम्प्रदायो के अभ्युत्थान का काल है।

विजेता और विजित के सघर्ष के सौन्दर्य से स्थान पर शौर्य, कोमलता के स्थान पर दृढता का आदर हुआ। मध्य-युग के प्रारभ मे जहा एक ओर सन्तो की वाणी ने पुराने आदर्शों के पुनर्जागरण से जन-जीवन को सुरक्षित रखा, वहाँ दूसरी ओर दृढ दुर्गों के निर्माण हुए। सारा राजस्थान और मध्यभारत इन्ही दुर्गों से परिपूर्ण है। ये दुर्ग जो पहाडो को काट कर भयकर घाटियो, वन-प्रदेशो, झीलो आदि के मध्य मे बनाये गये हैं, उस समय की वीर भावना के चिह्न हैं। इनमे विशालकाय फाटक जिनमे चमचमाती लोहे की कीले गडी हैं, भयकर तोपें और हथियार, लोहे के कवच और शिरस्त्राण आदि हैं जो उस समय की विकट भावना की सूचना देते हैं। इस काल मे न मन्दिर बन सके, न मूर्तियो का निर्माण हुआ और न चित्रो का अकन हो सका।

विजेता को भी इस प्रथम आघात के समय चैन न था। कोई विशेष महत्त्व का निर्माण इस समय नही हुआ। परन्तु समय बीतने पर सम्पक से एक दूसरे के प्रति स्नेह और आदर उत्पन्न हुआ। हिन्दू-सस्कृति की सामञ्जस्य उत्पन्न करने की शक्ति फिर से जगी। भाषा, भूषा और भाव के क्षेत्र मे स्वतन्त्रतापूवक आदान प्रदान प्रारम्भ हुआ। यद्यपि हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतिया अपने अपने अस्तित्व को बिल्कुल भुला कर एक न हो सकी, तथापि साथ रहने की आवश्यकता ने दोनो मे रूपान्तर

अवश्य कर दिया। इस समय हम अपने सामूहिक जीवन मे तीन स्पष्ट धाराओ को देख पाते हैं जिनका नीचे उल्लेख है।

(क) इसे हम जीवन की 'राजसी धारा' कहेगे। दिल्ली के सम्राट—विशेषत मुगल सम्राट्—और उनको आदर्श मानने वाले राजा और नवाब, वैभव और विलासिता, शक्ति और ऐश्वर्य, आतक (रुवाब) और अनुभाव (शान) के मानो जीवित प्रतीक थे। इस युग के समस्त भौतिक साधन जीवन की इसी राजसी धारा को सभालने और पुष्ट बनाने मे लगे हुए थे। जिसे हम जीवन का ऊपरी स्तर कहते है, उसमे आध्यात्मिक गम्भीरता, कवि की वेदना, दार्शनिक की दृष्टि अथवा धम की सहृदयता और सरसता का कही नाम न था। दरबारी जीवन मे यदि कही कही कवित्व, दर्शन और कला की झलक मिलती थी, तो इसका भी एक मात्र उद्देश्य मनोविनोद अथवा 'दरबारी ए-अकबरी' या 'दरबार-ए जहाँगीरी' की शान को बढाने के लिये ही था। अकबर का धार्मिक सहिष्णुता अथवा धार्मिक एकता की भावना सर्वथा सराहनीय हैं, किन्तु इसके पीछे प्रेरक शक्ति केवल राजनैतिक प्रभुत्व की इच्छा थी। औरगजेब ने धर्म के नाम से सामाजिक कटुता का ही बीजारोपण किया। कुछ भी हो, जीवन की मुख्य प्रेरणा 'राजसी' थी, दूसरी मान्यताए केवल इसी के सवद्धन का साधन थी।

इस युग के भवनो चित्रो और दुर्गो में जाने से इनका 'राजसी प्रभाव' हमे आतकित-सा करता प्रतीत होता है। अजन्ता के चित्रो अथवा एलोरा आदि के विशाल मन्दिरो मे हमे दिव्य आनन्द और निभय जीवन का अनुभव होता है, किन्तु इस काल की सैकडो की सख्या मे बनी मस्जिदो मे वैभव, शक्ति, राजसी आतक और विलासिता की भावना उठती है। सिकन्दरा, फतेहपुर, आगरा, दिल्ली और लखनऊ मे, जहाँ भी इस भावना की अभिव्यक्ति के चिह्न अवशिष्ट हैं, स्मारक, समाधि अथवा महल, अपनी मूल्यवान् पत्थरो की निर्मित काया से, वर्षों के अथक परिश्रम और अनन्त धन से खोदी गई पच्चीकारी और मीनाकारी से, दर्शक के ऊपर अपने 'रूवाब और शान' का सिक्का बैठाते हैं। यहाँ यह स्मरण रहे कि हमारी सौन्दर्य की अनुभूति मे रूवाब और शान' का निश्चित स्थान है। इससे हमे 'आनन्द' मिलता है। 'क्यो'? इसका हम उत्तर आगे देंगे। यहाँ इतना पर्याप्त है कि भावना की दृष्टि से इस युग की कृतियो की सुन्दरता का रहस्य इनमे 'रूवाब और शान' की भावना को उत्पन्न करने की शक्ति है।

ताज महल इसी राजसी धारा मे मुगल शक्ति की प्रखर आलोक रश्मिओ से खिला हुआ पूर्ण पद्म है।

ताजमहल मे भारत का वैभव, फारसी कला की कोमलता, इस्लाम की 'एकता' और 'समानता' की भावना तथा शक्तिशाली मुगल सम्राट् के उत्कट दाम्पत्य प्रेम का विलास है। यह सम्भव ही नही, सत्य है कि बहुत से मनुष्य शाहजहाँ की भाँति ही अपनी पत्नी से प्रेम करते हैं, किन्तु तो भी ससार मे ताजमहल केवल एक ही बन सका है। इसका उत्तर केवल इतिहास ही दे सकता है। वह उत्तर यह है इसके निर्माण के लिये भारत की खानें और मणियाँ चाहिये, अनन्त धन और श्रम चाहिये, यमुना का नील किनारा और सदा-बहार वनस्पति चाहिये, और चाहिये यूनान की गणित और अनुशासन प्रधान कला, इस्लाम-धम का उदय, फारस मे यूनानी कला का कोमल परिकल्पनाओ से पूर्ण विकास, मिस्र और भारत के पिरामिड, स्तूप और मन्दिरो मे शिखरो, गोलाइयो और गुम्बदो के विकास का इतिहास। ये सब मिल कर शाहजहा के प्रेम और मुमताज महल के सौन्दर्य के प्रतीक ताजमहल की सृष्टि करने मे समथ हो सकते हैं। वस्तुत ताजमहल इतिहास की अनेक धाराओ का सगम और विभिन्न प्रेरणाओ की समष्टि है।

हम इसके सौन्दर्य की समालोचना आगे करेंगे। यह 'राजसी-भावना' जिससे ताजमहल का जन्म हुआ, हमारे देश मे अग्रेजी युग के प्रारम्भ तक, क्षीण ही दशा मे सही, जीवित रही।

(ख) राजसी स्तर के नीचे जीवन की एक और धारा बहती थी, जिसके प्रतिनिधि यहाँ के राजा और रईस थे। मनोरञ्जन और ठाठ बाट से जीवन बिताना इसका उद्देश्य था। काव्य और कला अपनी पूरी शक्ति से इस उद्देश्य की सिद्धि मे लग गये। बिहारी और देव इसी युग चेतना के प्रतिनिधि हैं। चित्र-कला मे अजन्ता की आध्यात्मिक भावना नही है, उनमे केवल चित्रण प्रधान है जिनमे राधा और कृष्ण के विलासो, राज प्रासाद की क्रीडाओ, ऋतुओ तथा उद्यान विहारो का अकन हुआ है। मुगल-दरबार मे भी चित्र-कला का विकास हुआ था। अधिकतर इसमें दरबार की शान-शौकत, सेनाओ की सजावट आदि के चित्र हैं। अकबर ने महाभारत और रामायण के प्रसगो का भी चित्रण कराया था। इस काल के सुन्दरतम चित्र रागमाला' नाम से प्रसिद्ध है। इनमे 'ध्वनि' को 'रूप' देने का प्रशसनीय प्रयत्न हुआ है। इसी समय मे हिमाचल के प्रान्तो मे भी कला का विकास इसी उद्देश्य के लिये हुआ है। राजस्थानी और पहाडी कला मे धनिको के मनोरजन की प्रचुर सामग्री है। इनमे सरसता, कोमलता और कान्त-कमनीयता की गहरी पुट है।

सगीत मे सरसता और कोमलता की प्रधानता के कारण इसका चरम विकास इसी काल मे दरबारो की सरक्षता मे हुआ। वैसे तो भारतवर्ष सगीत-प्रधान देश रहा है जिसमे सगीत के तत्वो का अध्ययन वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु सगीत अमूर्त्त ध्वनियों मे प्रकट होने के कारण केवल परम्परा से जीवित रह सकता है। किसी भी समय परम्परा के विच्छिन्न हो जाने पर सगीत-कला को भारी क्षति पहुँचती है। अतएव आज हम वैदिक काल की सगीत पद्धति का ठीक-ठीक अनुमान भी नही कर सकते। इतना हम जानते हैं कि वह सगीत की पद्धति साम गायन रही होगी। अनुमानत साम सगीत मे धार्मिक अनुभूति का गहरा प्रभाव होगा जिसमे दिव्य भावना और तन्मयता की प्रधानता रही होगी। स्वरो के विन्यास की जटिलता अलकारो की भरमार, अनेक वाद्यो से गति, ताल आदि की गणित-प्रधान नाप-तोल आदि का अभाव रहा होगा। साथ ही, शुद्ध सगीत का आस्वादन, जिसमे ध्वनियो के सामञ्जस्य और मधुरता की प्रधानता और मार्मिक वेदना रहती हे सम्भव रहा होगा। वैदिक साहित्य की सरलता, तल्लीनता भी उस काल के सगीत मे अवश्य होगी।

साम-गायन के अनन्तर जाति-गायन का प्रारम्भ हुआ। सप्त-स्वरो और अनेक श्रुतियो का परिमार्जित रूप स्पष्ट हुआ। भरत के समय तक सगीत नृत्य, गायन और वाद्य के समुदाय का नाम हुआ। अनेक जातियो, मूर्च्छनाओ और वाद्यो के आविष्कार से सगीत इस समय अवश्य ही वैभव-सम्पन्न हो गया। भरत के प्रभाव से यह गायन पद्धति रस प्रधान रही। प्रत्येक रस के देवता का आविष्कार हुआ और प्रत्येक जाति के शृङ्गार आदि रसो की उद्भावना के लिये प्रयोग हुआ। कई सदियो के सगीत का हमे पता नही लगता, क्योकि इस विषय मे इस समय के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। मुसलमान-युग के प्रारम्भ होते-होते फारसी और अरबी गायब-पद्धति के सम्मिश्रण से एक नवीन भारतीय सगीत पद्धति का प्रारम्भ हुआ जिसका पुनरुद्धार हमारे समय मे हुआ है। ध्रुपद, ख्याल का आविष्कार इसी समय मे हुआ था। यह सगीत के शुद्ध रूप का विकास था जिसमे स्वरो का वैभव तानमेन आदि गायको के द्वारा प्रकट हुआ। दक्षिण मे यद्यपि विकास का क्रम यही रहा, तथापि भारत की भरत-परम्परा का पोषण इसका मुख्य उद्देश्य था। मुगल-कालीन भारत मे राजनैतिक समृद्धि के साथ-साथ सगीत के साम्राज्य का विस्तार और विकास हुआ।

जीवन की यह रञ्जना और विलास-प्रधान भावना अब तक भी किसी व

किसी रूप मे विद्यमान है। हमारा अब भी विश्वास है कि शारीरिक श्रम और मानसिक खेद की शान्ति ही सगीत काव्य और कला का उद्देश्य है। यह दूसरी ही बात है कि हमे इस रञ्जना-प्रधान कला में वास्तविक 'सौन्दय' न दिखाई पडे।

(ग) जीवन की तीसरी धारा वह है जिसका सम्बन्ध न सम्राटो के आतक और अनुभाव से था, न राजाओ के मनोरञ्जन से। इसका सम्बन्ध जन-जीवन से था, लोकाराधना ही इसका एकमात्र उद्देश्य था। यद्यपि इसमे प्राञ्जल और दरबारी भाषा का अभाव था, तथापि इसमे भारत की मूल भावना का गम्भीर प्रवाह था। इसमे वैदिक जीवन की दिव्यता और गम्भीरता थी, रामायण-काल की आदशवादिता और मार्मिकता, महाभारत की दाशनिक दृष्टि बुद्ध की वेदना, जैन-धम की निस्पृहता राधा-कृष्ण के प्रेम की विह्वलता थी। यह युग-चेतना सूर, तुलसी और मीरा के पदो मे आज भी पुलकित हो रही है। कबीर की साखी इसकी साक्षी देते है, रसखान की रसमयता इसी की उपज है। इसके पास राजसी साधन न थे, इसीलिये चित्र और वास्तुकला द्वारा इसकी अभिव्यक्ति न हो सकी। काव्य ही इसका एकमात्र साधना रहा। आज भी हमारे देश की मूल-धारा वही है यद्यपि इसमे कई प्रभाव सम्मिलित हो गये हैं। जब तक ये प्रभाव मूल-भावना मे घुल-मिलकर एक नही हो जायेंगे, तब तक ये विदेशी' ही रहेगे और भारत अपनी 'आत्मा' को न पा सकेगा।

(12)

उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत राजनैतिक दृष्टि से शान्त रहा। भारत की प्राचीन कला, धर्म और साहित्य परम्पराओ का वहाँ न केवल रक्षण ही हुआ, साथ ही बिकास हुआ। उत्तरी भारत मे जब राजनैतिक उथल-पुथल के कारण पुरानी प्रथाएँ छिन्न-भिन्न होकर नवीन बाह्य प्रभावो से मिश्रित हो रही थी और मुगल कला के आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रही थी, उस समय महाराष्ट्र और दक्षिण भारत मे आचार्यो और वैष्णव धर्म के उद्भव से सारा देश प्रेम के नवीन सचार से उत्साहित हुआ और नवीन दर्शन के प्रकाश से जगमगा उठा। इस समय वहाँ तीन प्रभाव उत्पन्न हुए जिन्होने दक्षिण ही क्या सारे देश को जीवित रहने की आशा प्रदान की।

शकराचार्य के अद्वैत वेदान्त ने जहाँ बुद्ध-धम के मूल सिद्धान्तो का रूपान्तरण करके निराकार ब्रह्म की स्थापना की थी, वहाँ उसमे प्रेम की सरसता और जीवन की

मौलिक भावनाओ का बहिष्कार भी हुआ था। यद्यपि शकराचार्य का दशन दृढ और अकाटच तर्कों पर आश्रित था, जिसके कारण उसका परित्याग तो अब तक भी सम्भव नही हो सका है, तथापि उसमे बुद्धि की प्रधानता के कारण हृदय को सान्त्वना नहीं मिली। इसकी विरोधी प्रतिक्रियाएँ दक्षिण मे ही प्रारम्भ हुई और अनेक ऐसे वैष्णव सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ जिनमे वेदान्त की पुट के साथ भाव-प्रधान भक्ति का प्राचुर्य था। ऐसे वेदान्ती सन्तो ने 'ज्ञान कि होइहै भक्ति बिन' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वेदान्त की नीरसता मे प्रेम की सरसता का सचार किया। महाराष्ट्र और दक्षिण के सतो और आचार्यों का महत्त्व इसी कारण हमारे आध्यात्मिक इतिहास मे इतना अधिक है।

सुरक्षित रहने के कारण दक्षिण भारत की शैव परम्परा इस समय और भी दृढ हुई और मध्यकालीन भारत मे भव्य शिव-मूर्तियो और शिव मदिरो का निर्माण हुआ। शिव की उपासना मे हमे आदिम चेतना का फिर से दशन प्राप्त हुआ। शैव-दर्शन के विकास से नवीन प्रतीको की रचना हुई जिसके फलस्वरूप मन्दिर के शिखर भाग और इसके नीचे मध्यभाग मे कई नवीन आकारो का आविष्कार हुआ। दक्षिण के मध्यकालीन शैव-मन्दिर उस युग की भव्य भावना के परिचायक है, यद्यपि कही कही सरलता के स्थान पर जटिलता के आविर्भाव से आदिम चेतना को हानि पहुँची है।

वैष्णव, वैदिक, दाशनिक और शैव प्रभावो के अतिरिक्त, दक्षिण भारत मे भरत परम्परा का रक्षण और विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप कर्नाटक सगीत, शैली का उदय हुआ, 'भरत नाटचम्' की अभिव्यक्ति-प्रधान नृत्य शैली को हमारे समय तक जीवित रहने के लिए परम्परा की नीव डाली गई। इस नृत्य का विकास मन्दिरो मे हुआ, किन्तु मन्दिरो के बाहर भी हुआ। वैसे तो, उत्तरी भारत मे जब मन्दिर और मूर्तियो को खण्डित किया जा रहा था, तब दक्षिण भारत मे सारे समाज के जीवन का एकमात्र केन्द्र मन्दिर ही थे। मन्दिर के निर्माण मे वास्तु-कला और स्थापत्य कला का प्रयोग चलता था, मूर्तिकार मूर्तियो मे भाव और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के कौशल को बढा रहे थे। देवताओ को प्रसन्न करने के लिये सुन्दर नृत्य और भक्ति के सरस पदो मे साहित्य का सृजन हो रहा था। मन्दिरो की भित्तियो पर कल्पना के अभूतपूर्व आलोक से आलोकित चित्रो का अकन चल रहा था। इस सबके साथ, कला-जीवन की एक लौकिक धारा भी बह रही थी जिसमे नृत्य आदि का विकास मनोविनोद, विलास और कही कही शुद्ध सौन्दय-आस्वादन के लिये भी हुआ।

(13)

हम अपने देश के आध्यात्मिक इतिहास मे उस स्थान पर पहुँच गये हैं जहा से वत्तमान युग का प्रारम्भ होता है। हमने देखा है कि हमारे सामूहिक जीवन की जाह्नवी मे अनेको दिशाओ से अनेक धाराएँ आ आकर मिल गई हैं। हमारी चेतना मे आदिम मनुष्य की स्वच्छन्द आनन्द की भावना से लेकर, युगो के इतिहास के अन तर—मुगल कालीन वैभव और विलास की भावना, सभी विद्यमान हैं। वत्तमान युग की समष्टि चेतना के पीछे युगो का इतिहास है। अपने युग के आध्यात्मिक जीवन को समझने के लिए यह इतिहास आवश्यक है। इस इतिहास के कुछ निष्कष हैं जिन्हे ध्यान मे रख कर हम अपने काल की प्रेरणाओ और प्रवृत्तियो को समझ सकेंगे। हमारे आध्यात्मिक इतिहास के निम्नलिखित निष्कष हैं।

(क) 'सामञ्जस्य' हमारे जीवन का रहस्य है। इसमे विविध और विरोधी भावनाएँ आईं और घुल मिल कर एक हो गइ। इससे हमारे जीवन का अन्तराल विशाल और दृष्टिकोण उदार रहा है। प्रत्येक युग ने अपना योगदान दिया, किन्तु चेतना की सनातन धारा समृद्ध ही होती गई है, नष्ट नही हुई। परिस्थितियो के कारण यह धारा कभी अनेक प्रवाहो मे विभक्त और कभी सयुक्त होती रही है, कभी अन्तर्धान होकर गहरे स्तरो पर बहने लगी और कभी प्रत्यक्ष हो गई। आधुनिक युग मे जहाँ कई विदेशी भावनाओ के स्रोत इसमे आकर मिले हैं वहाँ इसकी मूल चेतनाएँ भी सजीव हो उठी हैं। आज हमारा सम्पूर्ण इतिहास हमारे भारतीय व्यक्तित्व मे जग उठा है, और उसमे नवीन स्रोतो को मिलाने की शक्ति का फिर से आविर्भाव हुआ है।

(ख) हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक रहा है। इसका अर्थ है कि हमारा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, भावनात्मक अथवा नैतिक जीवन एक सूत्र मे गुथा हुआ रहा है। वह सूत्र है हमारा निणय कि सारे प्राकृतिक जगत् का उद्देश्य वही है जो हमारे—मनुष्य के—चेतनामय जीवन का उद्देश्य है। मनुष्य इसी प्रकृति का अग है—वह पुरुष है तो यह ससार उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रकृति है। अनन्त सुख की अभिलाषा, अमर जीवन पुरुष का उद्देश्य है—प्रकृति का भी वही उद्देश्य है। इस दृष्टिकोण से प्रकृति की जडता दूर हो जाती है, उसमे दिव्यता और आध्यात्मिकता आ जाती है। इसी दिव्यता का अनुभव करना धर्म है, इसी की अभिव्यक्ति कला है, इसी दृष्टिकोण से जीवन मे व्यवहार करना नैतिकता है।

समाज का वह सगठन जिससे पुरुष अपने आध्यात्मिक स्वरूप का अनुभव कर सके हमारी राजनीति रही है। इसी आध्यात्मिक स्वरूप को समझाने का प्रयत्न ही भारतीय दर्शन है। हमारी सौन्दय-चेतना प्रकृति के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप से उत्पन्न आनन्द की अनुभूति है। इसी से हमने सूर्य को केवल आग का गोला और चन्द्रमा को पृथ्वी की छाया ही नही जाना है, किन्तु साथ ही, सूय को अनन्त ज्ञान, सत्य और आनन्द की चेतना का स्रोत 'सविता' और चन्द्रमा को आह्लाद का स्रोत और सुधा का आकार भी माना है। यह अनुभूति झूठी नही है। यदि प्रकृति का मानव जीवन और हृदय से निकट सम्बन्ध है। (जिसे विज्ञान भी निषेध नही करता) तो सूय और च द्रमा को जीवन और सुधा का निधि मानना असत्य नही है।

(ग) आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण हमने कला मे 'अनुकरण' को महत्त्व न देकर 'अभिव्यक्ति' अथवा 'अनुरणन' को ही विशेष महत्त्व दिया है। हमारे लिये 'बाह्य की अपेक्षा 'आन्तरिक', 'वस्तु' की अपेक्षा 'अनुभूति' अधिक मान्य रही है। काव्य, मूर्ति, रेखा आदि अनेक साधनो द्वारा हमने अपनी गम्भीर अनुभूतियो को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया, जिससे रग, शब्द और पत्थर की मूर्तियाँ जीवित मनु्यो से भी अधिक सजीव, गम्भीर और चेतन प्रतीत होते हैं। बाह्य पदार्थों का अनुकरण हमारे कला-जीवन मे नही है। यह केवल चित्रण है। जहाँ कही हमने बाह्य वस्तुओ का—कमल, पशु-पक्षी आदि का—प्रयोग भी किया है, वहाँ इनके आध्यात्मिक स्वरूप ही व्यक्त करने का प्रयत्न है, न कि इनके प्राकृतिक स्वरूप का।

(घ) सौ दर्य-चेतना आध्यात्मिक होने के कारण हमारी सौ दय अनुभूति का स्वरूप भी ध्वन्यात्मक रहा है। इसका अथ है कि सौन्दर्य का आस्वादन हम नेत्र-निमीलन करके केवल कानो से ध्वनि के रूप मे करते है। सुन्दर बुद्ध अथवा अन्य देवी, देवताओ की मूर्तियाँ और चित्रो का रसास्वादन हम ध्यानस्थ होकर करते है। इनका बाह्य रूप——इनकी मुद्राएँ, प्रतीक, चिह्न और बहुत स्थानो पर इनका पशु-स्वरूप इत्यादि—हम साधारणतया नही समझ पाते। किन्तु इनमे ध्यान से भावो का हृदयङ्गम करने पर ये ही वस्तुएँ 'सुन्दर' और 'आनन्द' की चेतना को जाग्रत करती हैं। सूर्य का सप्ताश्व रथ, ब्रह्मा का चतुर्मुखी स्वरूप, भगवान् का वाराह के रूप मे अवतार, कृष्ण का अनुपम मानव-सौन्दय, विष्णु का नाभि-कमल, इत्यादि को ध्यान-पूवक देखने से प्रकृति के दिव्य स्वरूप का उद्‌घाटन होता है।

भारतीय इतिहास के इन निष्कर्षों को ध्यान मे रखकर हम अपनी सौन्दय-चेतना को समझ सकते हैं, अपने कला-जीवन को हृदयङ्गम कर सकते हैं और हम कर सकते हैं अपने अनागत का निर्माण। हम अपने इतिहास का विरोध नही कर सकते।

भविष्य अतीत के गर्भ मे पलता है। यही इतिहास का रहस्य है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

कहा जा चुका है कि 'आनन्द' हमारे एक विशेष अनुभव का नाम है। यह वस्तु के 'सौन्दय-चिन्तन' से उत्पन्न होता है। हम इस विशेष अनुभूति और वस्तु के गुण की मीमासा आगे करेंगे। यहाँ हमे इतना अभिप्रेत है कि आनन्दानुभूति का मूल स्रोत केवल सौन्दय ही नही है, वरञ्च 'सत्य के लाभ से भी अदभुत आनन्द का अनुभव होता है, केवल सत्य से ही नही 'शिव' तत्त्व के अनुभव से भी एक विशेष आह्लाद प्राप्त होता है। वस्तुत जीवन के अनन्त अवकाश मे केवल सौदर्य ही नही है, उसमे सत्य और शिव भी हैं जिनसे मिल कर आनन्द की त्रिवेणी अखिल लोक को सीचती हुई बहती है। तीन स्रोतो (त्रिस्रोतस्) वाली जीवन की विराट्-धारा मे सौन्दर्य से उत्पन्न माधुय और चमत्कार है, सत्य का प्रकाश और शिव का पवित्र उल्लास है। केवल अध्ययन की सरलता के लिये हम इन तीनो तत्त्वो का अलग निरूपण करते हैं, किन्तु वास्तव मे त्रिविध होते हुए भी जीवन की धारा सरल है। एक ही वस्तु भिन्न दृष्टिकोणो से देखने पर हमे कभी सुन्दर, कभी सत्य और कभी शिव रूप मे प्रतीत होती है। प्रस्तुत निबन्ध मे इन्ही दृष्टिकोणो का निरूपण है जिससे हम अपने जीवन की झाँकी पा सकें।

(2)

सत्य क्या पदार्थ है ?

तक जिसे सत्य कहता है वह विचारो की परस्पर-सगति का नाम है। मनुष्य की बुद्धि का स्वभाव है कि उसमे दो परस्पर विरोधी विचार एक साथ नही ठहर सकते। यदि हम कहें कि सूर्य उष्ण है' और 'सूर्य उष्ण नही है,' तो हम ही स्वय इस कथन का अथ नही समझते। बुद्धि सूर्य के स्वरूप को समझना चाहती है। यदि सूर्य उष्ण है और उष्ण नही भी है तो हम इससे स्वरूप का निश्चय नही कर सकते। इसी प्रकार यदि हम मानें कि सभी मनुष्य मरणशील हैं, मैं मनुष्य हूँ, किन्तु मैं मरणशील नही हूँ, तो यह निष्कर्ष कि 'मैं मरणशील नही हू' यद्यपि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' और 'मैं मनुष्य हू', इन दोनों वाक्यो के प्रतिकूल है

और हमारी मानव*-बुद्धि इस निष्कष को सत्य स्वीकार नही कर सकती। असत्य बात असगत होती है अर्थात उसका दूसरी बातो से मेल नही रहता। न्यायालय मे न्यायाधीश साक्षी जनो के कथन मे सगति के आधार पर ही उनके सत्य या असत्य होने का निणय करता है। तार्किक सत्य का स्वरूप यही सगति अर्थात् मेल का सिद्धान्त है।

यह सिद्धान्त तर्क तक ही सीमित नही है। कला के क्षेत्र मे इसका उपयोग कल्पनाओ मे परस्पर सगति उत्पन्न करके कला के प्रभाव मे सत्य की प्रतीति लाने के लिये किया जाता है। एक उपन्यास कोई लीजिये, चाहे वह सामाजिक, जासूसी, मनोवैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक हो। यदि उसमे घटना, कथा वस्तु चरितनायक, परिस्थितियाँ आदि सभी मे परस्पर मेल है ता हमे उनमे सत्य की प्रतीति होती है। सत्य की प्रतीति से उनका कलात्मक प्रभाव गम्भीर होता है। स्विफ्ट की लिखी 'गुलीवर की यात्रा' को लीजिये। लेखक पाठक से केवल एक बात पर विश्वास कराना चाहता है। वह यह कि प्रशान्त महासागर के किसी सुदूर द्वीप मे छ इच के मनुष्य हो सकते है। यदि यह विश्वास कर लिया जाये तो जो कुछ उन लोगो के विषय मे लेखक ने कहा है, उसे सत्य ही मानना पडता है, ठीक उसी तरह जिस तरह 'अ = ब और ब = स' के मानने से अतएव 'अ = स' मानना पडता है। किसी उपन्यास, कथानक, नाटक आदि मे प्रभाव की सफलता सत्य की प्रतीति से होती है और सत्य की प्रतीति कला के सभी तत्त्वो मे समन्वय अथवा सगीत से उत्पन्न होती है।

'औपन्यासिक सत्य' वस्तुत सत्य का एक प्रकार है। इस सत्य मे कल्पनाओ का समन्वय अथवा परस्पर मेल मुख्य अश है। ऐसे भी उपन्यास होते है जिनमे केवल इसी सगति के द्वारा सत्य का विश्वास उपजाया जाता है। ये शुद्ध उपन्यास (Fiction) कहलाने योग्य है। किन्तु कल्पना का आधार हमारा साधारण अनुभव, स्मृति, समाज की परिस्थितियो का निरीक्षण होता है। यदि कल्पनाएँ परस्पर समन्वित हो और साथ ही इन अनुभवो और निरीक्षणो के भी अनुकूल हो तो इनके प्रभाव मे 'सत्य' स्फुट हो उठता है। इससे बढ कर यदि केवल व्यक्तिगत ही नही सामूहिक जीवन की पुष्ट और प्रबल भावनाओ के भी अनुकूल ये कल्पनाए हो तो इनका औपन्यासिक सत्य वास्तविक अथवा ऐतिहासिक सत्य से भी

*'सगीत' के अनुभव में मनुष्य के मस्तिष्क मे बिजली के समान 'पौजीटिव' तरगें उठती है 'असगत' का अनुभव होने पर मस्तिष्क मे 'निगेटिव' तरगो का अनुभव होता है। इस प्रकार मन ही नहीं मस्तिष्क भी 'असगति' को पहचानता है, यानी दो परस्पर विरोधी—असगत बातो को 'एक साथ' स्वीकार करने की स्थिति को 'Confusion'—यह, सचमुच असगति का अनुभव है।

अधिक प्रभावशाली और स्फुट हो जाता है। इस प्रकार कुशल उपन्यासकार जीवन के विभिन्न अगो और विविध अनुभूतियो मे सामञ्जस्य उत्पन्न करके एक नवीन 'सत्य' का उद्‌घाटन करता है। यद्यपि इस सत्य का उदय कल्पना से होता है, तथापि इसे हम असत्य नही कह सकते। सत्य वह है जिसमे हमे विश्वास हो, और, विश्वास हमे उसी अवस्था मे होता है जब हमारे अनुभव का विरोध न हो। असत्य अविश्वसनीय होता है, असत्य मे विश्वास करना असम्भव होता है, क्योकि वह हमारी अनुभूति के प्रतिकूल होता है।

साधारणतया हम समझते हैं कि कल्पना से असत्य ही उत्पन्न होता है। वस्तुत ऐतिहासिक सत्य और काल्पनिक सत्य मे अन्तर है। किसी घटित वस्तु का यथातथ वर्णन इतिहास है। उसके काल, स्थान और काय कारण का उल्लेख उस वस्तु के विषय का ऐतिहासिक सत्य है। परन्तु हम अपनी वास्तविक अनुभूति के अनुकूल, उदात्त भावनाओ की पोषक, कल्पना करने मे समथ है। हमारी अनुभूति और भावना भी हमारे लिये परम सत्य हैं, इसलिये इनके अनुकूल कल्पना और उसकी उपज भी हमारे लिये सत्य है। रामायण, महाभारत तथा पुराणो की नाना कथाएँ, सम्भव है ऐतिहासिक सत्य न भी हो, किन्तु ये हमारी ही आत्मा की उच्चातिउच्च अनुभूतियाँ हैं। प्रत्येक मनुष्य इनमे अपनी ही उदात्त मानवता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पाता है। इसलिये इनमे हमे असत्य का भ्रम नही होता। केवल भ्रम उसी अवस्था मे होता है जब हम ऐतिहासिक सत्य और काल्पनिक सत्य के भेद को स्पष्ट नही समझते और पहले प्रकार के सत्य को दूसरे से कुछ ऊँचा मान बैठते है।

(3)

हमने कहा है कि विचारो की परस्पर सगति तार्किक सत्य का स्वरूप है। भावना, कल्पना आदि का परस्पर सामञ्जस्य औपन्यासिक सत्य का स्वरूप है, तथा, इतिहास जिसे सत्य मानता है वह घटनाओ मे काल क्रम आदि का परस्पर मेल होता है। वैज्ञानिक सत्य इनसे कुछ भिन्न है। विज्ञान बुद्धि द्वारा वस्तु और उनके परिवर्तन को समझने का प्रयत्न है। बुद्धि का स्वय कुछ स्वरूप है और इसकी सीमाएँ भी है। अपने स्वभाव के अनुसार बुद्धि घटनाओ और वस्तुओ के सामान्य नियमो की गवेषणा करती है, उसमे कार्य कारण नियमो का पता लगाती है। आधुनिक विज्ञान प्रकृति के एक विशेष क्षेत्र मे इन्ही सामान्य नियमो का सगठित ज्ञान है। वनस्पति-विज्ञान वनस्पति-जगत् की घटनाओ का व्यवस्थित ज्ञान सम्पादन करता है। इस ज्ञान से वस्तु-जगत स्पष्ट हो जाता है। बुद्धि इस ज्ञान से अदभुत

प्रसाद पाती है । प्रस न बुद्धि परम शान्ति का अनुभव करती है । गीता ने प्रसादयुक्त बुद्धि की इस अवस्था को 'पयवस्थान' कहा है ।

विज्ञान का दृष्टिकोण 'वास्तविक' होता है । इसका अथ है कि विज्ञान वस्तुओ और प्राकृतिक घटनाओ के स्वरूप का अध्ययन निरीक्षण द्वारा करता है । इन वस्तुओ के आध्यात्मिक प्रभावो का अनुशीलन शास्त्र करते हैं । शास्त्रीय सत्य का स्वरूप भी वैज्ञानिक सत्य की भाति ही आध्यात्मिक अनुभूतियो मे व्यवस्था की उत्पत्ति होता है । इससे मानसिक जगत् हमारे लिए विशद हो जाता है । हम वस्तुओ के स्वरूप को विज्ञान द्वारा और अपने स्वरूप को शास्त्र द्वारा स्पष्ट रूप से समझने मे समथ होते हैं । दोनो का फल मन -प्रसाद है ।

शास्त्र और विज्ञान जीवन के जिस तथ्य का उद्घाटन करते है वह सत्य होते हुए भी सम्पूर्ण नही होता । प्रत्येक शास्त्र अथवा विज्ञान अपने सीमित क्षेत्र मे सीमित प्रकाश और प्रसाद की सृष्टि करता है । किन्तु जीवन का चरम सत्य बुद्धि की सीमाओ के पार है । बुद्धि वस्तु के बाह्य रूप को समझने का यन्त्र मात्र है, वह सत्ता को ग्रहण नही कर सकती । दशन वस्तुत चरम सत्य के दशन का नाम है । इसलिए विज्ञान और शास्त्र से भी ऊपर दार्शनिक दृष्टिकोण है, जो परम सत्य और जीवन के रहस्य का उद्घाटन करता है । यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्त अनगित और अनेक प्रकार से परस्पर विरोधी हैं, किन्तु उनमे कुछ मूल्य-सत्यो के विषय मे एक-वाक्यता है, जैसे, अधिकाश जीवन की अनन्तता मे सबका विश्वास है, जीवन के चेतन स्वरूप मे तथा इसकी अमित आनन्दमय चरम अवस्था मे किसी को सन्देह नही है । दशन का उद्देश्य जीवन के इस चरम सत्य का दशन कराना होता है । यदि यह दशन केवल बुद्धि के तर्कों तक ही सीमित न रहे और इस तत्त्व का अवगाहन किया जाये तो निश्चय ही दार्शनिक सत्य अद्भुत आनन्द की अनुभूति को उत्पन्न कर सकता है ।

सत्य किस प्रकार आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न का यथोचित उत्तर वेदान्त दे सका है । पश्चिमी देशो मे इस प्रश्न का उत्तर उन्हे मनोवैज्ञानिक गवेषणाओ से मिला है । हम इसका उल्लेख आगे करेंगे । यहाँ हम उपनिषद् का दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे । सक्षेप मे, वह यह है कि हम जिस तत्त्व को जानते हैं उसमे तन्मय हो जाते हैं, हम वही हो जाते हैं । ज्यो ही हमारे जीवन का परम सत्य—इसकी अनन्तता, चेतन सत्ता और आनन्द—हमारे सम्मुख प्रकट होता है, हम स्वय भी उसी अनन्त, चेतन सत्ता मे घुल-मिल कर तदाकार हो जाते हैं ।

जिस प्रकार अनेक जल-स्रोत समुद्र मे मिल कर अपने भिन्न अस्तित्व, नाम-रूप को छोड कर, समुद्र ही बन जाते हैं, इसी प्रकार सत्य के दर्शन से आत्मा स्वय सत्य बन जाती है। आत्मा की इस अनुभूति मे हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व के बन्धन, इसकी पाप पुण्य की मीमासा, आशा, और निराशा चाह और चिन्ता, सुख-दुख के साधारण आँकडे, सब नष्ट हो जाते हैं। उस समय आत्मा अवश्य ही 'ब्रह्म' का अनुभव करती है। सत्य के दशन से आत्मा स्वय सत्य बन कर साधारण सुख दुख से भिन्न किसी आनन्द का अनुभव पाती है। इसे ऋषियो ने ब्रह्मानन्द कहा।

तार्किक सत्य से लेकर उपनिषद् के परम सत्य तक एक बात सामान्य रूप से विद्यमान है कि सत्य का अर्थ सामञ्जस्य है, जिनमे जीवन की विविध अनुभूतियाँ व्यवस्थित हो जाती हैं। केवल इन सत्यो मे अन्तर इस बात का होता है कि एक किसी विशेष दृष्टिकोण से सीमित अनुभूति की व्यवस्था करता है तो दूसरा अपने विशेष क्षेत्र मे ज्ञान का सम्पादन करता है। प्रत्येक सत्य के अनुभव का फल मन प्रसाद होता है। गणित के प्रश्न को हल करके हमे अवश्य आनन्द मिलता है। वैज्ञानिक गवेषणा मे सत्य के आविष्कार से विज्ञानवित् परम सन्तोष का अनुभव करता है। क्योकि सत्य के ये अनुभव केवल एकाङ्गी होते है इसलिये यद्यपि आत्मा इनके साथ एकाकार होने का प्रयत्न करके सुख पाती है, तथापि जीवन का परम सत्य, जिसमे सम्पूण अनुभूति का सामञ्जस्य विद्यमान है, उसे दशन से प्राप्त होता है। निश्चय ही, आत्मा उस सत्य के साथ तद्रूप होकर अनन्त मन प्रसाद का अनभव करती है। मन की यह अनन्त प्रसन्नता सत्य की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द का विशेष लक्षण है। दाशनिको और अनुभव पाने वाले योगियो ने इस प्रसन्नता को 'सत्व', 'ज्योति', 'विशोका ज्योतिष्मती भूमि', 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' आदि नामो से पुकारा है।

(4)

जिस प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सत्य के लिए है,—अनन्त सत्य के लिए, जिसके साथ एकाकार होकर वह स्वय अनन्त सत्य बन जाये और उसे उपनिषद् की परम अनुभूति हो सके 'अह ब्रह्मास्मि' सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म', उसी प्रकार मानव-प्रवृत्ति अनन्त कल्याण के लिए भी है। यही अनन्त कल्याण, अभय, निर्द्वन्द्वता और अनुशासन-रहित स्वच्छन्द विहार हमारे देश मे 'शिव-तत्त्व' के रूप मे मूर्त्त हो गया है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से 'शिव' आदिम मनुष्य की अनुभूति है, तथापि दाशनिक विचार-धारा मे पड कर यह अनुभूति मानव-मात्र के लिये जीवन का परम

ध्येय और उच्च आदर्श बन गई है। शिव-कामना अथवा कल्याण-कामना एक ही बात है।

शिव अथवा कल्याण का स्वरूप क्या है? यद्यपि मानव मात्र कल्याण की कामना से प्रेरणा पाता है, तथापि कल्याण का वास्तविक अर्थ बहुधा हमे स्पष्ट नही होता। विकास की प्रथम अवस्था मे प्रवृत्तियो की तृप्ति को ही हम कल्याण मान बैठते हैं। परन्तु शीघ्र ही हमे समस्याओ का सामना करना होता है प्रवृत्तियो की अनियमित तृप्ति सम्भव नही, तब किस प्रवृत्ति को किस सीमा तक तृप्ति किया जाये? कौन-सी प्रवृत्ति त्याज्य और कौन सी ग्राह्य है? इनमे परस्पर विघात भी है एक की तृप्ति से दूसरी का सन्तोष नहीं होता, इसके विपरीत भय, उद्वेग, क्रोध आदि अतृप्ति से उत्पन्न होते है। तब तो, इच्छाओ की पूर्ति केवल सुख का कारण नही होती, उसमे दुख का भारी पुट रहता है। इस अनुभव से मर्यादा, नीति, धर्म, पुण्य और इनके विपरीत अमर्यादा, अनीति, अधर्म और पाप आदि के विचार उपस्थित होते है। इस अवस्था मे ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन का परम कल्याण मर्यादा, धर्म और नीति के नियमो को त्याग कर नही मिल सकता। यहाँ से पाप और पुण्य की मीमासा प्रारम्भ हो जाती है, स्वर्ग और नरक, परलोक और पुनर्जन्म आदि की कल्पना की जाती है। अब मनुष्य पशुता को छोडकर मानवता को ग्रहण करता है। यह मनुष्य धार्मिक है, और, धर्म से मर्यादित तृप्ति ही इसका परम कल्याण है।

सभ्यता और सस्कृति के विकास के साथ मनुष्य अपनी विविध प्रवृत्तियो मे सामञ्जस्य अथवा मेल उत्पन्न करता है, जिससे उसे जीवन मे सर्वाङ्ग तृप्ति मिल सके। इससे इसकी भावना और प्रवृत्ति मे उदारता और सस्कार का उदय होता है। अपनी तृप्ति के लिए मनुष्य विविध कलाओ, साहित्य, भाषा, भोजन, भूषा का आविष्कार करता है। इन सुख के साधनो से युक्त, वह जीवन की सर्वाङ्गीण और उदात्त तृप्ति की इच्छा करता है, किन्तु इस अवस्था मे भावना और बुद्धि के सस्कार के कारण, धार्मिक और नैतिक बन्धनो के अतिरिक्त हृदय की कोमलता स्वय बन्धन बन जाती है। हम अपने हृदय की कोमलता का विघात करके, अन्त-करण की प्रवृत्तियो के प्रमाण को ठुकरा कर, सुख नही पा सकते। इस प्रकार यद्यपि हमारी शिव-भावना सस्कृत, कोमल और विशद तो हो जाती है, किन्तु जीवन मे मर्यादा के बन्धन अदृश्य, जटिल और दृढ होते जाते हैं।

एक ओर मनुष्य का सर्वाङ्गीण व्यक्तिगत विकास आगे बढता है और दूसरी

और उसका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन उत्तरोत्तर विस्तृत और जटिल होता जाता है। उसका व्यक्तिगत कल्याण समाज के सामूहिक कल्याण का अश बन जाता है। उसके मोक्ष और बन्धन, सम्पत्ति, सुख और दुख, आशा और निराशा, समष्टि-जीवन मे एकाकार हो जाते हैं, मानो उसका अलग कोई अस्तित्व ही नही है। वस्तुत यह समष्टि की कल्याण-भावना 'शिव' का बृहत् रूप है, जिसकी स्पष्ट झाँकी हमारे समय मे सम्भव हो सकी है, वैज्ञानिक आविष्कारो और विश्व-व्यापी आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक समस्याओ के कारण। यद्यपि हम विश्व-कल्याण के समीप नही पहुच पाये हैं, तथापि इसकी भावी रूप-रेखा हमे दृष्टिगोचर हो रही है। कल्याण की खोज मे निकला हुआ मनुष्य आज व्यापक, अमर और अनन्त शिव-तत्त्व की कल्पना करने मे समर्थ हुआ है। यथार्थ मे, 'शिवोऽहम्' का अनुभव करने वाले मानव ने आज अपने व्यापक शिव-स्वरूप का प्रथम आभास पाया है।

आज हमने जिस विश्व मगल की कल्पना की है उसमे मानवता, समानता और स्वाधीनता का विशेष स्थान है। प्रवृत्तियो की तृप्ति और आध्यात्मिक विकास उसके लक्ष्य है। यदि हम इन सूक्ष्म विचारो को मूर्त्त रूप दे, तो शिव का लौकिक स्वरूप हमारे लिये स्पष्ट हो जाता है। जाति, धर्म, वर्ण, आश्रम, देश आदि भेदों के ऊपर, स्वाधीन, विद्या के अधिष्ठातृ देव, नृत्य कला के आचार्य, परम कारुणिक महा मानव ही हमारे महादेव हैं। निश्चय ही, शिव प्रलयकर भी है, क्योकि सृष्टि की प्रवृत्ति मर्यादा, बन्धन और भेद की ओर रहती है। इन बन्धनो से दूर स्वतन्त्र जीवन का आदर्श शिव का जीवन है। विश्व मगल की व्यापक भावना ही शिव-भावना है, केवल एक अन्तर के साथ जो इस प्रकार है

यद्यपि सृष्टि की प्रवृत्ति बधन, मर्यादा और भेद की ओर स्वभाव से ही है, तथापि हमारी चेतन आत्मा स्वभाव से ही इन नियामक विधि विधानो से घृणा करती है। सभ्यता और सस्कृति इन विधानो को सूक्ष्म और दृढ बनाती है, यद्यपि इनसे हमारा जीवन विशद हो जाता है। प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल मे सभ्यता की पोषक और विरोधी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। हमारे समय मे राजनैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक परिस्थितियो ने सभ्यता के बन्धनो को शिथिल और व्यर्थ बना दिया है। नैतिकता और धर्म के विधान प्रभावहीन हो गये हैं। हमने जिस बन्धन-हीन, सुखमय जीवन की कल्पना की है, उसका प्रधान कारण हमारी परिस्थितियो से उत्पन्न विवशता है। इस विवशता से ही विश्वव्यापी मङ्गल चेतना का आविर्भाव हुआ है। वास्तविक विश्व-मगल की भावना का कारण विवशता नही, आध्यात्मिक

विकास होता है। यही अन्तर वत्तमान की शिव भावना और वास्तविक शिवानुभूति मे है। शिव आध्यात्मिक दृष्टि से उदार भावो के प्रतीक हैं। उनका जीवन केवल स्वच्छन्द विहार ही नही है। 'शिवतत्त्व' का यह स्वरूप जिसमे मानवता का चरम विकास, न कि उसका अत्यन्त ह्रास, ही प्रमुख भेद है जो भारतीय सभ्यता की उदात्त कल्पना है।

हमारे अनुसार स्वच्छन्द मङ्गलमय जीवन धम और नीति की अवहेलना से उत्पन्न नही होता, किन्तु आत्मा के पूण विकास से उत्पन्न होता है। आत्मा अनन्त और अखण्ड चेतन सत्ता है जिसको उपनिषत्कारो ने 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' कहा है। इस आत्मा के स्वरूप के अनुभव से सासारिक जीवन के भेद, सुख दु ख के आकडे, पाप पुण्य के विधान समाप्त हो जाते हैं। सत्य की अनुभूति होने पर ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण', वेद और अ वेद के भेद, विधि निषेध की सम्पूण मीमासा प्रौढ होने पर शिशु क्रीडा की भाति बन्द हो जाते है। इस अनुभूति के अनन्तर याज्ञवल्क्य ने जनक से उपदेश देते समय कहा था ' अभय वै जनक प्राप्तोऽसि।" जीवन मे अभय का यह अनुभव आध्यात्मिक विकास की चरमभूमि है। इस अवस्था मे धम का भय अथवा इसके बन्धन नही रहते, कारण कि मनुष्य स्वय धम बन जाता है। जिस प्रकार परम सत्य के अनुभव से बुद्धि स्वय 'ज्योति' और 'ऋतम्भरा' बन जाती है, उसी प्रकार शिवतत्त्व के अनुभव से आत्मा स्वय शिव स्वरूप, मगलमय और धम-वर्षिणी बन जाती है। 'शिव' वस्तुत मनुष्य मे धार्मिकता के चरम विकास की अवस्था का नाम है जब धम और अधर्म का द्वन्द्व ही बिलीन हो जाता है। जिस प्रकार सत्य के अनुभव से मनुष्य स्वय सत्य बन जाता है, उसी प्रकार शिव के अनुभव से वह स्वय शिव-रूप हो जाना है। मनुष्य का चरम रूप सत्य और शिव है। शिव की अनुभूति से शिव किस प्रकार बन जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर भी वैदिक साहित्य से मिलता है। उपासना अथवा यज्ञ का अर्थ इस साहित्य मे उपास्य अथवा यज्ञोय देवता के तदाकार होना है "विष्णुर्भूत्वा विष्णु यजते" "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा।" सत्य और शिव की आराधना से उपासक स्वय सत्य और शिव बन जाता है। यही उसका वास्तविक और चरम स्वरूप भी है।

(5)

हमारे देश मे सौन्दर्य की उपासना भी आत्म-तत्त्व की उपासना की भाँति प्राचीन है। वेद की उपासना मे यह कहना कठिन है कि कौन ऋचा धार्मिक स्तुति है और कौन दिव्य-सौन्दर्य की अनुभूति से उत्पन्न आह्लाद की अभिव्यक्ति है। वेद

के देवता प्रकृति की प्रत्यक्ष दिव्य शक्तियाँ हैं, जैसे, इन्द्र, अग्नि, वरुण, उषा, सविता, अश्विनी, आदि। धार्मिक दृष्टि से ये देवता यज्ञीय अथवा पूजा के योग्य है, क्योकि ये हमे सुख और प्रेरणा प्रदान करते हैं, ये हमारे पार्थिव जीवन के सरक्षक हैं। इन्द्र अपने तेज से, अग्नि अपनी ऊष्मा से, सविता अपने प्रकाश से, वरुण अपने अमृत से जीवन और चेतना को जन्म देते और सम्भरण करते हैं। हमारा जीवन तत्त्व इनमे ही सवरण भी हो जाता है। वस्तुत जीवन और ज्योति इन्ही के हैं। इनकी वस्तु को इन्हे समपण करना चाहिए। जो मनुष्य इस भावना के बिना केवल पशु तृप्ति के लिये भोग करता है, वह 'स्तेन' है। 'स्वय ही खाने वाला (बिना समर्पण किय) मनुष्य केवल पाप ही भक्षण करता है। (केवलाघो भवति केवनादी)। वेद की इस धार्मिक भावना मे सत्य और शिव का अद्भुत सामञ्जस्य है। इस भावना से प्रभावित होकर वह स्वय सत्य और शिव रूप बन जाना है क्योकि यज्ञ करते समय वह अनुभव करता है "इदमह असत्यात सत्यमुपैमि।" साथ ही, इस भावना मे जहाँ सत्य का श्रेष्ठ प्रकाश (वरेण्य भग) और कल्याण से उत्पन्न परम तृप्ति है, वहा सौन्दय की अनुभूति से उत्पन्न परम आह्लाद भी है। वैदिक मनुष्य ने अपने चारो ओर की प्रकृति को सुन्दर कल्पना और आनन्द की भावना से भर दिया है। वह अचेतन, असुन्दर और जड जगत् मे रहने को प्रस्तुत नही। अतएव उसने अपने आन्तरिक उल्लास से प्रकृति को सुन्दर बना दिया है। सत्य, शिव और सौन्दर्य का एक ही तत्त्व मे यह अनुभव विलक्षण है और हमारे लिये आज भी आदर्श है।

सौन्दर्य से जो आनन्द उत्पन्न होता है उसे हम 'रस' कहते है। सत्य से उत्पन्न आनन्द को हम 'प्रसन्नता' और शिवानुभूति के आनन्द को 'तृप्ति' कह सकते है, यद्यपि इनके कोई नियत नाम नही हैं। वस्तुत ये तीनो अनुभूति हमारे बौद्ध, भावनात्मक और प्रवृत्तिमय जीवन की क्रमश विकसित अवस्थाएँ हैं। जीवन के विकास के साथ ही इनका प्राणन और विस्तार होता है। सत्य के उदघाटन से सौन्दय की वृद्धि होती है। 'शिव' के नवीन अनुभव से नूतन सौन्दय का उदय होता है। हमारे युग मे, असत्य और अशिव के प्रचुर होते हुए भी, मनुष्य ने नवीन दृष्टिकोणो से सत्य की गवेषणा की है, सामूहिक जीवन के अन्तर्राष्ट्रीय विकास के कारण लोक-मगल की नवीन भावना जाग्रत हुई है। इसका प्रभाव हमारे भावना-जीवन पर यह हुआ ह कि कला और साहित्य के सभी क्षेत्रो मे सौन्दर्य का नवीन अवतार हो गया है। यदि अपने पतन का कारण हमे ढूढना है तो वह है कि हमने सत्य, शिव और सौन्दय के स्वाभाविक और सजीव सबन्ध को विच्छिन्न कर दिया है।

यदि हम ऐसी तृप्ति चाहते है जो असु दर है अर्थात् जो हमारे सम्पूण, विकसित भावना जीवन का अपघात करती है, इसी प्रकार यदि हम सत्य के विरोधी कल्याण की कामना करते हैं जो हमारे सम्पूण बुद्धि-जीवन का अपघात करती है, अथवा, यदि हम ऐसे सत्य को अपनाते हैं जो हमारी प्रवृत्तियो की तृप्ति और भावनाओ का विघात करता है, जैसा कि आधुनिक विज्ञान ने किया है, तो इन सब दशाओ मे जीवन का ह्रास ही नही होता, वह स्वय सकट मे पड जाता है। इतिहास के सुवण-युगो मे तीनो का समर्वित विकास होता रहा है। सम्ब ध-विच्छेद हो जाने पर केवल सौन्दर्य उपासना के कारण विलास-प्रिय युगो और सभ्यताओ का पतन हुआ। भावना और चरम कल्याण की अवहेलना करने वाले विज्ञान प्रधान हमारे युग मे सत्र का आविष्कार और शक्ति का सचय भी हमारी सभ्यता आर सस्कृति के लिये आपत्तिजनक हैं।

वह रसानुभूति जो असत्य है अर्थात जो हमारे जीवन की अनेकविध अनु— भूतियो के विरुद्ध है, जिसमे वास्तविकता नही है स्वय मूलहीन होने के कारण नष्ट हो जाती है। सत्य होने पर ही रसानुभूति सम्भव हो सकती है। तुलसी अथवा वाल्मीकि के 'राम', कालिदास की 'शकुन्तला', फिरदौसी के 'रुस्तम और सोहराब', अजन्ता की बुद्ध मूर्तियाँ, तथा इसी प्रकार अनेक राग, रागिनियाँ, चित्र, नृत्य आदि कलाकार की वास्तविक अनुभूति से उत्पन्न होने के कारण परम सत्य हैं। अनन्त नीलाकाश, चचल सरिता, मधुगन्ध के उद्‌गारयुत पुष्प, उषा और सन्ध्या आदि प्राकृतिक दृश्यो के सत्य का तो कहना ही क्या, जो हमारे ज्वलन्त प्रत्यक्ष अनुभव हैं। हमने सौन्दर्य की परिभाषा की अनुभूति का आनन्द' की है। वास्तविक अनुभूति से ही वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन किया जाता है। इस प्रकार 'सत्य' ही 'सुन्दर' हो सकता है और 'सुन्दर' ही 'सत्य' हो सकता है।

(6)

धर्म और नीति से सौन्दर्यानुभूति का क्या सम्बन्ध है ?

मूलत धम एक अनुभव है जिसके चारो ओर मनुष्य ने विश्वासो, धारणाओ, रूढियो, यहा तक कि भ्रान्तियो, का जाल बिछा लिया है। धार्मिक अनुभव मे प्रधान अश परम सत्य का प्रत्यक्ष परिचय है जिसके लिये धार्मिक जीवन की प्रथम भूमि मे प्रार्थना, दीनता, आत्म-शुद्धि और आत्म-समर्पण की भावना रहती है और परिपक्व अवस्था मे उस चरम सत्य के साथ तादात्म्य का अनुभव, अद्‌भुत आह्लाद और ब्रह्मत्व का साक्षात्कार होता है। इससे प्रकट होता है कि सत्यानुभूति का आनन्द

धर्म मे विद्यमान रहता है, और, अनुभूति के आनन्द का नाम ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य-भावना को धार्मिक विश्वासो का बन्धन मानना आवश्यक नही है, किन्तु सौन्दर्य का रस धार्मिक अनुभूति से स्पष्ट और पुष्ट होता है। प्रत्येक देश मे, विशेषत मध्य कालीन योरोप और एशिया मे, धर्म से सत्य के कई अगो का स्पष्टीकरण हुआ। वाल्मीकि के धर्म ने मानव आदर्शों के रूप मे, व्यास ने परम पुरुष के रूप में, बुद्ध ने करुणा, ब्राह्मण-धर्म ने यज्ञ, ईसाई धम ने क्षमा और इस्लामी धम ने विश्व-बन्धुत्व के रूप मे, सत्य का साक्षात्कार कराया जिसके फलस्वरूप अनगिन मन्दिर, स्तूप, मूर्तियाँ, गिर्जे, मस्जिद और मीनारें हमारे लिये सौन्दर्य की सृष्टिया हुईं। ये हमारे धार्मिक अनुभव के सजीव प्रतीक हैं। यहा हमे इतना ही स्मरण रखना आवश्यक है कि धर्म के अतिरिक्त भी सत्य है जिसके अनुभव से सौन्दय का रस उत्पन्न हो सकता है। इसलिये धार्मिक कला के अतिरिक्त भी सौन्दर्य होता है। जीवन के विकास के साथ ज्यो ज्यो सत्य का रूप स्पष्ट होता है और इसके नवीन भाग और स्तर प्रकट होते हैं, त्यो-त्यो सौन्दर्य का भी विस्तार होता है।

नीति धर्म की सहचरी है। धर्म नैतिक जीवन का लक्ष्य स्थिर करता है और नीति धार्मिक जीवन का माग निश्चय करती है। हमारी सौ दय-भावना, जीवन का परम आदर्श होने के कारण, नीति का विरोध नही कर सकती। नैतिकता सत्य का एक रूप है, इससे जीवन मे पवित्रता, धैर्य, सयम का उदय होता है। सौन्दर्य-भावना इस पवित्रता का विघात करके हृदयग्राह्य नही हो सकती। इतिहास मे जैन धर्म नीति-प्रधान धर्म रहा है। इसने तीर्थङ्करो की अनेक मूर्तियो मे, मुद्रा और आसनो मे, इसी पुण्य-भावना और सदाचार को व्यक्त किया है। ये पुण्य-भावना के प्रतीक सत्य और सुन्दर हैं। यहाँ भी हमे नैतिकता के विषय मे सकुचित दृष्टिकोण से बचना चाहिये। सौन्दर्य—भावना को नीति के बन्धन मान्य नही है। सौन्दर्य-भावना सत्य के अनुभव से जीवन के कोने-कोने मे रस का सचार करना चाहती है, इसकी शक्तियो को ऊर्वर और प्रेरणा को उद्बुद्ध करती है। नीति की पुण्य-भावना अपने विधानो से इसे जड नही बना सकती। सत्य स्वय पवित्र है। उसके लिए नैतिक बन्धन अनावश्यक हैं। सत्यानुभूति से उत्पन्न सौन्दय की पवित्रता नैतिक पवित्रता से ऊँची है। इसलिये सौन्दर्य उस पवित्र सत्य का उद्घाटन करता है जो नैतिक सत्य से अधिक व्यापक है। इसीलिये सौन्दर्य की जननी कला साक्षात् नीति का उपदेश करना अपने उच्च पद के लिये हेय समझती है। वैसे भी, नीति प्रवृत्ति और भावनाओ मे अपने विधि-निषेधमय नियमो द्वारा पवित्रता उत्पन्न करती

है। सौन्दर्य-भावना हृदय मे कोमलता माधुय और रस का उद्रेक करती है, जिसके लिये बन्धनो से मुक्ति आवश्यक है। इसलिये भी नैतिक पवित्रता और सौन्दय-भावना का अनिवाय सम्बन्ध नही है। जिस प्रकार सत्य की पवित्रता नैतिक पवित्रता से व्यापक है, उसी प्रकार सौन्दय स्वय पवित्र है, और, इसकी पवित्रता नैतिक पवित्रता से अधिक व्यापक, मधुर और गम्भीर है।

रूप, भोग और अभिव्यक्ति

प्रकृति मे दिव्य सौन्दय का साक्षात्कार करने वाले अग्रेज कवि वड्सवर्थ* ने कहा है कि हमारी बुद्धि वस्तुओ के सौन्दय को विकृत बना देती है, क्योकि इसका काम विश्लेषण करना है और विश्लेषण मानो सुन्दरता की हत्या है। यह सच है कि तक-ककश बुद्धि द्वारा हम वस्तुओ के सौन्दय का अवगाहन नही कर सकते। तक-के लिए 'नटराज' की मूर्ति अथवा 'अजन्ता' का चित्र केवल कुछ रगो, रेखाओ और मुद्राओ के, बुद्धि के लिये अगम्य किन्तु भावना के लिये गम्य, सस्थान मात्र हैं। यहा हमे दो बाते समझने योग्य हैं (1) तक बुद्धि की एक प्रक्रिया है जिसका ज्ञान सम्पादन के लिये विशेष उपयोगी है, कि तु बुद्धि का काय और भी है। वह हमारी विविध अनुभूतियो को स्पष्ट बनाती है और उनमे सामञ्जस्य उत्पन्न करके 'सत्य' के स्वरूप का निश्चय करती है। बुद्धि और भावना मे वही सम्बन्ध है जो 'सत्य' और 'सौन्दय मे है। बुद्धि सत्य को विशद बनाती है और भावना उसको हृदयङ्गम करके उनका आस्वादन करती है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध उसी समय विकृत अथवा विच्छिन्न होता है जब हम बुद्धि से भावना का अथवा भावना से बुद्धि का दमन करने लगते हैं। वस्तुत एक के विकास अथवा ह्रास का दूसरी के विकास तथा ह्रास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। (2) सौदर्य के शास्त्रीय अध्ययन के लिये सुन्दर वस्तु और सौन्दय भावना का स्पष्ट होना आवश्यक है। स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये विश्लेषण एक प्रकार है। सौन्दर्य-शास्त्र इसी उद्देश्य से वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयोग करता है। शास्त्र का मूल अभिप्राय सौन्दर्य का आस्वादन कराना नही है, वरन् ज्ञान के सम्पादन से बुद्धि मे 'प्रसाद' उत्पन्न करके भावना मे सौन्दय-आस्वादन

---

* "Our meddlıng ıntellect,

Mısshapes the beauteous forms of thıngs,

We murder to dıssect"

की क्षमता उत्पन्न करता है। अतएव हम इस अध्याय मे सौन्दय के तत्त्वो का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करेंगे।

किसी सुन्दर वस्तु को लीजिये, जैसे, आकाश, ताजमहल, अथवा कोई नृत्य। इस वस्तु मे तीन तत्त्व प्रतीत होते है—(1) वह पदाथ जिससे इस वस्तु का कलेवर बनता है, जैसे ताजमहल मे दुग्ध धवल प्रस्तर-खड आदि, आकाश मे नीलिमा तथा तारक प्रकाश और नत्य मे नत्तक एव उसकी गति। इस तत्त्व का हम 'भोग' कहेगे। यह उसका साधारण अनुभवगम्य और भौतिक भाग है। (2) सुन्दर वस्तु मे अवयवो के सस्थान अथवा आकार की विशेषता होती है। समान पदाथ से हम दो भिन्न आकारो की रचना कर सकते हैं, जैसे, हम उसी पत्थर से एक मन्दिर और एक गिर्जे का निर्माण कर सकते हैं जिनमे आकृति की भिन्नता हो। सुन्दर वस्तु का विशेष आकार उसका दूसरा तत्त्व है जिसे हम 'रूप' कहेगे। (3) भोग और रूप तत्त्व यद्यपि स्वय अपने प्रभाव के कारण आह्लाद उत्प न करते हैं, किन्तु साथ ही, ये गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति के व्यञ्जक भी होते हैं, जैसे किसी रूप से शान्ति, किसी से चिन्ता, भय, उल्लास आदि अनेक अनुभव व्यक्त होते हैं। हम सुन्दर वस्तु के बाह्य कलेवर को अनेक अनुभूतियो का वाहन बनाकर उसके सौदर्य को गम्भीर और आध्यात्मिक बना देते हैं। वह तीसरा तत्त्व है जिसको हम 'अभिव्यक्ति' कहेगे। निम्नलिखित भाग मे इन्ही तीनो तत्त्वो का निरूपण है।

(2)

सौन्दय का 'वास्तविक' आधार भोग तत्त्व है। इस तत्त्व का आस्वादन मनुष्य अपनी स्वाभाविक सौन्दर्य चेतना द्वारा करता है। बुद्धि और सस्कृति का विकास होने पर यद्यपि सौदर्य मे रूप और अभिव्यक्ति का आस्वादन सम्भव हो जाता है, तथापि हमारी मूल रुचि भोग के प्रति वैसी ही बनी रहती है। शिशु के लिये भोग ही सुन्दर वस्तु का आकषण होता है, वह रूप और सौन्दर्य की आध्यात्मिक अभिव्यञ्जनाओ से अपरिचित होता है। क्रोचे नामक एक इटेलियन दाशनिक के अनुसार तो शिशु की आखो से देखे गये जगत् का सौन्दय ही वस्तुत सौन्दर्य है। मानसिक विकास के कारण तथा सामाजिक जीवन की जटिलता के कारण, हमारी आदिम सौन्दय चेतना वैज्ञानिक, नैतिक और व्यावहारिक क्रियाओ से मानो ढक जाती है। फलस्वरूप हमारे जीवन मे आनन्द का एक बृहत मूल स्रोत प्रौढ होने पर अवरुद्ध हो जाता है। अतएव सौन्दर्य का अनुभव करने के लिए अन्य क्रियाओ को स्थगित करके शिशु की आनन्द-चेतना को जाग्रत करना चाहिए। क्रोचे महोदय कहते हैं कि

सौन्दर्य का एकतान अनुभव करने वाले कवि, चित्रकार, मूर्तिकार आदि के मुख पर शिशुता की झलक प्रौढ़ होने पर भी बनी रहती है।

सुदर वस्तु के भोग मे सर्व-प्रथम का रग का स्थान है। यहाँ हम यह नही कहना चाहते कि रगो का सम्बध हमारी मानसिक अवस्थाओ से है, अथवा, आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार वे हमारी अचेतन और गम्भीर अनुभूतियो के वाहक है, अथवा, यह कि रग से वस्तुओ का रूप स्पष्ट होता है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कुछ रग, अथवा विशेष अवस्था और अवसर पर विशेष रग, प्रिय होते है। रगो की स्वाभाविक प्रियता का वैज्ञानिक कारण हमे विदित नही। हम इतना जानते है कि रग रगीन वस्तु का गुण नही है, किन्तु इसका मूल सूय का सतरगी प्रकाश है। जो वस्तु हमे हरित अथवा नील प्रतीत होती है, वह सूय के प्रकाश मे से सभी वर्णों को मानो अपने मे समाविष्ट करके केवल हरित अथवा नीली किरणो को बाहर फेंकती है। इसी से वह हमे हरित अथवा नीली प्रतीत होती है। रग प्रकाश का ही एक रूप है जिसका मूल स्रोत सप्ताश्व सविता है। प्रकाश का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भव है प्रकाश-स्वरूप होने के कारण रगो का भी जीवन शक्ति और जीवन की वेदनाओ से गहरा सम्बन्ध हो। यह सम्बन्ध इनकी प्रियता का भी कारण हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक रग प्रकाश की एक किरण है जो रश्मि (रस्सी) के रूप मे हमे साधारणतया दिखाई पडती है। विश्लेषण करने पर एक रश्मि अत्यन्त लघु कणो का निरन्तर प्रवाह मात्र है। सूय से प्रतिक्षण अनन्त प्रकाशकण अथवा स्फुलिङ्ग छूटते रहते हैं। प्रत्येक वण के प्रकाश-कणो की विशेष लम्बाई और गति होती है। सम्भव है रगो की प्रियता का स्वाभाविक कारण इन्ही कणो की गति, शक्ति अथवा लम्बाई इत्यादि हो। अथवा शरीर-विज्ञान के अनुसार मनुष्य के चक्षु यन्त्र में एक विशेष आकार और शक्ति वाले जीवकण ही रगो को ग्रहण करते हैं। सम्भव है चक्षु की क्रिया से मस्तिष्क मे उत्पन्न होने वाली विशेष सवेदना से वर्णों की प्रियता का सम्बन्ध हो। कुछ भी हो, रगो मे स्वाभाविक भोग्यता की क्षमता अवश्य है ठीक उसी प्रकार जैसे मनुष्य मे उनके भोग की क्षमता है।

रगो के अतिरिक्त हम ध्वनि के माधुर्य तथा स्पर्श, गन्ध, रस आदि के सुख भोग के लिये भी समर्थ हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ केवल ज्ञान के ही द्वार नही हैं वे अनुरञ्जना उत्पन्न करने के लिए भी उपयुक्त हैं। प्रकृति ने ज्ञान और रस को पृथक् नहीं किया है, प्रत्युत इन दोनों का सफल समन्वय हमारी इन्द्रियो के अनभव

मे किया है। ज्ञानेन्द्रियो के द्वार से प्राप्त अनुभति का सुख सौन्दर्य-चेतना का प्रधान अश है। यहाँ इतना ही स्मरण रहे कि इस सुख मे वासना और पशु प्रवृत्ति की अशिव' तृप्ति मम्मिलित न होनी चाहिये। ध्वनि वर्ण, स्पश आदि स्वय अपने प्रभाव से हा बिना वामना तृप्ति के भी, आनन्द उत्पन्न करने के लिये समथ होते हैं। न केवल इनका प्रत्यक्ष अनुभव ही, जैसा कि प्रकृति अथवा कला द्वारा निर्मित सुन्दर पदार्थो मे होता है, बल्कि इनकी कल्पना भी आह्लाद उत्पन्न करती है। साहित्यकार शब्दो और छन्दो के प्रयोग से न केवल ध्वनि के माधुय का, वरन् शब्दो की अनेक अर्थों का उदघाटन करने वाली शक्ति द्वारा, अनेक वर्णों, स्पर्शो, गन्धो और रसो की भी सजीव अनुभूति उत्पन्न करने मे समथ होता है। कालिदास, वाल्मीकि व्यास शेक्सपियर आदि महाकवियो की वाणी मे सगीत का माधुय तो है ही, साथ ही उसमे अनेको दिव्य वण, स्पर्श, रस, गन्ध आदि का अपूव और प्रबल प्रवाह भी है। ये कवि हमे कल्पना के ऐसे जगत मे अपने मनोमोहक शब्दो द्वारा ले जाते हैं जिस जगत् मे हमारे अनुभूत ससार के अनुकूल किन्तु अदभुत वर्णों का विलास और दिव्य ध्वनियो का सगीत रहता है, जहा पारिजात के पुष्पो का आसव, दिव्य अन्नो और फलो का रस तथा वणनातीत स्पश विद्यमान रहते हैं। वस्तुत अनुभूति का यह आदिम भोग वस्तुओ के सौन्दर्य का आधार है।

मानो प्रकृति सौन्दर्य के इस रहस्य को समझ कर ही अपनी कृतियो मे रग, ध्वनि, स्पश, गन्धादि का प्रचुर प्रयोग करती है। पुष्पो के ससार को देखिये। मानो प्रकृति मानव-सौन्दय चेतना की परम तुष्टि के लिये नाना वर्ण, रस, गन्ध और कोमल स्पश का विराट् आयोजन करती है। आकाश के सौन्दय का रहस्य उसकी प्रिय नीलिमा तथा उसमे इतस्तत बिखरे हुए हीरे के कणो की भाँति तारा-गण हैं। आकाश का अनन्त विस्तार, उसमे क्षण क्षण मे नवीन होने वाला विविध वर्णो का विन्यास, हस की भाति उडता हुआ चन्द्रमा तथा अरुण सहित सप्ताश्व सूय, इत्यादि सौन्दय की दृष्टि से अक्षय और अपरिमेय आनन्द के निधान है। इसी प्रकार अनन्त हरित वण वन-विस्तार, नील-वण ममुद्रो का अछोर प्रसार, धवल सुवण असख्य हिम-गिरि के शिखर इत्यादि, सभी इन्द्रिय-भोग के लिये पर्याप्त प्राकृतिक साधन हैं। इन वस्तुओ मे 'विस्तार' साधारणतया 'विन्यास का अभाव' अथवा विन्यास की 'अपूर्वता' 'नवीनता' 'विविधता' और वण, ध्वनि, स्पर्श आदि की 'स्वाभाविक प्रियता' ही इनके अपूर्व सौन्दय के मूल कारण है। विन्यास अथवा रूप के अभाव का हम सौन्दय का मूल इसलिये मानते है कि विन्यास से कृत्रिमता' का आभास होता है। यदि आकाश मे तारे किन्ही डिजाइनो मे विन्यस्त होते तो उसमे

रूप का सौन्दर्य अवश्य अधिक हो जाता, किन्तु उसका स्वाभाविक वर्ण-सौन्दर्य कम हो जाता। हमारी बुद्धि विन्यास को समझ सकती है। इसलिये आकाश में विन्यस्त तारिकाओं के डिजाइन भी समझ में आ जाने से हम इसके सौन्दर्य की 'थाह' पा जाते। इस समय तो बुद्धि आकाश में कोई विन्यास न पाकर मानो चकित हो जाती है, और, उधर हृदय नीलिमा में बिखरे हुए प्रकाश बिन्दुओं के स्वाभाविक आकर्षण से अक्षय मोद पाता है। आकाश के सौन्दर्य के इस विश्लेषण से सौन्दर्य-शास्त्र का एक सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। वह यह कि वस्तुओं में स्वाभाविक सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिये विन्यास का अभाव आवश्यक है जिससे बुद्धि चकित और हृदय हर्षित हो जाते हैं।

(3

भोग्य पदार्थों के विन्यास से 'रूप' का आविर्भाव होता है। अनेक रेखा, बंकों और वर्णों के विशेष संयोजन से चित्र तथा अनेक ध्वनियों के विशेष संगठन से गीत उत्पन्न होता है। उन्हीं वर्णों अथवा ध्वनियों के विन्यास को बदलने से एक नवीन 'रूप' उत्पन्न हो सकता है। रूप के अध्ययन में हमें यह समझना आवश्यक है कि यह गुण भोग-पदार्थों में निहित होते हुए भी उनसे पृथक् है। भोग्य पदार्थ इसके 'अवयव' हैं और रूप 'अवयवी' है; वे भिन्न रह कर अपने गुणों की विशेषता रखते हैं, किन्तु रूप अभिन्न, अखण्ड और व्यापक होता है। 'रूप' यद्यपि अवयवों के संगठन से उत्पन्न होता हैं, तथापि यह स्वयं किसी अवयव में नहीं रहता और न अवयवों के केवल निरर्थक समूह में ही रहता है। रूप अनेकों की सार्थक एकता से उत्पन्न 'व्यापक और अखण्ड गुण है जिसका बोध सौन्दर्य-चेतना के विकास-क्रम में पर्याप्त बौद्धिक जागृति के अनन्तर सम्भव होता है।

बालक अपने खेलने की वस्तुओं से अनेक प्रकार की रचना करता है; वह खिलौने से व्यूह बनाता है, ईंटों को इकट्ठा करके कुछ योजना बनाता है। यद्यपि प्रौढ़ की दृष्टि में इसका विशेष महत्त्व नहीं प्रतीत होता, तथापि बालकों के ये खेल सौन्दर्य-शास्त्र के लिये कुछ सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हैं : (1) मनुष्य में रचनात्मक प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसका विकास होने पर यह चित्र-कला, वास्तु-कला, स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला आदि की जननी होती है। इसी प्रवृत्ति से कारीगरी, शिल्प और भाँति-भाँति के कौशलों की भी उत्पत्ति होती है। (2) इस रचनात्मक प्रवृत्ति से 'रूप' उत्पन्न होता है। शिल्प और कौशल में 'रूप' के साथ 'उपयोगिता का भी सम्मिश्रण रहता है; कला में 'रूप' स्वयं अपने प्रभाव से आनन्द की अनुभूति

उत्पन्न करता है। इसलिये वह रूप सुन्दर कहलाता है। (3) रचनात्मक प्रवृत्ति से रूप का आविष्कार करना एक आनन्ददायक मानसिक और शारीरिक क्रिया है, जिस आनन्द के लिये बालक खिलौनों से व्यूह बनाता है, ध्वनियों को गुनगुना कर गीत गाता है तथा गायक, चित्रकार, मूर्तिकार आदि स्वरों, वर्णों और प्रस्तर-खण्डों को संगठित करके संगीत, चित्र और मूर्ति का निर्माण करते हैं। न केवल 'रूप' ही आनन्द का निधि होता है, रूप का आविष्कार करने वाली कल्पना, अन्य मानसिक क्रियाएं तथा शरीर, स्नायु आदि की चेष्टाएं भी अपूर्व आह्लाद को उत्पन्न करती हैं। (4) नवीन, अभूतपूर्व, आनन्द-वर्द्धक तथा सुन्दर 'रूप' का आविष्कार करने के लिये पर्याप्त मानसिक विकास और 'रूप' की रूपता को हृदयङ्गम कराने में समर्थ स्वाभाविक क्षमता की आवश्यकता होनी है। इम स्वाभाविक क्षमता को हमें 'कलात्मक प्रतिभा' अथवा 'सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिभा कहते हैं।

अब हम 'रूप' के संकुचित अर्थ को छोड़ कर इसके व्यापक अर्थ का निरूपण कर सकते हैं। संकुचित दृष्टि से तो केवल चक्षु के द्वारा ही रूप का निरूपण किया जाता है, किन्तु व्यापक अर्थ में 'रूप' का अर्थ विन्यास, संयोजन, संगठन, संघटना अथवा व्यवस्था किया जा सकता है जिससे 'अनेकों' में 'एकता' का बोध होता है। इससे ध्वनि में भी 'रूप' होता है जिससे संगीत का जन्म होता है। 'गति' में भी रूप होता है जिससे 'नृत्य' की अनुभूति उत्पन्न होती है। अनेकों क्रियाओं की समष्टि का नाम जीवन और विभिन्न अनुभवों की व्यवस्था का नाम विज्ञान है। इस दृष्टि से तो जीवन और विज्ञान भी 'रूप' बिना नहीं होते, और इसी से ज्ञान और जीवन दोनों में ही 'रूप', 'सौन्दर्य,' और 'आनन्द' की पर्याप्त मात्रा रहती है। रूप-युक्त होने के कारण सत्य सुन्दर होता है। वस्तुतः जिसे सौन्दर्य की दृष्टि से 'रूप' अर्थात् 'अनेकों की एकता' कहते हैं, वही विज्ञान में 'सत्य' अर्थात् अनेक अनुभूतियों का सामञ्जस्य कहलाता है। अतएव सत्य और सुन्दर एक ही पदार्थ के विभिन्न दृष्टिकोणों से दो नाम हैं।

यहाँ हमें स्मरण रहना चाहिए कि गन्ध, स्पर्श और रस आदि अनुभवों में संयोजन की असम्भावना के कारण 'रूप' भी सम्भव नहीं होता। अतः ये अनुभव दृश्य और श्रव्य रूपों के द्वारा केवल व्यञ्जित किये जाते हैं।

'रूप' तीन रूपों में हमें दृष्टिगत होता है। (1) **ज्यामितिक रूप—रेखा—** सरल अथवा वक्र—ज्यामितिक रूप का सरलतम आकार है। सरल और वक्र रेखाओं से समानान्तर, त्रिभुज, चतुर्भुज, बहुभुज क्षेत्र तथा वृत्त, अर्द्धवृत्त, बंक,

अण्डाकार आदि अनगिन आकारों का निर्माण होता है। सरल और कुटिल रेखाओं से निर्मित आकृतियों के संयोजन से रूप के नवीन और जटिल भेदों का आविष्कार होता है। भाँति-भाँति के डिजाइन ज्यामितिक रूप के भेद हैं। हमारे जीवन में यह रूप व्यापक है। भवनों, भित्तियों में, राज-मार्गों और नगरों में जहाँ कहीं निर्माण की समस्या है, वहीं ज्यामितिक रूप विद्यमान रहता है। रूप सम्बन्धी जिन चार सिद्धान्तों का हमने ऊपर उल्लेख किया है वे सब ज्यामितिक रूप में पूर्णरूपेण लागू होते हैं।

(2) रूप के दूसरे रूप को हम 'सजीव' कहेंगे। ज्यामितिक रूप में गति का बहुधा अभाव* रहता है। उसमें स्थिरता रहती है और रहती है नियम और निश्चय की कठोरता। प्रत्येक ज्यामितिक आकृति गणित के सामान्य नियमों का पालन करती है। इस स्थिरता और कठोरता में निरन्तर परिवर्त्तनशील, गतिशील, 'जीवन' का टिकना असम्भव है। अतएव जब और जहाँ 'जीवन' में 'रूप' का आविर्भाव होता है, हम उसे सजीव रूप कहते हैं। ध्वनि स्वयं प्रवाह है, गति भी जीवन की भाँति ही धारामय है। इसलिये 'संगीत' और 'नृत्य' में जो रूप होता है वह सजीव रूप का उदाहरण है। मानव-शरीर, अथवा पशु-शरीर, वनस्पति, पेड़, पौधे आदि के शरीरों में हम जिस रूप का अनुभव करते हैं वह जीवन का रूप है जिसमें नियमों के शासन के साथ वृद्धि और परिवर्त्तन, शक्ति और विकास का भी प्रभाव विद्यमान रहता है।

(3) तीसरे रूप को हम प्रतीक कहते हैं। प्रतीक अपने रूप द्वारा अपने से भिन्न किसी सूक्ष्म अनुभूति को व्यक्त करता है। प्रतीक केवल किसी अव्यक्त अनुभूति का व्यक्त वाहन होता है, जैसे कमल निष्पाप सौन्दर्य का प्रतीक है, तथा अनेकों मुद्राएं मानसिक भावों को व्यक्त करने के साधन मात्र हैं। प्रतीक वस्तुतः काल्पनिक चिह्न है, जैसे हम 'सिंह' अथवा 'हाथी' के रूपों में आत्म-विश्वास, शक्ति, जीवनोल्लास आदि को सूचित करते हैं। मीनार की ऊँचाई से जीवन की उच्चता, गुम्बद की गोलाई से अनुशासन की व्यापक शक्ति, चक्र से संहारक शक्ति, जल की लहरों से जीवन की ऊर्वरता आदि का बोध होता है। इन सब दशाओं में प्रतीक के रूप से भी प्रतीति की महत्ता अधिक रहती है।

प्राकृतिक और कलात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य में रूप के ये तीनों भेद देखे जाते हैं।

(4)

रूप किन दशाओं में सुरूप और किन दशाओं में कुरूप हो जाता है?

---

*वर्ग, आयत आदि आकारों में रेखाओं के परस्पर सम्बन्ध से तनाव पैदा होता है, गति नहीं। सीधी लम्ब रेखा (⊥) स्थिर खड़ी है। उसे झुका दीजिये (∠) किसी कोण से (∠) तो तनाव पैदा होता है।

यह निश्चित ही समझना चाहिए कि रूप में सुख के अनुभव से 'सुरूप' और सुख के अभाव से 'कुरूप' का आविर्भाव होता है। सुख और दुःख वस्तु के गुण नहीं, किन्तु अनुभविता आत्मा के गुण हैं। यदि 'अनेक' अवयवों को 'एक' अथवा 'समग्र' आकार में ग्रहण करने में आत्मा को कठिनाई का अनुभव होता है, अथवा, 'अनेक' पृथक् ही रहते हैं और वे एकता में गुम्फित ही नहीं है, अतएव उनमें एकता का अनुभव ही सम्भव नहीं, तो अनुभविता आत्मा स्वयं इस विभिन्नता और अनेकता में अस्त-व्यस्त हो उठती है। हम यहाँ यही कहेंगे कि वस्तुतः रूप सुखद होने के कारण सुरूप होता है, और, कुरूप वस्तु में रूप का अभाव रहता है। जिस प्रकार विस्तृत व्याख्यान में, लम्बे कथानक में, विशाल उद्यान में विविधता होने पर एकता रहने के कारण ही वे समझ में आने योग्य और सराहने योग्य होते हैं और एक-सूत्रता के अभाव में उनसे बुद्धि को भारी आघात, भ्रम और श्रम-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार अनेक स्वरों में एकता अथवा संगीत के अभाव से, अनेकों रेखा और वंकों के इतस्ततः बिखरे हुए असम्बद्ध समुदायों में व्यवस्था के अभाव से हमारी सौन्दर्य चेतना को आघात, भ्रम और श्रम का अनुभव होता है। हम इसी मानसिक श्रम का वस्तु पर आरोप करके उसे 'कुरूप' कहते हैं।

'सुरूप' में और भी कई गुण होते हैं। रूपगोस्वामी ने इन गुणों की व्याख्या इस प्रकार की है। यदि वे अवयव जिसके संगठन से 'रूप' का आविर्भाव होता है स्वयं भी, अलग-अलग अपने भोग्य गुणों के कारण आस्वादन के योग्य हों, तो वह रूप 'मधुर' कहलाता है। यदि संगीत में प्रत्येक स्वर, नृत्य में प्रत्येक अङ्गहार, चित्र में प्रत्येक वर्ण और रेखा, रूपवती के शरीर में प्रत्येक-अंग स्वयं अपने गुण से आह्लाद उत्पन्न करते हैं तो इन अवयवों के सम्मिलन से उत्पन्न 'रूप' में माधुर्य गुण जाग्रत हो उठता है। रूप के आस्वादन में यद्यपि 'समग्र' रूपवान् पदार्थ का ही आस्वादन किया जाता है, तथापि हमारी सौन्दर्य-भावना प्रत्येक अवयव और खण्ड का अवगाहन करती है। वह प्रत्येक खण्ड के अवगाहन से कभी अखण्ड रूप की ओर, कभी अखण्ड रूप का आस्वादन करके खण्डों की ओर लौटती है। हमारे अवधान की यह पुनः-पुनः होने वाली आकर्षण-विकर्षण क्रिया स्वयं चित्त में चमत्कार उत्पन्न करती है। निश्चय ही यह चमत्कार मधुर होता है। किसी 'समग्र' में 'अवयवों' का यह चमत्कारी गुण 'माधुर्य' कहलाता है।

अवयवों से गुम्फित 'समग्र' में, प्रत्येक खण्ड विभिन्न होते हुए भी विरोधी

नहीं होता, अर्थात् कोई अवयव समग्र के विपरीत भावना को उत्पन्न नहीं करता। अवयवों के इस उचित और अविरोधी विन्यास को रूपगोस्वामी ने 'सुन्दर' कहा है। भावना की एकता अथवा प्रभाव का समन्वित होना हमारी सौन्दर्य-भावना के लिये आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार जैसे अनुभव में सामंजस्य 'सत्य' के लिए आवश्यक है। सामंजस्य के अभाव से जिस प्रकार बुद्धि को आघात पहुँचता है, उसी प्रकार समन्वित प्रभाव के उत्पन्न न होने से भावना पर भी आक्रमण होता है। अतएव रूप-गोस्वामी अवयवों के उचित संस्थान से उत्पन्न, अविरोधी समन्वित प्रभाव को 'रूप' का प्राण मानते हैं।

सजीव रूप में यदि अवयव इस प्रकार गुम्फित हैं कि उनमें तरलता, जीवन का ओज और तरङ्ग की प्रतीति होती है तो हमें रूप में 'लावण्य' का अनुभव होता है। बहुधा रूप-सुन्दरी के शरीर में अवयवों की तरङ्गायमान योजना को लावण्य कहते हैं। यदि यही गति और ओज, तरङ्ग और तरलता, अनुभूति हमें ज्यामितिक रूप में होती हैं तो इसे रूप का 'उदारता' गुण माना जाता है। लावण्य और उदारता, ये रूपगत 'जीवन' का अनुभव उत्पन्न कराने वाले गुण हैं। कवि श्रीहर्ष दमयन्ती के रूप का वर्णन करते हुए कहता है कि वह अपने 'उदार' गुणों के कारण धन्य है जिनसे नल भी स्वयं 'आकृष्ट' हो गया है क्योंकि चन्द्रिका की इससे बढ़ कर महिमा क्या होगी कि इससे समुद्र भी स्वयं 'तरल' हो उठे।* रूप में आकर्षण का मुख्य कारण यही लावण्य और उदारता नामक गुण होते हैं जिनसे हमें 'जीवन' का साक्षात् अनुभव होता है।

(5)

आधुनिक सौन्दर्य-विज्ञान रूप-गत गुणों को 'सापेक्षता' (Proportion), 'समता' (Symmetry), संगति (Harmony) और सन्तुलन (Balance) आदि से निर्दिष्ट करता है। यहाँ सापेक्षता का अर्थ है: रूप का वह गुण जिसमें प्रत्येक खण्ड दूसरे खण्ड से निरपेक्ष अथवा असम्बद्ध नहीं, किन्तु सम्बद्ध और सापेक्ष है। केवल अवयवों के समूह से 'रूप' उत्पन्न नहीं होता, जैसे ईंटों के ढेर से भवन अथवा फूलों के ढेर से माला नहीं बनती। 'योजना' के अनुसार खंडों का संयोजन रूप का उत्पादक होता है। योजना के द्वारा ये खण्ड इस प्रकार ग्रथित होते हैं कि प्रत्येक का उचित स्थान 'समग्र' में नियत होता है, प्रत्येक खण्ड दूसरे की अपेक्षा रख कर ही

*धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि। इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।

'समग्र' के उत्पादन में भाग लेता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में प्रत्येक खण्ड केवल स्थिर, जड़, निष्क्रिय खण्ड ही नहीं होता, वरन् वह एक सजीव अङ्गी का अङ्ग, व्यापक, अखण्ड रूप में साथ भाग लेने वाला तथा समग्र का सक्रिय, गतिशील अवयव होता है। किसी मानव-शरीर, चित्र, संगीत आदि रूपवान् पदार्थ के अवयवों की परस्पर सापेक्षता अथवा साकांक्षता आवश्यक होती है।

सापेक्षता के लिये हम किसी बिन्दु विशेष को मूल-बिन्दु मानते हैं और दूसरे अङ्गों और खण्डों को इसी बिन्दु की अपेक्षा से नापते हैं। जैसे, किसी ज्यामितिक डिजाइन में हम किसी रेखा, वृत्त, बंक आदि को मूल मान कर उसकी अपेक्षा रखते हुए दूसरे आकारों का निर्माण करते हैं। निरपेक्ष रहने पर वह डिजाइन ही न बन सकेगा। 'समता' के लिये हम किसी रेखा को आधार मान कर उस रेखा के इधर-उधर अथवा चारों दिशाओं में चलते हैं और परस्पर सापेक्ष खण्डों की पुनरावृत्ति पाते हैं। मानव शरीर सापेक्षता और समता का उपयुक्त उदाहरण है। शरीर में, यदि वह रूपवान् है तो, प्रत्येक अवयव दूसरे की अपेक्षा रखता हुआ बड़ा, छोटा होना चाहिए। बहुत बड़े शरीर में छोटा सिर कितना विरूप प्रतीत होता है। सुन्दर शरीर में एक रेखा के दोनों ओर अवयवों की रचना इस प्रकार होती है, मानो एक ओर का भाग दूसरे की केवल पुनरावृत्ति या प्रतिरूप है। ऐसा शरीर 'सम' (Symmetrical) कहलाता है। संगीत में भी आरोह और अवरोह की गति, स्वरों का उत्थान और पतन, चित्र में रेखा, बंक, वर्ण आदि की गति और उतार-चढ़ाव, ज्यामितिक रूप में तो कहना ही क्या, जहाँ कहीं अवयव अपनी अङ्गी के साथ और परस्पर किसी बिन्दु और रेखा को आधार मान कर बनाये जाते हैं, वहाँ 'सापेक्षता' और 'समता' गुणों से रूपमात्र सुरूप हो उठता है।

संगीत का अर्थ विरोध का अभाव है। वस्तुतः संगति रूप का प्राण है और रूप के अन्य गुण इसी के अन्तर्गत रहते हैं। अनेकों की एकता को रूप कहते हैं, और, अनेकों में सामञ्जस्य और समन्वय से संगति उत्पन्न होती है। जहां हम रेखा आदि की अभिव्यञ्जक शक्ति का उल्लेख करेंगे, वहाँ हम संगीत के स्वरूप की विशेष व्याख्या करेंगे। यह हमें समझ लेना चाहिये कि रूप की भाँति ही संगति भी व्यापक तत्त्व है। काव्य, नाटक, उपन्यास, चित्र नृत्य, संगीत तथा प्राकृतिक सुन्दर वस्तुओं में जहाँ रूप विद्यमान है वहाँ संगति भी विद्यमान रहती है। काव्य को ही लीजिये: किसी मुख्य, परिपक्व रस को केन्द्र मान कर, (जैसे कहीं श्रृङ्गार, कहीं करुण, आदि,) कवि अन्य रसों, अलङ्कारों तथा गुणों से उसी का संवर्द्धन करताहै। इससे काव्य में 'रूप' का आविर्भाव होता है जिसके कारण ही वह कलात्मक कह-

लाने योग्य होता है । रूप के अभाव में रस-परिपोष तो होगा ही नहीं, अन्य सभी काव्य के तत्त्व इतस्ततः बिखर जायेंगे। उनमें एक-सूत्रता केवल रूप से उत्पन्न हो सकती है । इसी प्रकार चित्र आदि में भी अनेकों तत्त्वों की संगति से ही 'रूप' का उदय हो सकता है । नाटक, आख्यान आदि में एक प्रमुख भावना 'बीज' से लेकर 'निर्वाह' तक कई भूमियों में से होकर जाती है। भावना के 'आरोह' में संकट (Crisis) उपस्थित होता है और तदुपरान्त वह एक चरम-बिन्दु (Climax) को स्पर्श करके उपराम (Denouement) को प्राप्त होती है। नाटक, नृत्य, उपन्यास आदि में भावना के इस आरोह-अवरोह में 'रूप' स्पष्ट झलकता है, जिसके बिना कोई कला-कृति बुद्धि को भ्रम में डाल सकती है, उसे आनन्दित नहीं कर सकती। यह रूप भी अनेक तत्त्वों की संगति से ही उत्पन्न होता है ।

संगति के स्वरूप पर विचार करते हुए ह्वाइटहैड नामक दार्शनिक कहता है कि जब अनेकों तत्त्व किसी योजना में इस प्रकार संघटित हों कि एक दूसरे का विघात न करके वे परस्पर गौरव और प्रभाव की वृद्धि करें, एक स्वर दूसरे स्वर का, एक भावना, अलंकार, घटना, रंग, रेखा और कथन आदि दूसरे के प्रभाव की वृद्धि करें तो इससे एक सन्तुलित रूप का उदय होता है। रूप में अङ्गों के सन्तुलन से एक विशेष चमत्कार उत्पन्न होता है और इससे अभाव में व्यस्तता, एकाङ्गीपन तथा कुछ मानसिक हिंसा का अनुभव होता है ।

साधारणतः हमारी भावनाएँ आवेग के रूप में अनुभव की जाती हैं। हम क्रोध, प्रेम, भय, शोक आदि आवेगों का अनुभव आँधी के झोंके की भाँति करते हैं जिसमें हमें दुःख ही प्रतीत होता है । कलाकार इन भावनाओं को अन्य तत्त्वों, जैसे कथानक, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण आदि के द्वारा 'रूप' प्रदान करता है। भावना रूप को पाकर कलात्मक आनन्द की जननी होती है । इसी भाँति शोक, भय, करुणा, घृणा आदि भावनाएँ भी सुखद प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार चित्र, मूर्ति, काव्य, नृत्यादि में भावना साकार, सजीव और सरूप हो उठती है। भावना के रूप में अनेकों अंगों का विन्यास, सहकारी भावनाओं का समावेश तथा अन्य तत्त्वों की योजना जिस नियम के अनुसार की जाती है, उसे हम 'सन्तुलन' कहते हैं ।

ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के अनुसार, सन्तुलन का सार 'प्रधान-गुण-भाव' का सिद्धान्त है जिसके अनुसार रूप की योजना में भाग लेने वाला प्रत्येक अंग अपने अङ्गी अथवा ~~प्रधान~~ भावना के अधीन रहकर उसकी रक्षा और संवर्द्धन करता है। वह स्वाधीन, प्रबल अथवा विच्युत होकर अपने अंगी का विरोध नहीं करता। मथुरा

की किसी बुद्ध-मूर्ति को लीजिये। इसके प्रत्येक भाग, इसकी गोलाई, मोटाई और दूसरे परिमाण परस्पर सन्तुलित होकर, न अधिक न कम, एक किसी भावना का पोषण करते हैं। भवन, चित्र, मन्दिर, मूर्ति और काव्य, जहाँ सुरूप विद्यमान है वहाँ अवयवों का परस्पर सन्तुलन तथा अङ्गाङ्गिभाव अवश्य ही विद्यमान रहता है।

(6)

सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य-आस्वादन में 'भोग' और 'रूप' के महत्त्व को हम देख चुके हैं। इनका स्वयं एक 'स्वाद' है जिसे हम अपनी स्वाभाविक चेतना से ग्रहण करते हैं। किन्तु मनुष्य अपनी गम्भीर प्रकृति के कारण भोग और रूप को अपने गम्भीरतम और प्रियतम अनुभवों की अभिव्यक्ति का साधन बना लेता है। जिस प्रकार वस्तु और अनुभवों में 'रूप' का आविष्कार और सृजन करना हमारा स्वभाव है : न जाने क्यों अपने चारों ओर व्यवस्था के अभाव से चित्त भी अव्यवस्थित हो जाता है,—उसी प्रकार अभिव्यञ्जना भी स्वाभाविक प्रेरणा है। कुछ विचारकों के अनुसार तो जीवन, हमारा स्वयं शरीर, बनस्पति, पशु, तरल जल-स्रोत, गगन और गगनचारी चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र, सारा दृश्य जगत् विराट् जीवन की अभिव्यञ्जना है, किसी दिव्य कामना का सदेह रूप हैं, ये सब किसी संगीत के मधुर स्वर हैं। शब्द, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, रस, रूप आदि के द्वारा कोई अव्यक्त चेतना स्वयं व्यक्त होना चाहती है। इस दर्शन के अनुसार हम नृत्य, वाद्य, गीत, साहित्य, चित्र आदि में जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करने की व्यापक और स्वाभाविक प्रेरणा को समझ सकते हैं। सचमुच, यह कला का अध्यात्म है।

अदृश्य, अव्यक्त आध्यात्मिक अनुभूतियों को दृश्य रूपों द्वारा व्यक्त करना कला है। यदि अभिव्यक्त सुरूप माध्यम द्वारा होती है, जैसे प्रेम, विरह, विकलता, भय आदि सुरूप नृत्य, काव्य, चित्र अथवा संगीत द्वारा, तो वह अभिव्यक्ति भी स्वयं सुरूप हो उठती है। भय, शोक, करुणा, रौद्र आदि अनुभव स्वयं सुखद नहीं होते, किन्तु सुरूप अभिव्यक्ति के द्वारा ये 'रसों के उत्पादक हो जाते हैं। यहाँ हम 'क्या' अभिव्यक्त करते हैं, इस पर ध्यान न देकर 'कैसे' अभिव्यक्त करते हैं, इसी में रसास्वादन करते हैं। रूप के अतिरिक्त अभिव्यक्ति में नियम और स्वच्छन्दता का सामञ्जस्य आवश्यक होता है। नियम के अभाव में अभिव्यक्ति विरूप हो जायगी, जैसे प्रत्येक मधुर स्वर नियम के बन्धन बिना संगीत उत्पन्न नहीं करता। और, नियम की कठोरता में अभिव्यक्ति जड़ और मृतवत् हो जाती है। इतिहास के उन

युगों में जिनमें नवीन 'रूपों' का सृजन नहीं हो सका तथा कलाकार ने नियम के आतंक को स्वीकार किया, उनमें कला की अभिव्यक्ति निर्बल, रूढ़िग्रस्त और नीरस हुई है। अभिव्यक्ति के लिये 'स्वच्छन्दता' उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार जीवन के लिये प्राण। कला में अभिव्यक्ति ही को सृजन कहा जाता है। कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा रूढ़ि और बन्धनों की अवहेलना करती है, किन्तु अभिव्यक्ति के लिये वह जिन नूतन रूपों और उपकरणों का आविष्कार करती है, वे स्वयं नियम के शासन को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। इसका तात्पर्य है कि कलाकार की उत्पादक प्रतिभा स्वच्छन्द गति से बह कर स्वयं रूप, सापेक्षा, संगति और संतुलन के नियमों का आविष्कार करती है। कलात्मक अभिव्यक्ति अ-रूप को रूप, स्वभावत: नियमहीन को नियम प्रदान करती है। इस दृष्टि से ताजमहल एक ऐसे रूप की अभिव्यक्ति है जिसमें अनेक स्वच्छन्दत: बिखरे हुए श्वेत शिला-खण्डों को कलाकार की कल्पना द्वारा नियमों के शासन में बाँधा गया है।

ओज, माधुर्य और प्रसाद—ये तीन अभिव्यक्ति के गुण हैं। इनमें परस्पर विरोध नहीं है, किन्तु अन्तत: ये विभिन्न मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्ध रखने के कारण सदैव एक ही अभिव्यक्ति में एक साथ नहीं पाये जाते। मानसिक जगत् में आन्दोलन अथवा विलोडन उत्पन्न कर देने वाली अभिव्यक्ति ओजस्विनी कहलाती है। वीर, रौद्र आदि रसों में 'ओज' का अनुभव किया जाता है। आकाश में बादलों की दौड़, जल-प्रपात, तरल स्रोत, वायु-वेग प्रकृति में 'ओज' की अनुभूति के उदाहरण हैं। कलाओं में भी मानसिक 'दीप्ति' उत्पन्न करने की शक्ति को 'ओज' कहा जाता है। माधुर्य का सम्बन्ध मन की सुखानुभूति से है, इन्द्रिय-सुख से नहीं, वरन् गम्भीर आध्यात्मिक सुखानुभूति से है। शृङ्गार रस के अनुभव में—विशेषत: विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण में—माधुर्य का अनुभव होता है। शृङ्गार और काम के अन्तर को हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि इस अनुभव में मृदुता, मार्मिकता, मनोज्ञता का सरस सम्मिश्रण रहता है, जैसे प्रकृति में उपवन, पुष्प-वाटिका, वसन्त और शरद आदि ऋतुओं की सुमन-सम्पदा आदि के निरीक्षण में हमें अनिर्वचनीय माधुर्य का अनुभव होता है। 'प्रसाद' के विषय में विचारकों का कथन है कि यह अभिव्यक्ति का व्यापक गुण है, क्योंकि इसके अभाव में जटिलता, दुरूहता और घृणा के भाव उत्पन्न होकर वस्तु के सौन्दर्य को नष्ट कर सकते हैं। जिस प्रकार ओज के अनुभव में चित्त की 'दीप्ति' और माधुर्य में चित्त की 'विद्रुति' अथवा पिघलना होता है, प्रसाद के विशिष्ट अनुभव से 'चित्त-विस्तार' का अनुभव होता है। हास्य-रस की कला में, विस्तृत हरियाले मैदानों में, खेतों में बिखरी हुई सस्य-सम्पदा,

क्षितिज तक फैले हुए जल-विस्तार आदि के अनुभव में प्रसाद का 'चित्त-विस्तार' रूप आस्वादन मिलता है।

(7)

अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त करना अभिव्यक्ति है। इसके विषय में तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं : (1) अमूर्त्त को मूर्त्त करना कैसे सम्भव होता है? (2) इसके लिये प्रेरणा कहाँ से मिलती है? (3) हम किन अमूर्त्त अनुभूतियों को मूर्त्त करना चाहते हैं?

(1) हम मूर्त्त करने के लिये किसी भौतिक पदार्थ को माध्यम बनाते हैं। सबसे उत्तम माध्यम वही हो सकता है जो हमारी अनुभूति को सबसे अधिक ग्रहण कर सके, जिसमें हमारी आत्मा का सबसे स्पष्ट प्रतिबिम्ब उतर सके, जिसमें सर्वाधिक 'लोच' हो। हीगेल* नामक जर्मन दार्शनिक के अनुसार 'शब्द' हमारी आत्मा के सबसे निकट है। अतएव साहित्य में 'शब्दों' के माध्यम द्वारा हमारा आध्यात्मिक जगत् सबसे अधिक अङ्कित किया जा सकता है। शब्द के अनन्तर 'ध्वनि' में 'लोच' और आध्यात्मिकता है; इसलिये संगीत हमारी अनुभूतियों को मूर्त्त रूप दे सकता है। नृत्य, वाद्य आदि में भी सीधी प्रकार से आत्मा को समूर्त्त बनाने की शक्ति है। इनके अनन्तर रेखा, रंग, घन आदि में उत्तरोत्तर लोच और आध्यात्मिक घटनाओं को ग्रहण करने की शक्ति कम होती है। इसलिये इन माध्यमों द्वारा चित्र, मूर्ति और वास्तु कला में केवल प्रतीकों द्वारा ही आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना सम्भव होती है। आध्यात्मिक अनुभूतियों के बाह्य चिह्न, जैसे उदारता के लिये विशेष हस्त-मुद्रा, बल के लिये वृषभ, हाथी आदि, हीगेल के अनुसार, 'प्रतीक' कहलाते हैं। शब्द, ध्वनि तथा प्रतीकों के माध्यम द्वारा अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त करना सम्भव होता है।

(2) अभिव्यञ्जना के लिये प्रेरणा के दो केन्द्र मानव-इतिहास में रहे हैं। एक तो अन्तर्जगत् की घटनाएं, जैसे, उल्लास, उत्साह, आत्म-विजय, गौरव, समर्पण, प्रेम, क्रोध आदि—साधारण जीवन के अनुभव नहीं जिनके लिये हमें दैनिक जीवन में ही तृप्ति के साधन मिल जाते हैं—वरन् ऐसे गम्भीर अनुभव जिनमें वेदना की इतनी तीव्रता रहती है कि इनकी पूर्ति साधारणतया सम्भव ही नहीं—ये अनुभव मनुष्य को

*संगीत की ध्वनियों में अथवा साहित्य के सार्थक शब्दों में लोच है : इस पर विवाद किया जा सकता है। नीट्शे आदि ने संगीत को श्रेष्ठ और कलाओं का आदर्श माना है।

अभिव्यक्ति के लिये प्रेरित करते हैं। कला, विज्ञान, साहित्य, यहाँ तक कि धर्म व नीति और दार्शनिक सिद्धान्तों का आविष्कार इन्हीं अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना के लिये होता है। प्रेरणा का दूसरा केन्द्र बाह्य जगत् का सौन्दर्य ही है। संसार में पर्याप्त रंग, रूप, ध्वनि है जिसके चित्रण के लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति 'अनुकरण' के रूप में विद्यमान है। बाह्य जगत् के चित्रण और अन्तर्जगत के प्रतिबिम्बन के लिये हमें निरन्तर स्वाभाविक प्रेरणा मिलती है।

(3) हम अपने विचारों को मूर्त्त रूप देने के लिये विज्ञानों की रचना करते हैं। धार्मिक, नैतिक, सामाजिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिये धर्म और धर्म के प्रतीक, नैतिक व्यवस्था और सामाजिक संस्थाओं को जन्म देते हैं। इसी प्रकार व्यवहार के लिये अनेक उपयोगी वस्तुओं, वस्त्रों आदि का निर्माण करते हैं। वस्तुतः हमारी सम्पूर्ण संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और कला अनुभूतियों की ही विभिन्न अभिव्यञ्जनाएँ हैं। हम उन अभिव्यञ्जनाओं को 'सुन्दर' कहते हैं जिनसे हमें 'आनन्द' का लाभ होता है, तथा जिनसे हमारा भावना-जीवन समृद्ध और पुष्ट होता है। सुन्दर अभिव्यञ्जनाओं का लक्ष्य 'आनन्द' की सिद्धि करना है यद्यपि यह आनन्द अन्य भावनाओं के साथ मिश्रित भी रहता है, जैसे 'मन्दिर' के सौन्दर्य में धार्मिक भावना के साथ आनन्द का पुट रहता है। जहाँ कहीं हमें मूर्त्त भावना दिखाई पड़ती है, वहीं हमें सौन्दर्य की अनुभूति होती है।

(8)

सुन्दर वस्तु के विश्लेषण से हमें तीन तत्त्व मिलते हैं जिन्हें हमने भोग, रूप और अभिव्यक्ति कहा है। ये तत्त्व विकास-क्रम में उत्तरोत्तर स्पष्ट हो जाते हैं। जहाँ भोग की उच्चता रहती है, वहाँ रूप और अभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं रहते, जैसे आकाश, वन, समुद्र, पर्वत आदि के सौन्दर्य में। वनस्पति जगत् में, विशेषतः पुष्पों के लोक में, प्रकृति रूप और भोग दोनों का समावेश करती है। इससे आगे पशु-जगत्, विशेषतः मानव-लोक में, भोग, रूप और चेतन-जीवन की अभिव्यक्ति रहती है। मानव-सौन्दर्य में इन तीनों तत्त्वों का अतीव स्वाभाविक सम्मिलन है। शिशु, युवा और युवती के शरीर में भोग और रूप की पराकाष्ठा के साथ चेतन-जीवन के चिह्न—आकांक्षा, अदम्य उत्साह, हार्दिक उल्लास—स्पष्ट रहते हैं। वृद्ध होते-होते यद्यपि भोग और रूप तत्त्व इतने स्पष्ट नहीं रहते, तथापि उसमें अभिव्यक्ति की गम्भीरता, उदारता और आध्यात्मिकता इतनी प्रबल हो उठती है कि 'वृद्ध का

सौन्दर्य' 'युवक के सौन्दर्य' से भी उदात्त और हृदयहारी हो जाता है। सौन्दर्य की दृष्टि से एक तत्त्व की प्रकृष्ट अनुभूति के लिये अन्य तत्त्वों का अस्पष्ट हो जाना आवश्यक होता है। किन्तु तीनों तत्त्वों का एकत्र सम्मिलन, इनका समन्वय और उत्कृष्ट अनुभव विरले ही सम्भव होता है। हम ऐसे सौन्दर्य को लोकोत्तर अथवा दिव्य कह सकते हैं।

सौन्दर्य और आनन्द

यदि हम 'सुन्दर' वस्तु के पार्थिव शरीर पर ध्यान दें तो विश्लेषण के द्वारा उसमे भोग, रूप और अभिव्यक्ति इन तीन तत्त्वो को पाते है। किन्तु सौन्दय का सम्पूर्ण रहस्य उसका पार्थिव रूप मे नही है सुन्दर वस्तु का एक अध्यात्म रूप भी है अर्थात् वह रसिक के हृदय मे एक विशेष अनुभूति का आविर्भाव करती है और कलाकार की एक विशेष अनुभूति से स्वय उत्पन्न होती है। आनन्द इस अनुभूति का प्राण है। सौन्दर्य के सम्पूर्ण अनुभव मे सुन्दर वस्तु का पार्थिव रूप और इसका आनन्दमय आध्यामिक रूप इतने सश्लिष्ट रहते है कि इनके वियुक्त करने से ये दोनो ही विलीन हो जाते है। कोई वस्तु स्वत सुन्दर नही होती जब तक आन"द का अनुभव नही है, और, आनन्द का स्वत वस्तु बिना अनुभव सौन्दय का अनुभव नही होता। सौन्दर्यानुभूति मे पार्थिव रूप और अध्यात्म रूप का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक यदि चेतन आत्मा है तो दूसरा उसका रूपवान्, व्यक्त शरीर है, एक यदि पुष्प है तो दूसरा उसका आह्लादमय सौरभ है, एक यदि स्रोत है तो दूसरा उसका वेग है, एक यदि अग्नि है तो दूसरा उसकी दाहकता है। सुन्दर वस्तु मूर्तिमती अनुभूति है, और अनुभूति स्वय वस्तु के सौन्दय से स्वरूप पाती है।

हम जीवन मे भोग और भाग्य के निरन्तर द्वन्द्व को देखते हैं। जीवन स्वय एक अनन्त कामना है, किन्तु भाग्य का विधान इसकी तृप्ति के लिये कब अवसर देता है? इस सनातन सघष से शोक का आविर्भाव होता है। कुछ क्षण के लिये मनुष्य इससे दूर होकर मोद भी मनाता है स्त्री पुरुष का प्रेम आनन्द का अक्षय निधि है। पुत्र तथा कन्या के प्रति वात्सल्य, इसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति, मैत्री आदि अनेक भाव है जिससे मनुष्य अपना चित्त रञ्जन करता है। सघष को भूल कर कभी वह चन्द्रमा रात्रि, उषा, आकाश पर्वत, स्रोत, मैदान आदि प्राकृतिक पदार्थों से आनन्द पाता है। कभी विराग से सघर्ष का शोधन करता है, इससे शान्ति क्षमा, दया, धैर्य और धम के भाव जन्म लेते है। सक्षेप मे, मानव-जीवन मे शोक से लेकर शान्ति तक, क्षोभ से लेकर धैर्य तक, और आसक्ति से लेकर विराग तक, अनेक-विध भाव हैं जिनके अभाव मे जीवन का अस्तित्व ही न रहेगा। मनुष्य के पार्थिव अस्तित्व से अधिक उसके आध्यात्मिक जीवन का महत्त्व है। इन भावो का मूर्तरूप ही वह सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् को

पाता है, अथवा, भावो की आ तरिक प्रेरणा से वह विश्व को भावमय बना लेता है। भावो मे एक स्वाभाविक ऊवरता और मूर्त्त होने की प्रवृत्ति भी है। इस प्रवृत्ति से कला द्वारा ये भाव पार्थिव रूप मे परिणत हो जाते हैं। जिस भी प्रकार से हो, अपने भावो, अनुभूतियो और कल्पनाओ का मूत्तरूप प्रकृति को पाकर अथवा बनाकर ही वह जीवित रहता है। भावो का मूत्तरूप ही सौन्दय है। अत मनुष्य सौन्दर्य से जीवित रहता है।

वाल्मीकि के शोक का मूर्त्तरूप रामायण है। रामायण छ दोमयी मूर्ति है। शब्द इसका पार्थिव रूप है, शोक इसकी आत्मा है। तुलसी की भक्ति-भावना का शब्द-घटित पार्थिव रूप उनका रामचरित मानस है। फिरदौसी का 'शाहनामा जीवन मे नियति की विडम्बना का प्रत्यक्ष दर्शन है। मिल्टन ने जीवन की मूल प्रेरणा का अनुभव किया था, सृष्टि के मूलोद्गम देखा था। 'पैरेडाइज़ लास्ट' मे आदम और हौवा की कथा उसी अनुभव की छन्दोबद्ध मूर्ति है। आकाश विराट् पुरुष के आनन्द का छलकता प्याला है। भारतवष के मन्दिरो मे रक्खी हुई सहस्रो मूर्तियाँ, बौद्ध, जैन मूर्तियाँ, क्राइस्ट की मूर्तियाँ तथा अनेकानेक मूर्ति कला, चित्र कला, स्थापत्य कला के सहस्रश नमूने, कवियो और कलाकारो के ऊर्वर भावो की सुरूप सम्पन्न पार्थिव अभि-व्यक्तियाँ है। वस्तु भाव को शरीर प्रदान करती है और भाव वस्तु को सौन्दय प्रदान करता है। भाव के अभाव मे वस्तु सुन्दर नही होती, और, वस्तु के अभाव से सौन्दर्य निष्प्राण, अ शरीर रहता है। भाव मे शरीर धारण करने की प्रवृत्ति है। सौन्दर्य शरीरधारी भाव है। अभिनवगुप्त ने इस प्रवृत्ति का 'शरीरीकरण कहा है। यही पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र की मूर्तिकरण (Objectification) की प्रक्रिया है।

आनन्द का 'शरीरीकरण' अथवा 'शरीरतापादन' ही सौन्दय है। हम सौन्दर्या-नुभूति मे 'आनन्द' और 'शरीर' दोनो पर ही बल देते है। हम सौन्दर्य के शरीर और उसके रूप और गुणो का अध्ययन कर चुके है। यहाँ सौन्दय की आत्मा अथवा सुन्दर वस्तु के आध्यात्मिक स्वरूप अर्थात् 'आनन्द' के स्वरूप का निश्चय करना है। यह आनन्द सत्य के अनुभव से उत्पन्न 'प्रसन्नता' तथा प्रवृत्तियो की पूर्त्ति से प्राप्त 'तृप्ति' से भिन्न है। बिना तृप्ति के भी सौन्दर्यानुभूति मे आनन्द की मात्रा रहती है, बिना बौद्धिक प्रसन्नता तथा ज्ञानालोक के भी उसमे जीवन का परम आह्लाद रहता है यह हम पहले कह चुके है। यहाँ इसी को स्पष्ट करने के लिये हम कहेगे वस्तुत आनन्द का स्वरूप आस्वादन है।

किसी मौलिक भ्रम के कारण हम मिठाई के आनन्द को उसके आस्वादन से

भिन्न मानते हैं। वस्तुत मिठाई मे आनन्द कोई पदाथ नही है जिसकी सत्ता उसके आस्वादन से पृथक हो। इसी प्रकार ध्वनि का माधुय उसके 'श्रवण' से भिन्न नही हो सकता, वस्तु की मृदुता और कोमलता का सुख उसके स्पर्श की क्रिया के अतिरिक्त नही है। रस वस्तुत रसास्वादन* का दूसरा नाम है। सौन्दर्य मे हम जिस आनन्द का अनुभव करते है वह आनन्द हमारे मन की 'आस्वादन' क्रिया का नाम है। आस्वादन समाप्त होने पर आनन्द भी समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार 'अथ' वस्तुत समझने की क्रिया का नाम है, केवल अथ के पार्थिव शरीर अर्थात् शब्द का नाम नही है, इसी प्रकार सौन्दय वस्तु का ही गुण नहीं है, अपितु रसिक की आत्मा मे जाग्रत आस्वादन क्रिया का नाम है। ससार की भोग्य वस्तुओ के आनन्द को हम उन वस्तुओ मे निहित गुण मानते हैं। उसी प्रकार सौन्दय मे आनन्द को भी हम सुन्दर वस्तु का गुण मानकर उसे सुन्दर कहते हैं। इसी भ्रम को याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी को उपदेश देते हुए स्पष्ट किया था कि वस्तुत प्रियता पुत्र, पत्नी, धन आदि मे नही है, वह तो आत्मा मे ही है।† सौन्दर्य-शास्त्र भी इस 'माया को जो हमारे सासारिक जीवन का आधार है, किन्तु जो परमार्थत भ्रम है, दर्शन की भाँति ही भ्रम मानता है, और, यद्यपि इसे रसानुभूति का आधार मानता है तथापि रस को रस-चवणास्वरूप आत्मा की क्रिया ही जानता है।

विचारको ने 'आनन्द' का निरूपण भी आस्वादन क्रिया के मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक निरूपण द्वारा किया है। प्रस्तुत अध्याय मे विभिन्न दृष्टिकोणो से इसी आस्वादन-क्रिया का निरूपण है।

(2)

पाश्चात्य मनोविज्ञान मे वुन्ट तथा उसके सहयोगियो ने मन की एक साधारण प्रवृत्ति का आविष्कार किया है। वह प्रवृत्ति है कि किसी वस्तु या क्रिया का साक्षात् करने वाला व्यक्ति उस वस्तु अथवा क्रिया के गुणो का तद्रूप हो जाता है। इस तद्रूप (Merger) होने की प्रवृत्ति के कारण बालक पतग को ही केवल नही उडाता, वरन् वह स्वय —उसका सम्पूर्ण भावना-जीवन— उसके साथ उडता है। यही उसके आह्लाद का कारण भी है। हमारी बुद्धि के लिये पतग का उडना एक मामूली बात है, किन्तु बच्चे की सारी भावना उस पर केन्द्रित हो जाती है उसकी चचलता के

---

* देखें रस और रसास्वादन डा० हरद्वारी लाल शर्मा

† बृहदारण्यक उपनिषद्

साथ चंचल, उसके उठने और गिरने के साथ उठती और गिरती पतगो के पेच के समय उसी के साथ सघर्ष करती हुई प्रतीत होती है। आकाश मे इसका स्वच्छन्द गति से तैरना भी स्वय उसकी भावना को मानो आन्दोलित कर देता है। बालक अपनी सम्पूण भावना-शक्ति द्वारा उस वस्तु के साथ तद्रूप होकर उसका आस्वादन करता है। भावना की यह तद्रूपता-प्रवृत्ति जो आस्वादन का आधार है, वुन्ट के शब्दो मे Einfuhlung कहलाती है। अग्रेजी मे टिचनर ने इसका अनुवाद Infeeling अथवा Empathy किया है। हम इसे 'अन्तर्भावना' कहेगे।

किसी विशाल सरोवर मे जल-तरङ्गो को देखिए—सन्ध्या के समय, दुनिया के धन्धो से थोडा निश्चि त होकर केवल विनोद की इच्छा से। बिना जाने ही आप स्वय आत्म-विस्मृत हो जायेगे। यह निद्रा अथवा मूर्च्छा की अवस्था नहीं हैं, वरन् यह अवस्था है जिसमे हमारा सम्पूण भावना-जीवन तरङ्गमय हो गया है। अब भावनाओ का केन्द्र शरीर से हट कर तरङ्गो के जीवन मे तन्मय हो गया है, उन्ही के साथ उठता गिरता, लहराता, हसता और विलीन हो जाता है। जल मे से फिर-फिर कर तरङ्गो का उदय और उसी मे विलय हो जाना—सृष्टि और प्रलय का प्र यक्ष नाटक—वस्तुत हृदयहारी दृश्य होता है। मन अथवा हृदय का अपहरण करने वाली वस्तु को हम ठीक ही 'मनोहर' कहते हैं। सान्ध्य सरोवर का यह तरङ्गित रूप मनोहर है। इसमे दर्शक को तल्लीन करने की योग्यता है। प्रेक्षक 'अन्तर्भावनात्मक' प्रवृत्ति के कारण ही इसकी मनोहरता को हृदयङ्गम करता है।

(3)

एक दूसरे दृष्टिकोण से, हृदय सरोवर की तरङ्गो तक नही जाता, तरङ्गायमान सरोवर स्वय हृदय मे प्रवेश करता है। हृदय सरोवर बनकर लहराता है इसमे सरोवर की विशालता आ जाती है लहरो की चचलता, उनके उत्थान और पतन का विलास, पवन की अठखेलियाँ अस्तोन्मुख सूर्य का अरुण राग, और थोडी देर पश्चात् उसमे तारिकाओ की झिलमिलाहट, इत्यादि सभी सरोवर के व्यापार हृदय मे होने लगते हैं। इसके साथ, अनेक पूर्व के अनुभव, सुख और दु ख की स्मृतियाँ हृदय की विस्मृत पीडाएँ और भविष्य की मधुर कल्पनाएँ सब जाग्रत हो जाती हैं। सरोवर के देखने मे हम जिसे 'सौन्दर्य का आनन्द' कहते हैं, वह अपनी आत्मा मे ही सञ्चारित अनेक नवीन क्रियाओ और स्पन्दनो की अनुभूति है। यह आध्यात्मिक-स्पन्द (Self activity) जितना अधिक व्यापक, अपूर्व और अनुकूल होता है, उतना ही हम अधिक आनन्द का अनुभव करते हैं। इस आन्तरिक स्पन्दन के साथ हमारा

सम्पूर्ण शरीर भी स्पन्दित हो जाता है। श्वास की गति सम होने से विस्मृति हो जाती है, पलको का उन्मेष-निमेष नियमित हो जाता है। इससे हृदय की गति मे एक विशेष सन्तुलन उत्पन्न हो जाता है जिससे सम्पूर्ण स्नायु-मण्डल, रुधिर चक्र तथा शरीरान्तवर्ती सम्पूर्ण जीवन-क्रियाएँ अपूर्व विश्राम लाभ करती है। सौन्दर्यास्वादन मे शरीर और मन की यह व्यापक क्रिया इसका सार है जिसके कारण हम आत्म विस्मृति मे भी सुख का अनुभव करते हैं। वर्नोन ली नामक अँग्रेज लेखक इस क्रिया को आत्मा का नाटक' (Drama of the soul-molecules) कहता है।

सौन्दर्यास्वादन का रहस्य हमारे मन और शरीर मे आध्यात्मिक स्पन्दन और हृदय की सन्तुलित गति है। मन और शरीर की गति एव स्पन्दन मे सामञ्जस्य रहता है। इससे हमारे सम्पूण जीवन की धारा साधारण से भिन्न होकर बहती है। साधारणतया हमारा जीवन कुछ जड और स्तब्ध-सा रहता है। प्राण-क्रिया के अतिरिक्त कभी-कभी जीवन के कोई चिह्न नहो दिखाई देते। सौन्दर्यास्वादन के काल मे यह जडता टूटती है और इसमे सुप्त भावनाओ के जगने से 'गति' उत्पन्न होती है। हमारे आवेगो मे भी गति रहती है। क्रोध, भय, प्रेम आदि की दैनिक अनुभूति मे मन और शरीर की क्रियाएँ तीव्र हो उठती है। किन्तु आवेग की तीव्रता मे चचलता और क्षोभ रहता है। सरोवर की कल्लोल क्रीडा को देखने से जो शरीर और मन मे भावना और जीवन की नवीन धाराएँ फूट उठती है, वे आवेग की चचलता से भिन्न हे। उस समय जीवन मे वस्तुत 'गति' रहती है।

इस समय भावना-जीवन की गति मे 'सगति' का भी उदय होता है। क्षोभ की अवस्था मे जो जीवन का सन्तोल नष्ट हो जाता है, रसास्वादन के समय वह पुन उदित हो जाता है। जीवन के अनेक अनुभव, भाव के अनेक प्रवाह, स्मृति और कल्पना के कई नवीन स्रोत, सब इस समय सौन्दर्यानुभूति की धारा मे सम्मिलित रहते है। इनमे परस्पर विरोध का अभाव तो हो ही जाता है, क्योंकि विरोध से क्षोभ और क्षोभ से आनन्द के अनुभव मे ह्रास होता है, साथ ही, एक दूसरे के प्रभाव की वृद्धि करते हैं। इनके मेल से स्वरो की सगति से उत्पन्न सगीत की भाति गम्भीर 'जीवन-सगीत' का उदय होता है। सौन्दर्यास्वादन मे जीवन की सगीत-सी सगतियुक्त गति इसकी विशेषता है।

न केवल सगति ही रसास्वादन मे 'प्रगति' का भी अनुभव होता है। कामना के नवीन दीपक जल उठने से जीवन के सुदूर कोनें विस्फारित हो जाते हैं। विस्तृत जल-राशि मे लहरो के उत्थान-पतन की क्रीड़ा देख कर, जीवन-सम्बन्धी अनेक रहस्य

जिन्हे तर्क और युक्तियाँ स्पष्ट नही कर पाती, वे सब स्वय ही आनन्द की आभा से चमक उठते है। रसिको का अनुभव है कि सगीत की स्वर-लहरी अनेक गूढ तत्त्वो को इतना विशद बना देती है जितना पडितो की व्याख्या नही। मानस मे अभूतपूव रसो का सचार हो जाता है, नवीन क्षितिजो से मोद के अनेक सुरभित झोके बहने लगते है। दिग तरालो से नवीन आलोक की ज्योति फूट उठती है। हमे स्वय ही अपना जीवन आगे बढता और ऊँचे उठता हुआ प्रतीत होता है। लोल लहरो की तरलता स्वय जीवन मे उतर आती है, उनका विलास-हास, उनकी स्वच्छन्द लीला, लीला मे ही जलराशि मे अन्तर्धान हो जाना और फिर हँसते-हँसते उदय हो जाना, सान्ध्य-राग मे रँग जाना, पवन के साथ सिहर उठना, दौडना, मिट जाना और फिर तारो की आभा मे झिलमिला उठना, ये सब क्रियाए हृदय मे उतर आती हैं, और नूतन शक्तियो को जगाती हैं, कल्पना मे प्राण भरती है, कामना मे नवीन सिहरन उत्पन्न करती है, नेत्रो मे नवीन ज्योति लाती है। इसे हम सौन्दय-शास्त्र मे 'प्रगति' कहेगे।

रस के आस्वादन मे जीवन मे 'गति' 'सगति' और 'प्रगति' का उदय इस अनुभव का प्राण है।

(4)

हमारे सुन्दर वस्तु मे भोग, रूप और अभिव्यक्ति नामक तत्त्वो का उल्लेख किया है। हमारी आनन्दानुभूति यद्यपि सुन्दर वस्तु के पार्थिव शरीर का तो भाग नही, तथापि वह 'सम्पूर्ण सौन्दर्य' का आवश्यक अग है। सच पूछा जाये तो 'आनन्द' ही 'रूप' आदि को सौन्दर्य' प्रदान करता है। हम रूप, भोग आदि का निरूपण वस्तु के साधारण वर्णन से कर सकते हैं, किन्तु उसके सौन्दर्य का निश्चय केवल वस्तु की माप, तोल करके, उसके अवययो और परिमाणो का पता लगाने से नही कर सकते। केवल स्वरो की स्पन्दन गति से यदि सगीत का सम्पूर्ण रहस्य मालूम हो जाता तो इस गति को नापने वाला गणित हमारे लिये पर्याप्त होता। फलत सुन्दर वस्तु का ताप करने वाला गणित शास्त्र ही हमारे लिये सौन्दय शास्त्र होता। यदि रग, रेखा, स्वर, बक आदि का गणित चित्र सगीत, मूर्ति, काव्य आदि के सौन्दय को हमे समझाने मे असमथ रहता है तो इसका कारण यह है कि सौन्दय—आनन्दात्मा होने के कारण—वस्तु के पार्थिव शरीर से 'व्यतिरेक' तत्त्व है। सौन्दर्य वस्तुगत व्यापक' गुण प्रतीत होने पर भी इससे अतिरिक्त अध्यात्म तत्त्व है। उपनिषद् की भाषा मे 'वह वस्तु मे भी है, वस्तु से बाहर भी है, वह स्वय नहीं चलता, परन्तु

मन मे सगीत की गति उत्पन्न करता है, वह रूपवान् होकर भी अरूप है, मूत्त होते हुए भी अमूर्त्त रहता है[1]।' सौन्दय का यह स्वभाव अनन्त चेतन-शक्ति की भाँति है। इस स्वभाव मे 'व्यापकता' और 'व्यतिशयता' दोनो ही विरोध गुण विद्यमान हैं।

'व्यतिशयिता' (Transcendence) सुन्दर वस्तु को असुन्दर से पृथक् करती है। इसके स्वरूप को समझने के लिए भारतीय दर्शनकारो ने 'वाक्' को सम्पूण सौन्दर्य का प्रतिनिधि माना है। वाक् अथवा वाणी का स्वरूप शब्दमय है, किन्तु इतने मे ही इसका पर्यवसान नही हो जाता। उसका आत्मा अथ है जो आध्यात्मिक होने के कारण 'व्यतिशय' तत्त्व है। अर्थ के उदय होने से जिस प्रकाश, आनन्द और गति का अनुभव होता है उसके लिये प्रेक्षक के हृदय मे प्रेमी की सरसता और विकलता होनी चाहिए। नीरस और अप्रतिभ मनुष्य को वाक का यह व्यतिशय, लोकोत्तर रूप नही झलकता। "ऐसा मनुष्य देखते हुए भी नही देखता, वाणी को सुनते हुए भी नही सुनता, वह तो सुन्दर वसनो से सजित कामाकुल सुन्दरी की भाँति अपने (अध्यात्म) शरीर को (सरस और प्रेम से विह्वल) पति के लिये ही उघाडती है।"

[उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा ॥ ऋग्वेद 10/71/4]

सौन्दर्य के इस व्यतिशय तत्त्व को भारतीय दर्शन मे 'रस' कहा है और स्पष्ट शब्दो मे इसे आत्मा और आनन्द का समानार्थक मान लिया है। भरत ने अपने नाटच शास्त्र मे वेदो और उपनिषदो मे प्रयुक्त इसी 'रस' को साधारण मनोविज्ञान की भाषा मे समझाया है और अध्यात्म शास्त्र के दार्शनिक दृष्टिकोण के स्थान पर रस के स्वभाव को समझने के लिये वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया है। यह दृष्टिकोण सक्षेप मे इस प्रकार है

भरत के अनुसार हम किसी भी सुख अथवा दुख का अर्थ केवल अपने मन की स्वाभाविक और सहज प्रवृत्तियो के सम्बन्ध से ही समझ सकते हैं। जिस विशेष अनुभव को हम 'रस' कहते हैं उसका हमारे मानवीय जीवन से निकटतम सम्बन्ध है, और जीवन का वह भाग जिससे 'रस' का सम्बन्ध है वह हमारी कामनाएँ, वासनाएँ अथवा पशु-प्रवृत्तियाँ है जो हमारे मन मे नित्य अनुस्यूत रहती हैं। रसास्वादन की क्षमता का मूल ये हमारे जीवन मे अनेको क्रियाओ और प्रेरणाओ को उत्पन्न करती

---

*ईशोपनिषद्

हैं। भरत इन्हे बहुत ही उचित 'स्थायी भाव' नाम देता है। ये स्थायी भाव काम शोक वीरता, भय जुगुप्सा आदि हैं, जिनसे एक ओर जीवन मे सम्पूर्ण व्यवहार भावना राग और प्रेरणा आदि उदित होते हैं और दूसरी ओर, विशेष परिस्थितियो के वश, 'रस' नामक अनुभव उत्पन्न होता है। प्रेरणा और रस दोनो का मूल-स्रोत एक ही अर्थात् स्थायी भाव हैं। दोनो मे तुलना का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि काम-सुख और काम-वासना से उत्पन्न शृङ्गार रस मूलत एक होने पर भी परिस्थितियो के भिन्न होने से भिन्न हैं। अन्तर इतना है—और यह अन्तर अत्यन्त महत्त्व का है—कि रस मे प्रेरणा का सर्वथा अभाव रहता है। सिंह को देखकर भयभीत मनुष्य मे दौडने की प्रेरणा होती है, शत्रु की ललकार सुन कर वीरता के उदय से वीर हाथ मे तलवार सभालता है, कामिनी के लावण्य से मुग्ध नायक के हृदय मे काम का आवेग उत्पन्न होता है। किन्तु चित्र मे सिंह को देखकर भागने की प्रवृत्ति, महाभारत अथवा आल्हा को सुनकर शत्रु को तोडने की प्रवृत्ति अथवा साँची के द्वारो पर सुन्दरी की मूर्तियो को देखकर काम प्रवृत्ति का आविर्भाव नही होता। इन विशेष अवस्थाओ मे हमे केवल 'भयानक' वीर' और शृङ्गार' रसो का ही अनुभव होता है। यदि अनुभव के आवेग से कदाचित् इन प्रवृत्तियो का उदय हो जाये जैसे कभी-कभी नाटक आदि को देखते समय अथवा वीर अथवा शृङ्गार के सगीत आदि के सुनते समय होता है तो उस अवस्था मे रसानुभूति मे क्षणिक बाधा उपस्थित होती है। कुशल रसिक इस सीमा तक अपने रसास्वादन को नही पहुँचने देता। प्रवृत्ति के उदय से पूर्व तक वह अपने आपको मानो अतर्भावनात्मक प्रवृत्ति के कारण दृश्य और श्रव्य रूप के हवाले कर देता है।

'भरत ने रस' के मूल की गवेषणा करने मे जिन स्थायी प्रवृत्तियो का पता लगाया, उन्हे आज का पाश्चात्य सौन्दर्य दर्शन स्वीकार करता है। जार्ज सान्तायन सौन्दर्य मे मधुर वेदना के अनुभव को काम वासना से उत्पन्न मानता है, परन्तु वह स्वीकार करता है कि रसानुभूति मे प्रवृत्ति का जागरण दूर से होता है, अत इससे क्रिया उत्पन्न नही होती*। पौलहान नामक मनोवैज्ञानिक भावना-जीवन के नियमो का उल्लेख करते हुए कहता है कि सौन्दय-भावना जिस अनुभूति का नाम है उसमे

*"From the radiation of the sexual passion, beauty borrows its warmth and the whole sentimental side of our aesthetic sensibility—without which it would be perceptive and mathematical—is due to our sexual organization remotely stirred" Sense of Beauty G Santyana P 58

विशेषता इस बात की होती है कि इस भावना से, साधारण से विचित्र, किसी क्रिया-कलाप का उदय नही होता। इसी कारण कि सौन्दय-भावना मे अपनी स्वाभाविक प्रेरणा उत्पादन की योग्यता नही होती—प्रेरणा उदय होते ही वह दमन कर दी जाती है—इसीलिये उस भावना को उत्पन्न करने वाली वस्तु स्वय सुन्दर हो उठती है, और उसका मूल्य हम किसी तृप्ति के साधन के लिये नही लगाते*। भरत ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान मे रख कर अर्थात् साधारण अनुभव और रस के मूल को समान स्रोत से उत्पन्न किन्तु दोनो मे प्रेरणा के उपर्युक्त अन्तर को विचार कर रस के उत्पादक कारणो को विभाव' कहा है।

जीवन की वास्तविक परिस्थितियाँ हमारी मूल वासनाओ और प्रेरणाओं को जाग्रत करेगी ही क्योकि इन परिस्थितियो को सुलझाने के लिये उचित क्रिया कलाप चाहिए। इसलिये यहाँ रसानुभूति की सम्भावना नही। अतएव भरत के लिये रसास्वादन का जगत् केवल नाट्य हो सकता है। यह 'अनुकरण' और कल्पना का जगत् है, इसमे क्रिया का उपयोग नही। यद्यपि इसमे हमारे साधारण जगत् की वास्तविकता नही, किन्तु कल्पना के बल के कारण इसमे सारा अनुभव का ससार विद्यमान है। इतना ही नही, भरत ने स्पष्ट कहा है कि इसमे ऐसे पदार्थ भी है, ऐसे अनेक जगत् है जो रसोत्पादन के लिये समर्थ है किन्तु हमारे सीमित प्रत्यक्ष अनुभव के लिये सम्भव नही। हमारे सम्पूर्ण जीवन का प्रतिबिम्ब नाट्य के जगत् मे होता है। अनुकरण के द्वारा हम अद्भुत स्पश, रूप, रस, शब्द गन्ध इस जगत् मे उत्पन्न करते है, अद्भुत नर-नारियो लोको, देव-देवियो, भवनो, सगीतो और चित्रो की सृष्टि करते हैं। नाट्य के ये कल्पित लोक जीवन मे मूल-प्रवृत्तियो को जाग्रत करके हमे रस का अनुभव कराने मे समर्थ होते है, ये नाट्य-जगत् की परिस्थितियाँ ही रसोत्पादक 'विभाव' हैं।

भरत नाट्य को जीवन की समष्टि मानता है, इसमे नाटक है इसके लिये

---

*"In this case the stimulation is too weak to terminate in action And it is precisely because the tendency is unable in this case to reach its customary goal, because it is absolutely inhibited as soon as produced that the phenomena are considered by themselves and not as a means to a special end, and that is the characteristic of aesthetic emotion"

The Laws of Feeling—Paulhan.

रग मच का निर्माण चाहिए। इससे नाट्य मे स्थापत्य, वास्तु और चित्रकला का समावेश होता है। नृत्य, नृत्त सगीत, अगहार, अनेक अल्कारो का प्रयोग इसमे होता है। कथानक, काव्य आदि उपस्थित किये जाते है, जिससे नाट्य मे सम्पूर्ण जीवन का 'विभावो' द्वारा प्रतिबिम्बन हो सके। नाटय-जगत् मे पवेश करके रसिक अपने वास्तविक, दैनिक जीवन को पीछे छोड आता है। यदि साथ लाता है तो वह इस जगत् के सौन्दय और रस से वचित रहता है। यदि इस प्रतिबिम्बित जगत मे आकर इमी जगत् का प्राणी हो जाता है तो फिर उसके जीवन मे वही सुख दु ख का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। अत रसिक कुशलता के साथ केवल अपने स्थायी स्वभाव को साथ लेकर नाटय-जगत मे प्रवेश करता है। न वह उसमे रम जाता है, न उसे दूर की ही वस्तु समझता है। वह एक प्रकार की स्वय-सचारित 'माया' के वश मे स्वेच्छा से चला जाता है क्योकि नाटय-जगत् सत्य नही है किन्तु असत्य भी नही हैं। वह एक विश्वास और वासना की भूमि है। जिस प्रकार शङ्कुक के शब्दो मे, चित्र तुरग सत्य नही है, किन्तु असत्य होने पर उसमे कोई सौन्दय नही रहता, इसी प्रकार सारा विभाव' का जगत् कल्पना और विश्वास की शक्ति पर आश्रित है। ग्रूस नामक जर्मन विद्वान् के शब्दो मे नाट्य-ससार अथवा कला का ससार एक प्रकार अपनी इच्छा से प्रवृत्त की गई आत्म-प्रवचना (Conscious Self-illusion) है। सौन्दय की भावना ही, उसके अनुसार, कल्पना की भावना (Assumption feeling) है, सत्य और असत्य से जिनका निर्वचन नही किया जा सकता। ऐसा ही नाट्य द्वारा उत्पन्न सौन्दय का रसमय, किन्तु मायिक,† ससार है।

रस का ससार 'मायिक' होते हुए भी वास्तव की भाँति ही हृदय मे स्थायी भावो को जगाता है, इसके साथ, मन मे अनेक भावो को उद्‌बुद्ध करता है जो हमारी मूल रस-भावना के अनुकूल होते है। शृङ्गार रस के अनुभव मे केवल मूल काम-वासना का ही जागरण नही होता, इसके साथ अनेक अनुकूल, इस रस की पोषक, वेदनाओ, स्मृतियो, कल्पनाओ का सचार होता है, भाति-भाति की मधुर अनुभूतियाँ इसके माधुर्य को और भी आस्वादन-योग्य बना देती है। इन सहयोगी, पोषक भावो

*"The aesthetic feeling is no longer a judgement feeling, neither is it merely a "presentation feeling" but rather an "assumption feeling' *[Der Aesthetesche Genuss]

Valuation Its Nature and Laws—Urban P 220

† देखें चित्र-तुरग चिन्तन के नये आयाम डा० हरद्वारी लाल शर्मा

को जिनसे रस मन के प्रत्येक स्तर मे व्याप्त हो जाता है, भरत 'सचारी भाव' कहता है । केवल मन मे ही नही, व्यापार और प्रेरणा के अवरोध से हमारा सम्पूण स्नायु-मण्डल, नाडी-चक्र, हृदय और जीवन-तन्तु भी उसी रस के प्रवाह से मानो स्पन्दन करने लगते हैं । इस शारीरिक स्पन्दन का रस की अनुभूति से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योकि, यद्यपि यह रस के उद्रेक से प्रारम्भ होता है, तथापि यह उसे व्यापक और दृढ बनाने मे सहायक होता है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रत्येक भावना और उसके द्वारा सचारित शारीरिक स्पन्दन के सम्बन्ध को पर्याप्त महत्त्व देता है, क्योकि स्पन्दन के अवरोध से रस की भावना ही विलुप्त हो जाती है । रस के अनुकूल शारीरिक क्रिया और स्पन्दन को भरत 'अनुभाव' सज्ञा देता है ।

विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के सहयोग से रस की निष्पत्ति होती है । "विभावानुभावसचारिसयोगात् रसनिष्पत्ति"—यह भरत का प्रसिद्ध रस सूत्र है । प्रत्येक मूल भावना के उद्बोधन के साथ मन मे अनेक भावो का सचरण और शरीर मे अनेक गतियो का स्पन्दन रस की तीव्रता को और भी बढा देता है। इससे आनन्द की अनुभूति और भी प्रखर होती है । मन और शरीर का रसानुकूल स्पन्दन आधुनिक भाषा मे 'सौन्दय-स्फूर्ति (Aesthetic resonance) कहलाता है। रसिक जब नाट्य वस्तु मे, किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा चित्र, सगीत और मूर्ति के आस्वादन मे तल्लीन और तद्रूप हो जाता है तो रस का उदय तो होता ही है साथ ही उसका सम्पूर्ण जीवन अनेको मनोहर भावो से प्लावित हो उठता है । बारम्बार वह सुन्दर वस्तु को देखता है और बारम्बार वह अपने ही शरीर और मन मे जाग्रत तीव्र परिस्फूर्त्ति की ओर लौटता है। हृदय का यह आकषण-विकर्षण, भावनाओ का यह आलोडन-विलोडन रसास्वादन का सार है। भारतीय दाशनिको ने हृदय के अनुकूल (हृदय-सवादी) इस परम आह्लादमय मधुर सवेदना को रस-चवणा' का नाम दिया है ।

भरत के रस-विज्ञान को परवर्त्ती विद्वानो ने परिमार्जित और परिवर्द्धित किया है तथा रस-सम्बन्धी अनेक प्रश्नो का उत्तर दिया है। हम इनको यथास्थान उपस्थित करेंगे ।

(5)

सरोवर मे प्रफुल्लित कमल-वन के दृश्य को लीजिये । इसके सौन्दर्यावगाहन के लिये आवश्यक है कि या तो अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति के कारण हृदय मानो बाहर जाकर कमल-वन का रूप धारण करे अथवा रसिक मे आत्मा की रसनीयता-शक्ति के कारण

वह कमल वन, अपने रग, स्पर्श, सौरभ और पुष्पासव के वैभव के साथ, हृदय मे प्रवेश करे। हृदय और कमल वन का यह काल्पनिक, किन्तु अनिवाय भावनात्मक, सम्मिलन कही न कही अवश्य होता है। रसिक और सुन्दर-वस्तु के एकात्म्य होने से वस्तु के भोग, रूपादि गुण हृदय मे आरोपित हो जाते हैं, और, हृदय मे प्रवहणशील रस और भावनाओ के स्रोत वस्तु के रूप आदि को आनन्दमय कर देते हैं। पुष्पो की सरस मृदु गन्ध मे यदि हृदय सुरभित हो जाता है, तो हृदय की रस-सिञ्चित कल्पना से पुष्प भी मनुष्य की आशाओ और अभिलाषाओ का मूर्त्त प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार, नील आकाश, सलिल विस्तार, दिगन्तव्यापी महारण्य आदि अपने अपने गुणो के प्रभाव से प्रेक्षक के हृदय मे अन तता, नित्यता, निर तर सृष्टि और प्रलयरूप परिवत्तन, जीवन की तरलता आदि की प्रखर अनुभूति उत्पन्न करते है जिस हमारे देश के दाशनिको ने 'चित्त विस्तार' की अनुभूति कहा है। हृदय अपनी रसानुभूति के बल से इन वस्तुओ के गुणो को आध्यात्मिक रूप प्रदान करता है। ताजमहल अपनी सगति, सापेक्षा, सन्तुलन और धवल रूप की महिमा के प्रभाव से प्रेक्षक के हृदय मे 'रूप' की सन्तुलित गति उत्पन्न करता है, और हृदय इसे प्रेम की वेदना, उच्चता, निमलता और प्रखरता प्रदान करता है। सगीत अपनी स्वर लहरी से, आरोह-अवरोह से, हृदय को विशेष गति प्रदान करके मानो विनिमय मे हृदय के अनेक उदार और तीव्र भावो को ग्रहण करता है। हिमाचल के उच्च शृङ्गो से रसिक के हृदय को 'विशालता' प्राप्त होती है, और, हृदय उसे जीवन की उच्चता का प्रतीक बना देता है। सक्षेप मे, सौन्दर्यास्वादन मे रसिक और वस्तु का परस्पर विनिमय बिना सम्मिलन और एकात्मता के सम्भव नही। हम इस एकात्मता की क्रिया को 'साधारणीकरण' कहते है।

साधारणीकरण का निवचन अ य प्रकार से भी किया जाता है। मम्मट, अभिनवगुप्त आदि पडितो ने रग-मच पर 'शकु तला-दुष्यन्त' के अभिनय से आनन्द-लाभ की प्रक्रिया को िशद करते समय कहा है कि प्रेक्षक अपने मे दुष्यन्त का आरोप करके शकु तला-विषयक रति का आ वादन करता है। प्रेक्षक वस्तु के साथ तादात्म्य अथवा 'साधारण्य' स्थापित करके इससे आनन्द पाता है। यहाँ यह सत्य है कि रसिक स्वय वस्तु बन कर वस्तु का आस्वादन कर सकता है, किन्तु पडितराज जगन्नाथ के कथन के अनुसार अपने मे 'दुष्यन्त' का काल्पनिक आरोपण भी अनुचित, नीति-विरुद्ध होने के कारण रसोत्पादन के लिये उपयुक्त नही। अत जगन्नाथ के अनुसार प्रेक्षक एक ओर तो अपने दैनिक व्यक्तित्व की सीमाओ से मुक्त होकर केवल सौन्दर्य का अभिलाषुक 'पुरुष' बन जाता है, और, दूसरी ओर नाट्य ससार की

शकुन्तला' हमारी पूज्या, पूवजा न रहकर भोग योग्य 'स्त्री' के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार प्रेक्षक और सुन्दर पदाथ दोनों अपने असाधारण व्यक्तित्त्व को त्याग कर प्रकृति पुरुष के साधारण भोग्य-भोक्ता के रूप को धारण करते है। इसी का नाम साधारण्य क्रिया अथवा 'साधारणीकरण' है जो रसास्वादन का आधार है। हमने इस प्रक्रिया को इसके मनोवैज्ञानिक तत्त्व पर आश्रित किया है जिसके अनुसार अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति अथवा आत्मा की रसनीयता-शक्ति के कारण रसिक और वस्तु दोनो मे तदाकारता अथवा एकात्मता का आविर्भाव हो जाता है। इसीलिये तो विशाल शिखर को देखकर हृदय म 'विशाल होने का अनुभव होता है, चचल स्रोत को देख कर जीवन मे 'तरलता' का आविर्भाव होता है, चित्र मे एक विस्तृत मैदान मे बहती हुई सरिता पर एकाकी नौका और उसके नाविक की कल्पना से हृदय मे भी उसी दृश्य का एकाकीपन उदित हो जाता है। 'साधारणीकरण' की जो भी निरुक्ति हमे मान्य हो, यह अवश्य ही हमारी सौन्दर्य चेतना का आधार है।

(6)

सौन्दर्य से जिस आनन्द की अनुभूति उत्पन्न होती है उसकी एक विशेषता यह है कि हम उसका माप नही कर पाते। वह क्षण-क्षण मे नवीन होता है। बुद्धि विश्लेषण के द्वारा सुन्दर वस्तु के सौन्दय की थाह नही लगा पाती, मन अपने आनन्द की तोल नही कर पाता। बुद्धि चकित होती हे, उलझ जाती है सौन्दय को देख कर, उसके आकडे व्यथ हो जाते हैं, किन्तु चकित होकर भी उसे आनन्द का आलोक मिलता है, उलझ जाने पर भी उसमे नवीन रहस्यो का उद्‌घाटन होता है। अनेक गूढ ग्रन्थियाँ स्वय ही खुल जाती हैं, भ्रान्तियाँ स्वय ही भोग बन जाती हैं, जिस समय गायक की उठती हुई तान, चित्रकार की तूलिका द्वारा निर्मित एक सरल रेखा अथवा 'अवलोकितेश्वर पद्मपाणि' बुद्ध की एक झलक, नवीन और अभूतपूव वेदनाओ और स्फूर्तियो से आत्मा के अन त अ तरिक्ष को आलोक से भर देती हैं। सत्य तो यह है सौ दय-शास्त्र की सारी पटुता 'सौन्दर्य' के इस रहस्य को समझाने के लिये है। आनन्द की यह अनुभूति अनन्त, अमेय, अखण्ड, अभूतपूर्व तथा रहस्य-मयी होती है। सौन्दय-शास्त्र इसे 'चमत्कार' कहता है और इसे रस का सार (रसे सारश्चमत्कार) मानता है।

सौन्दर्य के इस रहस्य को समझने के लिये हमारे देश मे दो सराहनीय प्रयत्न हुए हैं, एक तो आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के आविष्कार द्वारा, दूसरे पडितराज जगन्नाथ ने चिदावरणभग' के विचार द्वारा रहस्योद्‌घाटन किया है। हम ध्वनि के स्वरूप

को आगे चल कर स्पष्ट करेंगे। यहाँ इसका मनोवैज्ञानिक रूप जानना ही पर्याप्त होगा। रसस्वादन मे रसिक के हृदय म किसी शब्द, स्वर आदि को सुनने अथवा किसी सुन्दर रूप को देखने के अन तर अनेक अपूव भावनाओ और अर्थो का अकस्मात् प्रस्फुटन होता है। घटा बजाने के अनन्तर जिम प्रकार इसका निर्ह्लाद अथवा अनुरणन देर तक होता रहता है, उसी प्रकार श ्द और स्वर भी अपनी शक्ति से चिर सचित सस्कारो और रस-स्रोतो को मानो उन्मुक्त करके रसिक के हृदय मे झकार अथवा 'अनुरणन' उत्प न करते है। यह जीवन मे पुन -पुन जगने वाला प्रतिध्वनन और निर्ह्लाद ही सौन्दर्य का रहस्य है।

'चिदावरण भग' वस्तुत इस प्रश्न का शास्त्रीय उत्तर है। हमारा साधारण व्यक्तित्व जिसमे अनेक अतृप्त कामनाओ के क्रन्दन, अनेक उद्दीप्त वासनाओ की गन्ध, अनेक चिन्ताओ के बन्धन आदि रहते हैं, हमारे चेतना आत्मा को जड बनाते रहते हैं। यह जडता आवश्यक भी है, क्योकि इसके बिना हाथ पैर नही चलाये जा सकते और जीवन का व्यवहार भी सफल नही हो सकता। यह स्नायु-मण्डल और शरीर मे भाति-भाँति के तनाव उत्प न करके उसे क्रिया के योग्य बनाता है। किन्तु यह तनाव अथवा जडता जहाँ जीवन को सम्भव बनाते ह, वहाँ इसका व्यय और ह्रास भी करते ह। यह जडता वस्तुत चेतन आत्मा का आवरण है। इस आवरण के कई स्तर हैं। पहला स्तर तो यह अन्नमय शरीर है, यह जावन का आधार होने पर भी जडता का मूल है। दूसरा आवरण हमारे प्राणो का निरन्तर श्वासोच्छ्वास है, तीसरा स्तर हमारे मन की निरन्तर 'सकल्प विकल्पात्मक' उछल कूद है और चौथा स्तर है बुद्धि का जो सब की अपेक्षा भार और जडता मे कम है, किन्तु जिस ज्ञान का वह सचय करती है वह वस्तुत आत्मा के लिये जाल ही है, क्योकि हमे सारी प्रकृति के विज्ञान से भी काई 'स्वान्त -सुख का लाभ नही होता। इन स्तरो के भार से यदि हमे क्षण भर भी मुक्ति मिल सके तो उस सुख का अनुभव हो जो हमे शरीर, प्राण, मन और बुद्धि की तृप्ति से कदाचित् सम्भव नही। वस्तु का सौन्दय हमे इस आवरण को भग कर इसी अनिवचनीय सुख की ओर ले जाता है। शरीर-सुख से इसकी तुलना नही हो सकती, क्योकि सौन्दय-सुख मे तो शरीर का भान कम या बिल्कुल नष्ट हो जाता है। बुद्धि इस सुख का अकन और निवचन नही कर सकती, क्योकि बुद्धि की क्रिया स्थगित होने पर इसका उदय होता है। हमारा साधारण व्यक्तित्व मानो गल जाता है और आनन्द के महा समुद्र मे लय होने लगता है। इससे बुद्धि चकित होकर भी आलोकित हो जाती है, हृदय गद्गद होकर भी आनन्द पाता है, शरीर मे स्वेद, कम्पन आदि के उदय होने पर भी विश्रान्ति का

अनुभव होता है, प्राणो को अद्‌भुत विराम का अनुभव होता है। सौन्दय आस्वादन मे चित् के आवरण-भग से जो रस उत्पन्न होता है, वह समाधि सुख की भाति होता है। हम इसे 'लयात्मक सुख' कहेगे।

लय' का विशद रूप हमे आधुनिक मनोविज्ञान में मिलता है। फ्रॉयड और यूग नामक जर्मन पडित मानव व्यक्तित्व को अनन्त और अमेय मानते है जिसके ऊपर जीवन की विशेष परिस्थितियो का आवरण लद जाता है। इसे हम 'अहम्' अथवा Ego कहने लगते हैं। शरीर, मन, बुद्धि, जन्म, समाज आदि के आकस्मिक गुण सगठित होकर हमारे व्यावहारिक स्वरूप का निर्माण करते हैं। वस्तुत अह' के तल मे ऊर्मिल अनन्त सागर की भाति लहराता 'कामना का विस्तार है, जहाँ अह का प्रश्न नही, जहाँ नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक बन्धन नही, जहा धम और अथ की सीमा नही, जहाँ सभ्यता का अनुशासन और सस्कृति का सस्कार नही। यही अतल, अनन्त कामना का सागर हमारे परम सुख का मूल स्रोत है, चेतना का उद्‌गम-स्थान है, प्रेरणा का यही से जन्म होता है, यही से अभिलाषाए स्फुलिङ्ग की भाति निकल कर आती हैं। हमारा बाह्य जगत् इसी अन्तजगत् का प्रतिबिम्ब है। इसी की तृप्ति के लिय कलाओ की सृष्टि होती है, इसी को रोक-थाम के लिये नीति और धम तथा समाज की अनेक सस्थाओ, सभ्यता और सस्कृति का आयोजन किया जाता है। परन्तु हमारा क्षुद्र व्यक्तित्व इस अनन्त कामना की तृप्ति कैसे करे? इससे पीडा उत्पन्न होती है। इस पीडा से दशन ध्यान, समाधि तथा धर्म की उच्च अभिलाषाएँ उदित होती है। जीवन मे जहाँ इसको तृप्त करने के लिये निरन्तर क्रिया की प्रेरणा बनी रहती है, वहाँ हमारा लघु व्यक्ति इसी अतल समुद्र मे लय होने के लिये भी लालायित रहता है। इस लय-प्रवृत्ति को सौन्दर्य तीव्र बनाता है। इसी से सौन्दय के अनुभव मे हमे लयात्मक सुख और अनोखा आनन्द मिलता है।

(7)

कहा जा चुका है कि सौन्दय मे आनन्द जिस तत्त्व का नाम है, वास्तव मे वह रस आस्वादन की विशेष क्रिया है। आस्वादन क्रिया मे रसिक और सुन्दर वस्तु मे 'साधारण्य' अथवा 'तन्मयता' अवश्य होनी चाहिए। इस क्रिया मे शरीर और मन मे अनेक-विध स्पन्दनो और भावो का स्फुरण होता है। इससे यह व्यापक, आस्वाद-योग्य और जटिल हो जाती है। यही अनुरणनात्मक ध्वनि अथवा रस चवणा है। इस क्रिया के उदय के लिये आत्मा मे रसनीयता-शक्ति चाहिए और चाहिए 'माया' द्वारा सृष्ट

विभाओ का मनोहर नाट्य जगत । 'लय' होने की प्रवृत्ति इसमे विद्यमान रहती है, और लय द्वारा ही असीम और अनन्त आनन्द की अनुभूति उत्पन्न होती है । 'लय' का अर्थ सौन्दर्यास्वादन मे हमारे लघु व्यक्तित्व का जीवन के असीम समुद्र मे मानो डूबने की प्रवृत्ति है । लय की अवस्था मे जीवन मे समाधि का अनुभव होता है । चित्तवृत्तियो के प्रवाह मे एक ऐसी गति उत्पन्न होती है जिसमे जीवन की जडता शनै शनै नष्ट होकर द्रव बनने लगती है । शरीर, मन, प्राण, बुद्धि आदि की अन्तर्ग्रन्थियाँ खुलने लगती हैं, और, रसिक का सम्पूर्ण अस्तित्व मानो आनन्द के अनन्त प्रवाह मे बहने लगता है । विश्वनाथ तो सौन्दर्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्मानुभूति—जीवन मे बृहत् के अनुभव से भिन्न नही मानता । रस उसके लिये 'ब्रह्मानन्द सहोदर' है ।

यहाँ प्रमुख प्रश्न यह है कि (1) रसानुभूति और साधारण सुख मे क्या अन्तर है ? (2) रसानुभूति मे कौन सी बाधाएँ रहती हैं ?

यह अध्याय, सच पूछा जाये तो, पहले प्रश्न के उत्तर के लिये है । हमने 'आनन्द के स्वरूप' को निश्चय करते समय माना है कि हमारे दैनिक सुख दुख वास्तविक जगत् की परिस्थितियो से उत्पन्न होते हैं, प्रेरणा और व्यवहार इसके मुख्य अग हैं । सौन्दय मे आनन्द का आविर्भाव एक विशेष लोक मे होता है । एक छोटे चित्र को लीजिये । देखने मे रगो और रेखाओ का एक लघु समुच्चय प्रतीत होने पर भी वह स्वय एक जगत है । चित्रकार का चित्र हमे उसी लोक मे ले जाता है । उस लोक मे जाने के लिये हमे अपना स्थूल शरीर यही छोडना होता है, और, जडता उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ तथा 'अह' के भावो का भार भी साथ नही ले जा सकते । यह हमारी आत्मा की लाघव अवस्था है, जिसमे हम कल्पना पर मानो सवार होते हैं, और, आनन्द की स्वाभाविक प्रवृत्ति हमे सौन्दर्य लोक मे विहार के लिये प्रवृत्त करती है । मन बुद्धि, प्राण की गति भी इस समय सगति की भाति सन्तुलित हो जाती है । इन सब कारणो से एक ओर आत्म लय की प्रवृत्ति का उदय होता है और दूसरी ओर आवरणो के हट जाने से प्रकाश के नूतन स्रोत मन और प्राण को प्लावित करते है । यह सब हमारे साधारण सुख मे नही होता ।

सौन्दय की अनुभूति मे कल्पना द्वारा एक विशेष लोक के उद्घाटन पर हम बल देते हैं । एक चित्र मूर्ति, सगीत, अथवा कोई प्राकृतिक दृश्य, जैसे सूर्योदय, सूर्यास्त, घनघोर घटा आदि हमारे सर्व सामान्य जगत् की नगण्य वस्तु और इसके भाग नही है, किन्तु प्रत्येक चित्र, मूर्ति और सगीत का अपना स्वय

पूर्ण लोक है। नन्दलाल बोस के दो चित्रो को पास-पास रख कर देखिए। इनकी लम्बाई-चौडाई पर ध्यान देने से ये दोनो हमारे वास्तविक जगत् की छोटी सी वस्तुएँ हैं। अब चित्रो को हृदयङ्गम कीजिए प्रत्येक चित्र कल्पना का एक लोक है, जिसमे भावना और आनन्द के प्रवाह बहते है। प्रेक्षक इन लोको का उदघाटन किए बिना इनका आस्वादन नही कर सकता। प्रकाश और आनन्द इन लोको के मुख्यतम अग हैं। इसलिये हम सौन्दर्य के 'मायिक' आनन्दमय लोक को 'आलोक लोक' कहेगे।

रसानुभूति की बाधाएँ इस 'आलोक-लोक' मे प्रवेश करने की असमथता से उत्पन्न होती हैं। आनन्दवद्धन के अनुसार प्रेक्षक मे 'सहृदयता' होनी चाहिये। 'सहृदय' प्रेक्षक वह है जिसमे तन्मय होने की योग्यता (तन्मयीभवनयोग्यता) है। अभिनवगुप्त इस सूत्र की व्याख्या करते हुए रसानुभूति की सात बाधाओ का उल्लेख करते हैं। सक्षेप मे वे ये हैं

1 **प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावना** विरह —यदि सुन्दर वस्तु का लोक इतनी दूर है कि उसके अस्तित्व की हम सम्भावना भी नही कर सकते तो उसको हृदयगम करने मे हम समर्थ नही होते। सुन्दर वस्तु हमारी प्रतीति के निकट होनी चाहिए। 'प्रतीति' के बाधक रसास्वादन मे भी बाधा उत्पन्न करते हैं, क्योकि निर्विघ्न 'सवित्ति' अथवा 'भाव' का नाम ही तो रस है। [सर्वथा वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस —अथवा—लोके सकल विघ्न विनिर्मुक्ता सवित्तिरेव चमत्कार निर्वेश रसादिभि शब्दैरभिधीयते]।

2 **स्वगतपरगतत्वनियमेन भेद कालविशेषावेश** —यदि प्रेक्षक 'स्व' और 'पर' के देश, काल आदि की विशेषता मे इतना आविष्ट है कि वह इस भेद को नही भुला पाता, तो वह सुन्दर वस्तु मे त मय न हो सकेगा। प्रेक्षक को उचित है कि वह अपने देश और काल के आवेश को छोड कर सुन्दर वस्तु के लोक मे जहाँ देश-काल की बाधा नही है, प्रवेश करे। कल्पनाशून्य व्यक्ति अपनी प्रस्तुत सीमाओ से मुक्त नही हो पाता, इसलिये उसके लिये कल्पना-लोक के सुख का अस्तित्व ही नही। सौ दर्य के आस्वादन मे 'स्व' और पर' मे बिल्कुल 'भेद' और बिल्कुल 'अभेद' दोनो ही बाधक हैं—इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। भेद और अभेद के मध्य मे जिस अन्तर से रसास्वादन सम्भव होता है, उसे हम रसान्तर्य' (Aesthetic distance) कहेगे। नाटक आदि देखने मे प्रेक्षक कभी इतना तन्मय हो जाता है कि वह दृश्य-जगत् की सारी घटनाओ का आरोप 'स्व' मे कर लेता है। इससे रसास्वादन

मे बाधा होती है। कभी वह 'पर' से इतनी दूर चला जाता है कि उससे उसका सम्पर्क ही विच्छिन्न हो जाता है। कुशल प्रेक्षक उचित 'अन्तर' पर रहकर आस्वादन करता है।

3 **निज सुखादि वशीभाव** —यदि प्रेक्षक अपने ही सुखादि मे उलझा है तो वह रसास्वादन के लिये असमर्थ है।

4 **प्रतीत्युपायवैकल्यम्** —5 **स्फुटत्वाभाव** इनका अथ है कि वस्तु का 'आलोक-लोक' ही स्पष्ट नही है और न यह प्रतीति उत्पन्न करने मे समथ है।

6 **अप्रधानता**—रस का आस्वादन प्रेक्षक अपने सम्पूण व्यक्तित्व से करता है जिसमे उसके नैतिक, धार्मिक और सामाजिक भावनाओ की तृप्ति भी होती। किन्तु यदि हमारी नैतिक अथवा धार्मिक भावना इतनी प्रबल बनी रहे कि सौन्दर्य का आस्वादन हमारे लिये गौण हो जाये तो इससे हमारी अनुभूति अवश्य फीकी पड जायेगी।

7 **सशययोग** —सुन्दर वस्तु का कल्पना-लोक यदि सन्दिग्ध रहे तो रसास्वादन निर्विघ्न न हो सकेगा। सौन्दय की प्रतीति प्रबल होनी चाहिए।

सुन्दर और उदात्त

जीवन मे वेदना ओत-प्रोत है, यहाँ तक कि यह कहना कठिन है कि जीवन से वेदना का आविर्भाव हुआ अथवा वेदना से जीवन को अस्तित्व मिला। जीवन मे वेदनाओ का निरतर घात-प्रतिघात चलता है। अनुकूल वेदना को सुख और प्रतिकूल वेदना को दुख कहते हैं। सौन्दर्य के जिस भावलोक मे हम 'आनन्द' का अनुभव करते हैं, वहाँ यद्यपि वासनाओ की तृप्ति अथवा अतृप्ति जन्य सुख दुख तो नही है तथापि वहाँ वासनाएँ हैं, वहाँ जीवन भी है, अतएव वहा अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाओ से उत्पन्न सुख-दुख दोनो ही विद्यमान रहते है। 'आनन्द की अनुभूति मे सुख दुख दोनो का ही समावेश है। पिछले अध्याय मे हमने आनन्द के स्वरूप को समझने के अवसर पर देखा है कि किस प्रकार, हमारे साधारण अनुभूत लोक से दूर, सौन्दय का भाव लोक है, जिसमे रस-चर्वणा द्वारा हम अनुकूल और प्रतिकूल दोनो प्रकार की वेदनाओ से लयात्मक सुख अथवा आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि हम यह मानें कि जीवन मे सुख का मूल काम-वासना है तो केवल शृगार रस मे ही अनुकूल-वेदनीय सुख उत्पन्न हो सकता है। इसमे भी विप्रलम्भ शृगार मे वेदना प्रतिकूल रहती है और इसके अतिरिक्त रौद्र, वीर, भयानक आदि रसो मे तो निश्चित रूप से ही प्रतिकूल वेदनाओ का समावेश रहता है। इस सबका तात्पर्य है कि रसानुभूति मे प्रधानत दुख से ही आनन्द का लाभ होता है।

विचित्र प्रतीत होने पर भी दुख से आनन्दानुभूति सौन्दर्य जगत् की सत्य घटना है। यही सौदय का महत्त्व भी है, क्योकि वस्तु के सौन्दर्य-अवगाहन करते समय प्रेक्षक भाव-लोक मे प्रवेश करता है जहा वास्तविक जगत् की प्रेरणा से दूर वह निर्भय होकर भय का, कायर होकर वीरता का, बिना कामुकता के भी काम-रस का, प्रखर अनुभव करने मे समथ होता है। रसास्वादन की क्रिया द्वारा भय आदि आवेगो से उत्पन्न प्रतिकूल वेदनाएँ भी रूपान्तरित होकर केवल आनन्द उत्पन्न करती हैं। भयकर नद, प्रपात अथवा गर्त्त को देखिए। इसके सौन्दय के अवगाहन के क्षण मे इनकी सम्पूर्ण भयकरता हृदय मे प्रवेश करती है। प्रेक्षक तन्मय होकर भय की पूर्ण

भावना से प्लावित हो जाता है। प्रपात के भयकर नाद को वह सुनता है, ऊपर से गिरती हुई जल-राशि के साथ गिरता है, और, प्रबल आघात से पागल होकर फेनो के रूप मे गर्जन करके उठ खडा होता है, और, फिर मानो अपने को ऊँचे पर जाने के लिये असमर्थ पाकर प्रलाप करता हुआ प्रवाह बन कर चट्टानो पर सिर धुनता हुआ बह निकलता है। आगे यही भयावह गजन करती हुई जल-राशि एक शान्त धारा बन जायगी जिस पर नावें अठखेलियाँ करेंगी, इत्यादि। प्रेक्षक इस सम्पूण दृश्य को अपनी आत्मा मे मानो भर लेता है, और प्रपात की सम्पूर्ण भयकरता का अनुभव निभय होकर करता है, क्योकि इस अनुभूति के तल मे विश्वास है कि वह भाव-लोक मे है, जहाँ भय की भयकरता चर्वणा द्वारा आनन्द को ही उत्पन्न करती है। भय के इस अनुभव से जो वास्तविक जीवन मे कदापि सम्भव नही प्रेक्षक का चित्त अवश्य ही लाघव का अनुभव करता है। इसी प्रकार अन्य आवेगो के अनुभव मे इनकी प्रखरता के साथ तन्मय होकर प्रेक्षक चित्त लाघव प्राप्त करता है। इससे जीवन मे आवेगो के वग से उत्पन्न 'तनाव' और भार कम हो जाते है जिससे अदभुत मानसिक स्वास्थ्य और मन प्रसाद का अनुभव होता है। करुण आदि रसो के अनुभव को लेकर अरस्तू नामक यूनानी विद्वान् ने भी इनकी उपयोगिता का उल्लेख किया है। इन रसो के अनुभव से आवेगो का वेग-निरसन (catharsis) होता है। यही कारण है कि रसास्वादन मे प्रतिकूल वेदनाएँ भी परम आनन्द को ही उत्पन्न करती है।

हास्य का आनन्द भी वस्तुत दुख का आनन्द है। हम जिस वस्तु अथवा परिस्थिति पर हँसते हैं उससे तदाकार होकर उसी के गुणो का अपने मे अनुभव करते है, जैसे, हम किसी बहुत मोटे, बहुत छोटे, विरूप व्यक्ति को देखकर अथवा वर्षा मे किसी को फिसलते हुए या किसी के टोप को हवा मे उडते हुए देखकर बहुधा हँसते हैं। इन सब परिस्थितियो मे, स्वाभाविक सहानुभूति के कारण हम उपहासास्पद व्यक्ति की भावनाओ का अपने मे अनुभव करते है। किन्तु यह अनुभव, वास्तविकता से दूर, भाव-लोक अथवा कल्पना मे होता है, इसलिये वस्तुत हम गिरने वाले के साथ गिर कर भी नही गिरे। इस परिस्थिति को बुद्धि नही सुलझा पाती और, हृदय, भावना से प्लावित होने के कारण, आवेग की प्रतिकूल वेदना को हँस कर मानो दूर भगा देता है। हँसना हमारी सहज-क्रिया है अर्थात् इसके लिये मानसिक श्रम अथवा चिन्तन अनावश्यक है। सहानुभूति के आवेग से स्वत ही मन और शरीर की क्रियाएँ हास्य मे सचालित हो जाती हैं। यही दशा अन्य भय, करुणा, रौद्र आदि आवेगो के अवसर पर भी होती है। जब हम,

वास्तविक जगत् से दूर होकर, केवल भाव लोक मे, भयकर, करुण, रुद्र आदि का रसास्वादन करते ह तो अन्तर्भावनात्मक स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ये आवेग हमे तन्मय बना देते है। इससे चर्वणा और लयात्मक सुख अथवा आत्म विस्मति का सचार होता है, और, जीवन की ये प्रतिकूल वेदनाएँ हमारे लिये आनन्द का स्रोत बन जाती हैं।

'सुन्दर' हम उन वस्तुओ को कहते है जो अपने रूप, भोग, अभिव्यक्ति द्वारा प्रेक्षक में अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत करती हैं, जिस प्रवृत्ति के कारण रसिक प्रेक्षक रसास्वादन और रस-चवणा मे प्रवृत्त हो जाता है। रस-चवणा भाव लोक की एक क्रिया है जिससे अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाएं सभी लयात्मक सुख अथवा आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करने मे समथ होती हैं। इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य का अनभव कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियो पर निभर है। सहृदय प्रेक्षक और कलाकार मे ये प्रवृत्तिया प्रकृष्ट होती है, इसलिये वह सम्पूण प्रकृति और मानव कृतियो मे सौन्दर्य का आस्वादन करने मे समथ होता है। वन-उपवन, वृक्ष, लता, पुष्प, पल्लव, सरित्, सरोवर, सागर, पर्वत आकाश, घन, विद्युत् आदि अनन्त प्राकृतिक पदाथ सहृदय के लिये अक्षय आनन्द के निधान है। वह इनमे तन्मय होकर इनके सौन्दर्य का अवगाहन करता है। उसके हृदय मे लहरो का उल्लास और बादलो की विकलता दोनो ही रहती हैं। वह पुष्प की कोमलता और चटटानो की ककशता का समान रूप से अनुभव करता है। उसके हृदय मे प्रपातो का उन्मुक्त वेग और बवडरो का भयावह आवर्त्तन भी आस्वादन की क्रिया को जाग्रत करते है। इसी प्रकार कला कृतियो मे, अपनी स्वाभाविक क्षमता के कारण, सगीत, चित्र, नृत्य, काव्य-नाटको के ससार मे जाकर वह रसास्वादन करता है। ये सब वस्तुएँ उसके लिए 'सुन्दर' है।

मनुष्य अपने गम्भीर आध्यात्मिक स्वभाव के कारण केवल सौन्दर्य के रस से सन्तुष्ट नही होता। वह जगत् की मूर्त्त वस्तुओ मे सुख दुख का अनुभव करता है, किन्तु उसके लिये अध्यात्म जगत् की अमूर्त्त अनुभूतियाँ और घटनाएँ भी परम सत्य हैं। वहाँ व्यक्त जगत की घटनाएँ तो नही हैं, किन्तु कुछ अचिन्त्य, अद्भुत सनातन सत्य वहाँ स्पष्ट दिखाई पडते हैं। साधारण मनुष्य तो उनकी झाँकी कदाचित् ही पाता है, किन्तु कलाकार, क्रान्त दर्शी कवि और आध्यात्मिक तत्त्वो का साक्षात अनुभव करने वाले ऋषि इन सनातन सत्यो को ही जीवन का सत्य मान कर उन्ही को समझने और सुलझाने मे तल्लीन रहते है। 'जीवन निरन्तर गति है, 'आत्म-तत्त्व

अमर, अनन्त, अनादि हैं', 'आत्मा एक है', 'आत्मा चेतन तत्त्व है', 'आत्मा सत्य है, चित और आनन्द' है', सूय और चन्द्रमा इसके नेत्र है, वायु इसका प्राण है, आकाश इसके केश हैं, इत्यादि।' ये सब केवल शब्द ही नही है, किन्तु आध्यात्मिक जगत की परम सत्य घटनाएं हैं जिनका साक्षात्कार बिजली और बादल की भाँति ही ऋषि गण करते है। 'अनन्त' यह साधारण मनुष्य के लिये शब्द-कोश का एक शब्द है जिसके अर्थ का साक्षात्कार दार्शनिक परम लय की अवस्था मे करता है। हम इन अनुभूतियो को इसलिये अस्वीकार नही कर सकते, कि इनका आभास हम अपने धार्मिक और नैतिक जीवन मे पाते है। हमारा स्वय अस्तित्व अनन्त सत्ता का अग है। वह सत्ता अज्ञेय, अमेय, अनिवचनीय है, किन्तु बिना इस सत्ता को जाने हुए हम अपने अस्तित्व को ही कैसे समझ सकते हे? इसलिये हम अज्ञेय के द्वारा ज्ञेय को जानना चाहते हैं, अमेय के द्वारा मेय को नापना चाहते ह, अनिवचनीय के द्वारा हम निवचन करने को प्रस्तुत है। इस परिस्थिति के कारण, जीवन मे दार्शनिक दृष्टिकोण आवश्यक हो जाता है। इस दार्शनिक दृष्टिकोण को जीवन मे लाने के लिये अर्थात् उसके 'योग' के लिये साधारण सुख-दुख के ससार का वियोग (विराग) आवश्यक है। आध्यात्मिक जगत् के अनन्त, अमृत, आलोक मे रहने के लिये लोक का त्याग अनिवाय है (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा*)। इससे एक अनन्त और अनिवचनीय पीडा' का उदय होता है।

यहाँ कठिनता इस बात की है कि हम एक ओर तो अपने ही अध्यात्म तत्त्व को अस्वीकार नही कर सकते जहाँ से हमे निरन्तर अव्यक्त किन्तु परम सत्य सन्देश मिला करते हैं, जो हमे मृत्यु से अमरत्व की ओर, तम से ज्योति की ओर, असत्य से सत्य की ओर, निरन्तर इङ्गित से मानो बुलाता रहता है। दूसरी ओर हम अपने पार्थिव अस्तित्व को नही छोड पाते, जिसके बिना उस आलोक लोक मे प्रवेश असम्भव है। इस कठिनाई का अनुभव जगत के सभी दार्शनिक, कवियो और धम-प्रवत्तको ने किया है। धम, कला और दर्शन का मूल उद्देश्य इसी समस्या को सुलझाना है। प्रत्येक ने अपने ढग से इसे सुलझाने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम इन विविध सुलझावो की उलझन मे न पड कर, सौन्दय शास्त्र का एक महत्त्वपूण प्रश्न ही लेंगे। वह प्रश्न इस प्रकार है आध्यात्मिक जगत् की अनन्त अनुभूति मे भी वेदना रहती है। यह वेदना अनन्त होगी। हम नहीं जानते कि यह अनुकूल अथवा प्रतिकूल है, किन्तु इतना सत्य है कि यह हमारे ही अन्तर की सत्यतम

* ईशोपनिषद।

वेदना है जिसका प्रत्याख्यान असम्भव है। हमारे साधारण अनुभव से यह भिन्न है। इस भिन्नता के कारण हम एक को त्याग कर (वैराग्य द्वारा) ही दूसरे को पा सकते हैं। इससे हमारे अध्यात्म-जगत् की वेदना अनन्त पीडामय है। हम किस प्रकार इस अनन्त पीडा को आनन्द मे रूपान्तरित करें ? किन उपायो से जीवन की अनन्त पीडामय वेदना को मूत्त बनाकर उसका रसास्वादन करें ?

जब हम इस अनन्त पीडा को चित्र, काव्य, मूर्ति, भवन आदि मे मूत्त बना कर अथवा प्राकृतिक पदार्थों मे इसी का मूत्त रूप पाकर, इसका आस्वादन करते हैं, तब हम इन्हे 'सुन्दर' न कह कर 'उदात्त' कहते हैं। वस्तुत 'सुन्दर' का ही उत्कृष्ट रूप 'उदात्त' है, जिसमे प्रवृत्तियो से ऊँचे उठ कर मन आध्यात्मिक जगत् की अनुभूतियो का मूर्त्त रूप मे आस्वादन करता है। ससार की धार्मिक कला का क्षेत्र 'उदात्त' का क्षेत्र है। प्रस्तुत अध्याय मे 'उदात्त' के स्वरूप को समझने के लिये हमे कई धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोणो की विवेचना करनी होगी।

(2)

हमारा प्रश्न है किस रासायनिक विधि द्वारा जीवन की अव्यक्त और अनन्त वेदना 'आनन्द' मे रूपान्तरित होती और मूर्तिमती होकर हमारे रसास्वादन के योग्य हो जाती है ?

इस वेदना का रसास्वादन ही 'उदात्त' का स्वरूप है।

हम सबसे पहले कला शास्त्र का दृष्टिकोण लेगे। इसके अनुसार वेदना उसी समय तक पीडोत्पादक होती है जब तक वह व्यक्त और मूर्तिमती नही होती। साधारणतया वेदना आवेग के रूप मे अनुभव की जाती है और स्वरूपहीन होने के कारण एक मानसिक आन्दोलन (Feeling Storm) उत्पन्न करती है। इससे मन पीडित होता है। किन्तु ज्यो ही यह वेदना कथानक, चित्र मूर्ति आदि का निश्चित स्वरूप पा लेती है, इसका आवेग शान्त और स्थिर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे आँधी के पश्चात् आकाश निर्मल और प्रसन्न हो उठता है। साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ मूर्तिमती वेदनाएँ हैं। कलाकार की सृजनात्मक शक्ति वेदना के वेग और बवडर को व्यवस्था, रूप, सन्तुलन देकर उसे स्थिरता प्रदान करती है। इससे वह आस्वादन के योग्य हो जाती है।

हमारा यह विचार पुराना है जिसका कुछ उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी से मिलता-जुलता विचार जाज सान्तायन ने अपनी (Life of Reason)

नामक पुस्तक मे उपस्थित किया है। वह कहता है 'यह समझ लेना कि पीडा कितनी न्याय्य, अनिवार्य और हमारे जीवन का अभिन्न अग है और हमे शोक मनाने के लिये कितना उचित कारण है, हमारी पीडा और शोक के लिये परम सान्त्वना है।'* इसका अथ है कि वेदना उसी समय तक वेदना रहती है जब तक उसका क्षेत्र आवेग और भावना तक सीमित रहता है। ज्यो ही वह आवेग के क्षेत्र से प्रकाश और विवेकदायिनी बुद्धि के क्षेत्र की ओर अग्रसर होती है, हमे सान्त्वना मिलती है। वेदना स्वय प्रकाशित हो उठती है और मानव जीवन का स्पष्ट सिद्धान्त बन जाती है। बुद्धि का स्पश वेदना को सान्त्वना मे रूपान्तरित कर देता है।

काण्ट† नामक जमन दाशनिक ने कला शास्त्र के दृष्टिकोण का स्पष्ट करते हुए 'उदात्त' के स्वरूप को निश्चित किया है। वह कहता है कि समुद्र-तट पर खडे होकर दिगन्त-व्यापी जल-राशि को देखिए। उस समय बुद्धि का हस्तक्षेप न करना चाहिए, क्योकि 'यह समुद्र पृथ्वी-गोलक का तीन चौथाई भाग है', अनेक राष्ट्रो के लिये वह उपयोगी जल माग है' आदि बौद्धिक विचार आते ही समुद्र के साक्षात्कार करने से जो भावना जाग्रत होती है वह दब जायगी। अतएव समुद्र की अनन्तता, तरलता, विस्तार आदि को अपनी पूण शक्ति के साथ तल्लीन होकर हृदय मे आने दीजिए। उस समय 'समुद्र का सौ दय' हृदय मे भावना बन कर उमडगा। बुद्धि-तत्त्व के स्थगित होने से तन्मयता की वृद्धि होगी और भावना और भी तीव्र हो जायगी। इस अवस्था मे प्रेक्षक के हृदय मे एक अपूव वेदना का उदय होगा—वह अनन्त, उत्ताल तरङ्गमय जल-विस्तार उसके लघु जीवन के लिये कितना विशाल है! इससे हृदय कुछ सहम और सिहर उठेगा। कि‍तु दूसरे ही क्षण मानो इस विशालता का पूण आस्वादन करने के लिये हृदय मे भी विशालता का उदय होना प्रारम्भ होगा। आत्मा को अद्भुत स्फूर्त्ति का अनुभव होगा, नवीन ज्योति और शक्ति जग उठेगी। यह अनुभव जिसे काण्ट 'आध्यात्मिक स्फूर्ति' (Spiritual reinvigoration) कहता है। 'उदात्त' का सार है। उदात्त की अनुभूति मे सौन्दय का सरस आनन्द नही होता। वैसे भी जीवन मे सुख से भी अधिक दुख मे प्रेरक शक्ति होती है।

"*To know how just a cause we have for grieving is already a consolation, for it is already a shift from feeling to understanding" P 64

† काण्ट के अतिरिक्त 'उदात्त' का प्रतिपादन लोजाइनस, नीट्शे आदि ने किया है। देखने योग्य. सुन्दरम् डा० ह० ला० शर्मा

इसलिये सौन्दय के अनुभव मे इतना मानसिक स्फुरण नही रहता। उदात्त के अनुभव मे अनन्त वेदना के उदय से पहले तो कुछ 'सकोच' और 'भार' (Depiession) का अनुभव होता है, किन्तु इसी कारण फिर नवीन चेतना, शक्ति और स्फूर्ति का जागरण होता है। उदात्तानुभूति का आनन्द इसी आध्यात्मिक स्फूर्ति के उदय का आनन्द है। समुद्र, पर्वत शिखर, विशालकाय गिर्जे, मन्दिर आदि के देखने से हम 'उदात्त' का अनुभव करते हैं।

काण्ट का मत सत्य होने पर भी सकुचित है। उदात्त के अनुभव मे अन्य कोई तत्त्व सम्मिलित रहते हैं।

(3)

आधुनिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण कुछ गम्भीर है। यूग नामक जर्मन पडित ने 'सुन्दर' और 'उदात्त' के विवेचन मे अध्यात्म विद्या के आधार-तत्त्वो का प्रयोग कर उसे गम्भीर बना दिया है। उसके अनुसार हमारे मानसिक जीवन का आधार एक अनन्त, अपरिमेय, अपौरुषेय, अचेतन तत्त्व है जिससे हमारा चेतन मन, कामना और प्रवृत्तियाँ, यहाँ तक कि हमारा व्यक्तित्त्व, अहभाव, हमारे धम, दशन और कला का उदय होता है। यह अज्ञेय तत्त्व है, किन्तु इससे उदय होने वाली व्यक्त सृष्टियो को देख कर हम यह निश्चय समझते हैं कि यह साक्षात् जीवन-शक्ति (Life energy) है जो अपनी तृप्ति अभिव्यक्ति द्वारा पाने के लिये निरन्तर जाग्रत रहती है। अभिव्यक्ति द्वारा तृप्ति चाहने वाली यह शक्ति अपनी परम तृप्ति स्त्री और पुरुष के शरीर मे पाती है। स्त्री और पुरुष, इनका नैसर्गिक बनाव और पारस्परिक आकषण, इसी जीवन शक्ति का एक पहलू है जिसे यूग 'काम' अथवा (Libido) कहता है। सम्पूर्ण जीव-सृष्टि मे काम व्यापक तत्त्व है। यह एक सृजनात्मक शक्ति है इसी से धर्म, समाज व्यवस्था आदि का आविर्भाव होता है। इसी से कला और सौन्दर्य का भी उदय होता है। सौन्दर्य मे काम तत्त्व की सरसता, विह्वलता, रस-चर्वणा सभी विद्यमान रहते हैं। फ्रॉयड जो यूग का गुरु है सौन्दर्य के आस्वादन को मन के द्वारा काम-रस का आस्वादन मानता है। केवल भेद इतना है कि भोग का माध्यम वास्तविक अनुभव से ऊपर कल्पना हो जाता है। सौन्दय के आस्वादन मे जीवन की शक्ति स्वय काल्पनिक माध्यम द्वारा काम रसमय (Sexualized) हो जाती है। प्राकृतिक वस्तु अथवा मनुष्य द्वारा सृष्ट कला-कृति जो भी इस आत्म-तत्त्व को रसमय बनाने मे समथ होती है वह हमारे लिये 'सुन्दर' होती है।

परन्तु, यूग के अनुसार, 'सुन्दर' से भी अधिक तृप्ति मनुष्य को उस समय

प्राप्त होती है, जब वह स्त्री पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण को त्याग कर अथवा इससे ऊँचे उठ कर आत्मा के आधारभूत अनन्त तत्त्व मे एकाकार होने का प्रखर अनुभव करता है। उस समय हमारा सीमित व्यक्तित्त्व, उसके साधारण सुख दुख, पाप पुण्य की मीमासा विधि निषेध के विधान, सभ्यता और सस्कृति का दायित्त्व, मानो आत्मा के अनन्त, अचेतन अन्तराल मे समा जाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। अनन्त की इस भावना के उदय से हमारा ससीम व्यक्तित्त्व एक ओर तो सिहर उठता है, किन्तु दूसरी ओर बन्धनो से मुक्त होकर अद्भुत आह्लाद का अनुभव करता है। उदात्त की अनुभूति मे अनन्त वेदना के साथ अनन्त आनन्द का अनुभव ही इसका प्राण है। ससीम व्यक्तित्त्व के एक साथ असीम हो उठने से अनन्त वेदना और बन्धनो की मुक्ति के कारण आवरण भग होने से—अनन्त और अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। सृष्टि मे अनेक दिव्य पदार्थ हैं जिनको हृदयगम करने से हमे इसी 'अनन्त' तत्त्व का अनुभव हो जाता है। इसकी अभिव्यक्ति से आत्मा भी असीम और अनन्त हो उठता है और इसके व्यक्तिगत बन्धन छूटने लगते हैं। कला मे भी सगीत, चित्र, मूर्ति, भवन आदि के देखने से कभी-कभी इसी प्रकार का अनुभव होता है। इन सब पदार्थों को हम 'सुन्दर' ही नही 'उदात्त' भी कहते हैं। इनकी अनुभूति भी 'उदात्त' कहलाती है।

सक्षेप मे, इस मत के अनुसार, ससीम, बन्धन-ग्रस्त मानव व्यक्तित्त्व मे असीम और अनन्त तत्त्व के उदय से अनन्त वेदना और अनन्त आनन्द का एककालिक अनुभव होता है। यह अनुभव ही 'उदात्त' का अनुभव है।

(4)

भर्तृहरि ने अपने शतको मे सुन्दर और उदात्त भावनाओ का विशद रूप उपस्थित किया है। 'शृङ्गार शतक' मे सौन्दर्यानुभूति की मूलभूत भावना अर्थात् काम और इसकी चर्वणा से उत्पन्न रस का निरूपण है। इसमे दार्शनिक कवि सौन्दर्य के अधिष्ठातृ देव की जिनके—विचित्र चरित्र वाणी के लिये अगोचर हैं प्रार्थना द्वारा मङ्गलाचरण करता है 'वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय तस्मै नमो भगवते मकर-ध्वजाय।' काम को सौन्दर्य के प्राण रूप मे प्रतिष्ठित करने के लिये भर्तृहरि को वैदिक साहित्य से अवश्य प्रेरणा मिली होगी। बृहदारण्यक मे उपनिषद् मे पति पत्नी की उत्पत्ति का वर्णन दार्शनिक है। सर्व प्रथम वह आत्मा एकाकी ही उत्पन्न हुआ, किन्तु उसको रमण और रञ्जन के लिये कुछ न मिला। सारा विश्व नीरस प्रतीत हुआ, तब उसने 'द्वितीय' की इच्छा की और अपनी एक हो आत्मा को द्विधा अर्थात्

दो भागो मे विभक्त किया जिससे पति और पत्नी का उदय हुआ । इस प्रकार एक ही आत्मा के दो भाग होने के कारण इनमे स्वाभाविक आकर्षण और इतनी मनोरमता हे । इनका पुन सयोग इतना चमत्कार और रस उत्पन्न करता है कि यह क्षण आनन्दानुभूति का प्रकृष्टतम समय होता है जब कि जीवन की सम्पूर्ण वेदना पिण्डी भूति होकर प्रखर हो उठती है । उपनिषद् के इस दार्शनिक विवेचन को अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की 'लोचन' नाम की टीका मे स्वीकार किया है और कहा है कि रति अत्यन्त व्यापक भावना है । इसके समान जीवन मे सन्तुलन और 'हृदय-सवाद' (Harmony) उत्पन्न करने वाली अन्य भावना नही है पति के हृदय मे भी यह चमत्कार उत्पन्न करती है ।

भर्तृहरि का शृङ्गार शतक स्त्री को सौन्दर्य का परम प्रतीक सिद्ध करने के लिये काव्यात्मक दर्शन ग्रन्थ है । वस्तुत स्त्री का शरीर सम्पूर्ण कलाओ की समष्टि है । उसमे सगीत की मधुर ध्वनि और चित्र के रग और रेखाओ का सुन्दर विन्यास है । उसकी गति मे नृत्य है । वास्तु-कला और मूर्तिकला के सापेक्ष, सन्तुलन आदि सभी सिद्धान्त वहा प्रत्यक्ष हो जाते हैं । उसके वचनो मे साहित्य का प्राण है जिसे हम रस कहते हैं । कला-विशारदो द्वारा की गई रूप, शोभा, कान्ति, समता, लावण्य, सुन्दर आदि की परिभाषाए अपना जन्म स्त्री के शरीर से लेती हैं । इन सबसे बढकर, वह आध्यात्मिक और शारीरिक वेदनाओ की परम तृप्ति करने मे समर्थ है । इस प्रकार भर्तृहरि ने सौन्दर्य के सारभूत और कलाओ की समष्टि रूप स्त्री को अपने 'दर्शन' का केन्द्र माना है । रति और रस-चर्वणा इस सौन्दय के आधार हैं ।

किन्तु भर्तृहरि सच्चे दार्शनिक की भाँति सरस सौन्दर्य से सन्तुष्ट न होकर उदात्त' भावना की ओर क्रमश चलते हैं । इसके लिये 'वैराग्य' का उदय होना आवश्यक है । भर्तृहरि ने वैराग्य के मूत्तदेव 'कामारि' की प्रार्थना से उदात्त भावना के मूलभूत सिद्धान्त का निरूपण करने के लिये 'वैराग्य-शतक' का प्रारम्भ किया है । वैराग्य काम की विरोधी भावना अवश्य है, किन्तु इसका मूल जहाँ से इसे स्वरूप और शक्ति मिलती है वही है । वैराग्य का पूर्ण विकास कई भूमियो के अनन्तर होता है । अन्तिम भूमि मे 'उदात्त' की प्रखर अनुभूति का उदय होता है । सबसे प्रथम तो वैराग्य का उदय हृदय मे विकलता पूर्ण 'शून्यता' का अनुभव उत्पन्न करता हे । स्त्री के सरस सौन्दर्य मे आसक्त मन, वैराग्य के उदय से, मानो अकस्मात् एक अपूर्व प्रकाश-लोक मे जग उठता है, और, उसे इन्द्रियो की प्रवञ्चना स्पष्ट होने लगती हे । एक ओर अतृप्त मन सौ दय के रसमय लोक की ओर लालायित होकर देखता है, और, दूसरी ओर उसे वैराग्य का आलोकमय उदात्तरूप झलकने लगता

है। अब उसे 'स्त्री प्राणिलोक के पाश की भाति विष और अमृतमय प्रतीत होने लगती है। जिसका सृजन उसने स्वय अपने मन से आत्मा को द्विधा विभक्त करके किया था, अब वह नही समझ पाता कि इसकी सृष्टि किसने की है 'स्त्रीयत्न केन सृष्ट विषममृतमय प्राणिलोकस्यपाश ।' वह कहने लगता है कि सारे सुखो का मूल स्त्री ही सारे दुखो का मूल भी है 'नान्यन्मनोहारि नितम्बनीभ्यो दु खैक हेतु न च कश्चिन्दया ।'

यह वैराग्य की प्रथम भूमि है। इसमे विकलता और वेदना रहती है। किन्तु इसमे शून्यता होती है, अत वैराग्य का आनन्द नही रहता। इस शून्यता मे कोई कला की सृष्टि भी इसीलिये सम्भव नही। यदि इस दशा मे किसी कला अथवा साहित्य का निर्माण होता भी है तो वह केवल उत्ताप, अतृप्ति, विकलता का वद्धक होता है। किन्तु हृदय की यह शून्यावस्था देर तक नही रहती। इसमे शम और सन्तोष के स्रोत फूटने लगते है और जीवन का विशेष दृष्टिकोण और पथ प्रशस्त होने लगता है। अब पश्चाताप और विकलता का स्थान स्थिरता और शान्ति ग्रहण करती हैं। भोग के प्रति उदासीनता इस द्वितीय अवस्था का मुख्य लक्षण है 'प्राप्ता श्रिय सकलकामदुघा स्तत किम् ' यह औदासीन्य की प्रकृष्ट अवस्था है।

उदासीनता वैराग्य की 'उत्ताप' के अनन्तर दूसरी भूमि है। यह भूमि शून्य नही, किन्तु ऊर्वर है। गिर्जे, चैत्य आदि का प्रारम्भ, तीर्थों का अटन, तपोभूमि, सन्यास और जीवन की सरलता का उदय इसी भूमि मे हुआ है। स्मरण रहे कि चैत्य से स्तूप और स्तूप से मन्दिर का विकास हुआ है। चैत्य[1] स्मशान-भमि मे बने हुए ध्यान गृह को कहते है जहाँ मनुष्य मृत्यु के समीप रह कर वैराग्य को दृढ बनाता है। धार्मिक साहित्य और कला का पर्याप्त भाग इसी उदासीनता की भावना की उपज है।

उदासीनता के अनन्तर हृदय मे नवीन सृष्टि करने के लिये नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा का उदय होता है। प्रतिभा के उन्मेष से कल्पना सौन्दर्य लोक को छोड कर आदर्शो के दिव्य लोक मे जाती है। हमारे लोक से भिन्न स्वग और वैकुण्ठ, शिव, सत्य, लोको और दिव्य विभूतियो की रचना प्रारम्भ हो जाती है। यह जीवन मे 'पलायन' प्रवृत्ति का उदय है। इसमे वैराग्य से प्रथम बार ही आनन्द का स्फुरण होता है। यह मानसिक अवस्था अत्यन्त ऊर्वर होती है। सभी देशो के सभी धर्मों का साहित्य, उनके सिद्धान्त और कल्पनाएँ, मन्दिरो, गिर्जों की भव्य मीनारें, शिखर, कलश, दिव्य मूर्तियाँ तथा धर्म की सारी दिव्य व्यवस्था, इसी प्रवृत्ति की उपज हैं।

---

*चिता, चिति, चित्या, तीनो पर्याय हैं इनका सम्बन्ध चैत्य से बताया जाता है।

भर्तृहरि की पलायन प्रवृत्ति ने 'लीला दग्ध विलोल कामशलभ' 'ज्ञान-प्रदीपोहृर' और शिवलोक की अत्यन्त उदात्त कल्पना की है।

शनै शनै वैराग्य की आभा मे कल्पना लोको से भी ऊपर दिव्य-आनन्दमय लोक का दर्शन होने लगता है। 'ज्ञान-प्रदीप हृर' को छोड कर एक व्यापक तत्त्व का आविर्भाव होता है जिसमे सारे लोक सन्निहित हैं, जिसमे मृत्यु और जन्म दोनो ही समाविष्ट हैं, जिसमे सासारिक भोग क्षणिक विलास की भाँति हो जाते हैं। यह लोक 'काल' है। भतृहरि अपने वैराग्य के विकास मे सवव्यापी काल तत्त्व का अनुभव करते हैं और उसे नमस्कार करते हैं

सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथ कालाय तस्मै नम ।

किन्तु काल स्वय भय है। इसके विशाल गभ मे सब कुछ क्षण की भाँति आगमापायी है। इसलिये इस अवस्था मे आनन्द न्यून रहता है। हम काल को नमस्कार करते हैं, किन्तु हम स्वय काल नही हैं। वैराग्य का विकास इस स्थिति मे नही ठहर सकता। अपनी पूर्णता के लिये वह स्वय ही व्यापक तत्त्व के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। उसका पृथक् व्यक्तित्त्व, उसके बन्धन और सीमाएँ अध्यात्म की एकत्व भावना मे मग्न होने लगती है, उसके व्यक्तित्व तो विलय पाता है, किन्तु उसका आत्मा उस ब्रह्म-तत्त्व मे निमग्न होकर अद्‌भुत आलोक और आनन्द का स्वरूप धारण करता है। यह वही व्यक्ति है जिसके लिये "नचास्मिन ससारे कुवल-यदृशो रम्यमपरम्।" अब वही कहता है "ज्ञानापास्त समस्त मोहमहिमा लीये परम ब्रह्मणि।"

ब्रह्म-लय वैराग्य की चरम भूमि है, और, साथ ही अनन्त वेदना जो वैराग्य से उत्पन्न होती है और इस चरम-भूमि मे पहुँच कर अनन्त आनन्द को भी उत्पन्न करती है। यह 'उदात्त' की अनुभूति।

(5)

सच पूछा जाये तो 'धम की अनुभूति' उदात्त की अनुभूति है, क्योकि धर्म का उदय ही जीवन मे असीम और अनन्त तत्त्व की स्पष्ट अथवा अस्पष्ट झाँकी से होता है। हमारे जीवन की सम्पूर्ण प्रेरणा और प्राथना इसी तत्त्व को पाने के लिये है। यदि जीवन केवल जन्म से मृत्यु तक ही सीमित है, यदि इसके आगे और पीछे सत्ता ही समाप्त है तो वह तुच्छ, हेय पदार्थ प्रतीत होने लगेगा। अनन्त और असीम की प्रतीति से जीवन मे महत्त्व का उदय होता है, पाप-पुण्य, सुख दुख, का अथ गम्भीर

हो जाता है। ईसाई धम ने पश्चिमी देशो को आत्मा के अमरत्व का सदेश देकर उन्हे पशु-जीवन से दिव्य जीवन की ओर आगे बढाया। उदात्त का जो स्वरूप हमे ईसा से मिला है, उसमे मृत्यु के ऊपर अमरत्व की विजय, शरीर के ऊपर आत्मा की विजय, क्रोध के ऊपर क्षमा की विजय, का दिव्य सदेश है। ईसाई धम मे ईसा की मूर्तियो द्वारा, इटली देश के अनेक विख्यात चित्रकारो द्वारा निर्मित चित्रो और सारे योरोप मे इतस्तत प्रसृत गोथिक गिर्जो द्वारा, इसी 'उदात्त भावना को सवाक् और समूत्त बनाया है।

बुद्ध का 'निर्वाण' वस्तुत जीवन की सीमाओ से पार जाकर असीम सत्ता मे लय हो जाना है। उसे 'विनाश' अथवा दीपक का बुझ जाना ही समझिए। किन्तु इस विनाश और शून्य के आभास से जीवन मे एक नवीन आभा और स्फूर्ति का जन्म होता है जिससे बुद्ध की असख्य मूर्तियो आर अनेक देशो मे फैले हुए स्तूप और पगोडाओ का निर्माण हुआ। जीवन अनन्त विषाद है, इसका अवसान केवल निर्वाण द्वारा ही सम्भव है। मृत्यु और निर्वाण मे ही विषाद के अवसान से अन त आनन्द का आविर्भाव सम्भव हो सकता है। यद्यपि बुद्ध ने जीवन अथवा मृत्यु मे आनन्द और सुख को स्वीकार नही किया था तथापि अनन्त विषाद के अवसान की कल्पना को उन्होने मनुष्य जीवन का ध्येय माना था। इससे भी एक लोकोत्तर वेदना और सन्तोष का अनुभव होता है। बौद्ध धम मे 'उदात्त' का स्वरूप यही अनुभूति हे।

महाभारतकार व्यास की 'शान्ति' की कल्पना अद्भुत ह। यह विश्व अनादि और अनन्त, सीमा-हीन, निरन्तर गतिशील काल का प्रवाह है। इस विराट मे असख्य ब्रह्माण्ड, कोटि कोटि शशि सूय रोम रोम मे समाये हुए हैं। हमारी साधारण कल्पना इस विराट् का दशन कर ही नही सकती। इसके लिये दिव्यचक्षु की आवश्यकता होती है। इस विराट् का साक्षात्कार होने पर हमारा लघु जीवन एक साधारण बुद्बुद् की भाँति जान पडता है। सृष्टि और प्रलय विराट् के श्वासोच्छ्वास हैं, जीवन और मृत्यु उसकी क्रीडा है। इस दशन से हम जिसे अपने जीवन मे सुख-दु ख पाप-पुण्य, प्रेम-सौहार्द आदि कहते ह वे सब निरथक हो जाते हैं। हमारा ससीम व्यक्तित्त्व इस असीम का प्रतिरोध कैसे करे? अत हमारे व्यक्तित्त्व की सीमाएँ विस्फारित होने लगती है, उसके प्रेम, राग, पुण्य आदि की मीमासा व्यर्थ होने लगती है। इससे जीवन का सम्पूर्ण विषाद जग उठता है। अर्जुन का विषाद जीवन की वास्तविक वेदना है। उसका उपचार केवल प्रिय प्रतीत होने वाले ससीम व्यक्तित्त्व का त्याग करना है। तब तो हम स्वय असीम 'काल' हो जाते हैं। सारी सृष्टि का आनन्द ही मेरा आनन्द हो जाता है। सब भय समाप्त हो जाते हैं,

सब बन्धन गिर जाते हैं। आत्मा अपने दिव्य, अमेय, अनन्त स्वरूप को पाकर परम स्वास्थ्य का अनुभव करती है। इस अनुभूति को 'शान्ति' कहते है जिसमे सुख और दु ख का स्पर्श नही है, पाप और पुण्य का द्वन्द्व नही है, जीवन और मृत्यु का सघर्ष नही है। इस स्थिति को पाकर हम व्यास के इस उपदेश के भागी हो जाते हैं "त्यज धममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज।" धर्म और अधम, सत्य और अनृत दोनो को छोड दें क्योकि स्वतन्त्र और अनन्त आत्मा के लिये दोनो ही बन्धन है, और, जिस अहभाव से इनका त्याग करता है उसको भी त्याग दे। शान्ति का लोक इन द्वन्द्वो और बन्धनो के उस पार, है जहाँ सूय, चन्द्रमा और तारे नही चमकते, न वहाँ विद्युत ही प्रकाश करती है, किन्तु जहाँ से ये सब अपना-अपना प्रकाश पाते हैं। जहाँ भय नही है, किन्तु जिसके भय से पवन चलता है, नदियाँ बहती है, बादल जल बरसाते हैं। सक्षेप मे, सम्पूर्ण महाभारत ग्रन्थ का आशय इसी शान्ति के स्वरूप को समझाना है। व्यास ने जीवन की भयकर परिस्थितियो का चित्रण किया है जब हमारा हृदय इस शान्ति' के लिये व्याकुल होता है, जिस शान्ति के लिए त्रैलोक्य के राज्य की भी भोग-लिप्सा फीकी पड जाती है, वीरो का वीरत्वाभिमान दीन बनकर "शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वा प्रपन्नम्" की पुकार कर उठता है।

श्रीकृष्ण भगवान् का जीवन 'सुन्दर' और 'उदात्त' की परम उत्कृष्ट कल्पना है। उनमें माधुर्य है रूप, नृत्य, सगीत, शोभा, प्रेम, औदार्य, वीरता नम्रता इत्यादि दिव्य गुणो का ऐश्वय है। इसी से वह आज भी दिव्य सौन्दय के प्रतीक माने जाते हैं। किन्तु उनके सौन्दर्य मे परम शान्ति की अलौकिक झलक है, जब सब रोते हैं किसी की मृत्यु पर, तब वह अपने विराट्-रूप को सभाल कर मुस्कराते हैं। यदु वश का विनाश, स्वय अपना प्रस्थान भी उन्हे विचलित न कर सका। यह 'उदात्त' की परमोच्च अनुभूति है। श्रीकृष्ण मे 'उदात्त' और 'सुन्दर' का सामञ्जस्य है। इस उदात्त सौन्दर्य की छाया को पाने के लिये योगी ध्यान लगाते है, भक्त भजन करते हैं। हमारे देश के असख्य कलाकारो, कवियो और दार्शनिको ने अनेक माध्यमो द्वारा इस अलौकिक सौन्दर्य को हृदयगम करने का प्रयत्न किया।

(6)

ऊपर बताये हुए 'उदात्त' सम्बन्धी मत विरोधी नही हैं, वस्तुत ये एक ही अनुभूति को विभिन्न दृष्टिकोणो से समझने के प्रयत्न हैं, जिससे ये मूलत एक ही पदार्थ की ओर सकेत करते हैं। ये दृष्टिकोण तीन प्रतीत होते हैं। दार्शनिक दष्टि

से 'उदात्त' वह पदार्थ है जो अपने 'बृहत्' रूप के प्रभाव से मनुष्य मे 'लघुता' के अनुभव को जाग्रत करता है। न केवल इतना ही, अपितु उसे 'लघुता' को त्याग कर 'ब्रह्मता' को स्वीकार करने के लिये विवश'-सा करता हुआ प्रतीत होता है। इस विचार के अनुसार हम प्रकृति के दिव्य सौन्दर्य मे 'उदात्त' के प्रभाव को समझ सकते हैं। आकाश, समुद्र, पवत, विशाल नद, आदि वस्तुओ के दर्शन अथवा ध्यान से 'ब्रह्मता' और 'विवशता' का अनुभव उत्पन्न होता है। हमने 'विवशता' पर इसलिये अधिक बल दिया है कि साधारणतया मनुष्य अपने व्यक्तित्व की सीमाओ से मुक्त होने मे भय का अनुभव करता है, उसे मानो अपने अस्तित्व के नष्ट हो जाने का अनुभव होता है। समुद्र की विशालता देखकर उसके आकषण से विशालता की अनुभूति ही लघु अस्तित्व के लिये मिट जाने का भय है। इस भय की दो धाराएँ हो सकती हैं। एक तो वह जिसमे भय की वस्तु स्थूल है, जैसे नद, पवत, समुद्र आदि, दूसरे वह जिसमें भय का उद्गम सूक्ष्म और आध्यात्मिक तत्त्व होता है। दूसरे प्रकार मे काल की अनन्तता और अनादिपन, विश्व की निस्सीमता आदि से भय का आविर्भाव होता है। प्रेम मे भी प्रेमी प्रेयसी के प्रति अथवा उपासना मे उपासक उपास्य के प्रति आत्म बलिदान का अनुभव करता है। वह अपने अस्तित्व को मिटा कर उपास्य के अनन्त अस्तित्व मे मिल जाना चाहता है। भक्ति के काव्यो और कलाओ मे 'उदात्त का अनुभव भक्त की इस 'मिटने' और 'मिलजाने' की प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है। कबीर की काव्य-साधना मे उदात्त-अनुभूति का मूल 'काल', 'शब्द' मे आत्मोपासना है जिसमे साधक स्वय उपास्य का रूप धारण करके अपने साधारण व्यक्तित्त्व को त्याग कर बृहत् व्यक्तित्व को पाता है। कबीर को धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदि का विरोध करने वाला क्रान्तिकारी दाशनिक और उपासक माना जाता है। इस विरोध के मूल मे व्यक्तित्त्व की सीमा और उपाधियो को छिन्न करके अनन्त आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार करने की आध्यात्मिक प्रवृत्ति विद्यमान है। हमारे समय मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने राष्ट्रीय, राजनैतिक, भौगोलिक सीमाओ के ऊपर 'अनन्त' तत्त्व का दर्शन करने के लिये मानवता' के आदश को उपस्थित किया है। यह 'उदात्त' तत्त्व का ही अनुभव है जिसमे मनुष्य अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्त्व को खोकर मानव-व्यक्तित्त्व का आविर्भाव करता है। कलाकार होने के कारण कबीर और ठाकुर दोनो ने ही 'उदात्त' सत्य की अभिव्यक्ति कला के साधनो द्वारा की है और कल्पना के बल से इस सत्य को माधुर्य प्रदान कर सत्यतम बना दिया है। कबीर के रहस्यपूण पदो मे उदात्त अनुभूति की कलात्मक अभि-व्यक्ति है। काय क्षेत्र भिन्न होने के कारण गान्धी जी की उदात्त भावना का रूप

कलात्मक न होकर सामाजिक हुआ। वे वस्तुत 'महा-मानव' थे, मूर्त्तिमान् उदात्त सत्य।

दूसरा दृष्टिकोण मनोविज्ञान का है। 'उदात्त' की मानसिक अनुभूति मे प्रवृत्तियो की गतिरोध से उत्पन्न अद्‌भुत पीडा का समावेश रहता है। 'सुन्दर' के अनुभव मे यद्यपि प्रवृत्तियो की तृप्ति नही होती, तथापि इनका विरोध नही किया जाता। मूल वासनाओ के उद्रेक से आनन्द की प्रतीति भी होती है। कि तु 'उदात्त' की अनुभूति मे प्रवृत्तियो का गतिरोध होता है। जहा कही इनका गतिरोध होता है वहा मनुष्य की अ तरात्मा का प्रवाह, जल प्रवाह के रुकने की भाँति, ऊपर को चढने लगता है, और एक प्रकार की आत्मोद्दीप्ति अथवा आत्म-विस्फूर्ति का अनुभव होता है जिसमे पीडा का अवश्य समावेश रहता है। उदाहरणाथ त्याग, आत्म बलिदान, उदारता, आत्म विजय आदि की घटनाओ मे, जिनके आधार पर साहित्य और कला मे पर्याप्त मात्रा मे सृजन होता है, मनुष्य की साधारण मनोवृत्तियो का दमन होता है। यह वह अनुभव है जिसे यूग ने कामतत्त्व का रूपान्तरण या De-Sexualization कहा है। इसके अनुभव मे मनुष्य की आत्मा मे गतिरोध के कारण नवीन स्फूर्त्ति, दीप्ति और वेदना का उदय होता है, किन्तु साथ ही आत्मा नीचे स्तर से ऊँचे स्तर की ओर चढती हुई प्रतीत होती है। यही 'उदात्त' की अनुभूति है। कला के माध्यम मे पड कर यह अनुभूति प्रखर और मनोरम हो उठती है। दु खा त नाटको मे, धर्म, मानवता, राष्ट्र आदि के लिये, सत्य आदि की रक्षा के लिये किए गये आत्म बलिदानो की कथाओ और कलात्मक अभिव्यक्तियो मे इसीलिये रसिक के हृदय मे आनन्द भी होता है और आँसू भी उबल उठते हैं।

'वस्तु' की दृष्टि से 'उदात्त' का रूप सुन्दर के रूप की अपेक्षा अधिक 'भव्य' होता है और कही तो रूप की विरूपता ही अथवा विन्यास का अभाव ही उदात्त की अनुभूति का आधार होता है। प्रलय, विनाश के दृश्य, खण्डहर अथवा विशाल चट्टान आदि के साक्षात्कार से जिस अनुभव का आविर्भाव होता है उसमे 'रूप' कारण नही, अपितु रूप' का अभाव ही कारण होता है। सुन्दर भवन के दर्शन से 'सौन्दय' की अनुभूति अवश्य जगती है, किन्तु खण्डहर का दृश्य उससे भी ऊँची उदात्त' की अनुभूति जाग्रत करने मे समथ होता है। इसके अतिरिक्त 'रूप' मे सीमा की प्रतीति होती है। इसलिये प्रकृति के भव्य पदाथ, आकाश, समुद्र, वन आदि, रूप के अभाव से 'निस्सीम' होकर उदात्त प्रतीत होते हैं।

———

कला में सौन्दर्य

हम यह मानने को प्रस्तुत नही कि सौन्दर्य कला के क्षेत्र से बाहर सम्भव नही। सत्य तो यह है कि प्रकृति मे सौ दर्य है उसमे रूप, भोग, अभिव्यक्ति हैं, उसमे शृ गार' से लेकर भयानक' तक सभी रसो की सरसता है उसमे कमलो के कोमल सौन्दय से लेकर पर्वत-शिखरो और समुद्रो का उदात्त सौ दय विद्यमान है। जहा से सम्पूण सौन्दय के सिद्धान्तो का उदय हुआ है वह मानव-शरीर प्रकृति की सृष्टि है। वस्तुत जो व्यक्ति प्रकृति के अनेक पदार्थों और क्षेत्रो मे सौन्दय के आस्वादन मे असमर्थ है, वह कला के मार्मिक सौन्दर्य का तनिक भी अवगाहन नही कर सकता। रूसी दाशनिक कैनोविच तो यहाँ तक कहता है कि सौन्दय प्रकृति की व्यापक भावना है जिसके सकल्प (Will-to Beauty) से इसका उद्गम और विकास हुआ है। हमारे आकाश और इसके पिण्डो का निर्माण, वनस्पति और जीव-जगत्, यहाँ तक कि समाज मे भी विकास द्वारा प्रकृति ने अधिकाधिक सौ दय को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। हमारे देश मे तो कपिल के सिद्धान्त, साख्य-दशन, के अनुसार, प्रकृति मात्र 'नेचर' नही है। वह अनेक आभरणो से सज्जित होकर पुरुष के मनोरञ्जन के लिये मनोहारी नृत्य करती है। प्रकृति स्वभाव से ही मनोहर और सुन्दर है और, पुरुष उसका प्रेक्षक एव भोक्ता है।

तब फिर 'कला' का क्या प्रयोजन है? क्या कला प्राकृनिक सौन्दर्य से बढकर किसी अन्य सौन्दर्य की सृष्टि करती है, अथवा केवल प्रकृति का अनुकरण करती है, अथवा चित्रण और प्रतिबिम्बन करती है? कला सृजन का क्या रहस्य है हमारे हृदय के किस विशेष अन्तराल मे स्वरो से भावो की जगमगाहट लिए हुए सगीतो का सृजन होता है, चित्रकार की तूलिका मे से रग और रेखाओ का आकार लिये किस प्रकार सजीव चित्र निकल आते हैं? किस प्रकार शिल्पकार की कील द्वारा एक साधारण प्रस्तर खण्ड अनेक भावो को लेकर सजग हो उठता है, तथा, कवि किस प्रकार के लोक से लाकर शब्दो मे चमचमाहट, ध्वनियो मे राग, दिव्य गन्धो का वैभव, प्रेम का उन्माद और प्राणो की पीडा भर देता है? वह क्यो हठात ही हमे

शरीर, इन्द्रिय और प्राणो की सुध-बुध भुलाकर इस लोक के ऊपर अलौकिक आलोक और आनन्द के लोक मे ले जाता है ? इत्यादि कला-सम्बन्धी अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना प्रस्तुत अध्याय का प्रयोजन है। इन प्रश्नो के उत्तर से हम सौन्दर्य के रहस्य को और भी समझने मे समर्थ होगे, कारण कि कला के क्षेत्र मे सौदय कलाकार के हृदय मे उदय होता, पलता और पुष्ट होता है, और, फिर अनेक माध्यमो द्वारा अभिव्यक्त होता है। यद्यपि कलाकार स्वय ही अपने हृदय की इस विशेष अवस्था से परिचित नही रहता जिसमे सौन्दय का उदय और सृजन होता है तथापि वह कुछ तो उस लोक की झाकी पा लेता है और सृजन के रहस्य को, अस्पष्ट रूप से ही सही, समझ पाता है।

कला-शास्त्र की मौलिक कठिनता अब स्पष्ट होनी चाहिए कलाकार स्वय कला सृजन के रहस्य से विशेष परिचित नही होता क्योकि मन की एक विशेष अवस्था मे, जिसे अर्द्धमूर्च्छा, स्वप्न समाधि अथवा उन्माद भी कहा गया है, सौन्दर्य का उदय और सृजन होता है। पडित जो सौन्दय का आस्वादन करता है उस अवस्था से परिचित नही हो सकता क्योकि रसास्वादन और सौदर्य-सृजन की क्रियाएँ भिन्न माननी चाहिए। यहा तक भी अशत सत्य है कि कवि केवल काव्य का स्रष्टा होता है वह उसके माधुर्य का आस्वादन करने मे असमथ होता है। ("कवि करोति काव्यानि रस जानन्ति पण्डिता") हमारी यह कठिनता इसी प्रकार की है जिस प्रकार की कठिनता का अनुभव सीता जी की सखी ने श्रीराम के प्रथम दर्शन के समय किया था। वाणी उनके सौदय का वणन कैसे करे क्योकि देखा तो आँखो ने है और, आँखें स्वय रसास्वादन मे समथ हैं किन्तु उन्हे वाणी का वरदान प्राप्त नही। (सखि सुषमा किमि कहो बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।) फलत कलाकार और पण्डित दोनो ही कला-सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर देने मे असमथ प्रतीत होते है।

इस कठिनता का सुलझाव केवल यही सम्भव है कि किसी एक ही स्थल पर 'नयन' और 'वाणी' का मिलन हो। वस्तुत यह मिलन होता भी है, क्योकि हमने रसास्वादन की क्रिया का निरूपण करते समय माना है कि आस्वादन मे आध्यात्मिक स्फुरण (Self-activity) अथवा चवणा उसका प्राण है। कलाकार जिस आध्यात्मिक स्फूर्त्ति का अनुभव अपने अन्तर मे करता है उसी को पुन जागरण किये बिना रसिक सौन्दय का आस्वादन नही कर सकता। रसिक और कलाकार का यह मिलन भावना के स्तर पर कला के भाव-लोक मे होता है दोनो ही सौदर्य के जगत् मे

तन्मय होकर पहुँचते हैं। उस जगत मे बुद्धि तर्क को त्यागकर केवल एकतान ध्यान करती है। प्रवृत्ति और प्रेरणा की हलचल स्थगित हो जाती है। ऐसी अवस्था मे रसिक और कलाकार मानव-भावना के शुद्ध और साधारण रूप का अनुभव करते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि कवि अपनी कारयित्री (उत्पादक) प्रतिभा के कारण उस भाव-लोक की आनन्दानुभूति को मूतिमान रूपवान, गतिवान और प्राणवान् बना देता है, रसिक अपनी भावयित्री (रसास्वादन करने वाली) प्रतिभा के बल से उस अनुभूति के स्वरूप को समझने योग्य बना लेता है।

ऊपर के निरुपण से यह अथ निकलता है कि कला का सौन्दर्य मानव सौन्दर्य है। वह कलाकार की मानवता के अध्यात्म लोक मे उदित और समूत्त होता है। उसमे कलाकार के अध्यात्म-लोक का आलोक, माधुय, सगीत और सजीवता रहती है, उस सौ दय मे कलाकार के प्राणो की वेदना, उसकी अध्यात्म-चेतना, उसकी प्रखर और गूढ अनुभूतियो का स्प दन रहता है। कलात्मक सौन्दर्य मे, अर्थात् हमारे सगीत, चित्र, मूर्ति और काव्यो मे, कलाकार के हृदय की उदारता विशालता, उन्माद और उत्पीडन रहते हैं। रसिक और कलाकार दोनो का आध्यात्मिक रूप एक ही है। अतएव रसिक कलात्मक सौन्दर्य को अपनी निकटतम, तीव्रतम और मधुरतम अनुभूति मानकर उसका आस्वादन करता है। प्रकृति मे उसके नद, पवत, सुमन और सागरो मे दिव्य सौन्दय होता है। वह किसी अनन्त भावना से प्राणन करता प्रतीत होता है। मनुष्य उस दिव्य कलाकार की अनन्त आत्मा, उसके अनन्त आलोक, आनन्द और उल्लास का, उसके असीम विस्तार और अमेय मान का, हृदयगम इतने समीप होकर नही कर पाता, जितना कला के मानव-सौ दय का। प्रकृति के सौन्दर्य की दिव्यता का अनुभव करने के लिये मनुष्य स्वय दिव्य हो उठता है, किन्तु उसमे मानवता का आरोप नही कर पाता। जब कभी मनुष्य प्राकृतिक पदार्थों पर मानवता का आरोप करता है अर्थात् प्रकृति मे अपने शोक, प्रेम, आवेगो की कल्पना करता है तो प्राकृतिक सौन्दय विरूप हो जाता है। सौन्दय-शास्त्र की दृष्टि मे ऐसा करना भ्रम और दोष है जिसे पाश्चात्य विद्वानो ने Pathetic fallacy और Sympathetic illusion अर्थात् भावनात्मक भ्रान्ति कहा है। यह सत्य है कि प्रकृति और मानव की आत्मा मूलत एक ही है दोनो मे समान वेदना और चेतना का स्फुरण होता है, किन्तु कला तो मानव आत्मा की स्पष्टतम अभिव्यक्ति है। कला का सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा हमारे अधिक निकट है।

कला मे मानव-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही कला-सृजन के लिये मूल-प्रेरणा है। कला-सौन्दर्य की मानवता ही कला को महत्त्व और औचित्य प्रदान करती है।

यही इसका प्राकृतिक सौन्दय से अन्तर और अतिशय है, और, इस प्रकार मानवता ही कला सौन्दय के परीक्षण के लिये उसकी अचूक कसौटी है।

कला सौन्दय मानवता के कारण ही प्राकृतिक सौन्दय की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है।

(2)

कला सौन्दय का पार्थिव माध्यम स्वर, वण, शब्द, रेखा आदि हैं, किन्तु इसका आध्यात्मिक माध्यम कलाकार की मानवता है। मनुष्य होने के कारण ही वह कला द्वारा सौन्दय की सृष्टि करता है। यहाँ पूछा जा सकता है कि किस मानव प्रवृत्ति से कला का जन्म होता है ! यूनान देश के दार्शनिक अनुकरण' (Mimesis) की प्रवृत्ति से कला का उद्‌गम मानते थे। मनुष्य अपने चारो ओर प्रकृति के सौन्दय को देखता है और उससे प्रभावित होकर वह पार्थिव माध्यम द्वारा उसका चित्रण करता है। मनुष्य मे अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति है ही। अतएव कला-सृजन अनुकरण की क्रिया है और कला-सौन्दय प्राकृतिक सौन्दय का प्रतिबिम्ब है।

यह सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है, कारण कि एक तो कलाकार प्रकृति का पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बन नही कर सकता, दूसरे यदि वह येन केन प्रकारेण कर भी सका तो यह कला का वास्तविक सौन्दय नही कहा जा सकता। यदि कलाकार का पुष्प प्राकृतिक पुष्प का अनुकरण-मात्र है तो इसमे अनेक त्रुटियाँ है। हम एक को दूसरे की पूर्ण प्रतिकृति नही मान सकते। सत्य तो यह है कि जब तक कलाकार की दृष्टि बहिर्मुख अर्थात् पुष्प की ओर लगी है और जब तक उसका सारा प्रयत्न रगो मे प्रतिबिम्ब उतारने के लिये है, उस समय तक कला का उदय ही नही होता। जिस समय कलाकार की दृष्टि अन्तर्मुखी होकर अपनी ओर जाती है, उस पुष्प के सौन्दय से उत्पन्न आध्यात्मिक प्रभावो का अनुशीलन करती है—पुष्प के कोमल, कान्त, निष्पाप, क्षणिक जीवन का अनुगमन करती है तब वह पुष्प प्राकृतिक वस्तु न रहकर मनुष्य के अध्यात्म-जगत् की वस्तु हो जाती है, वह पुष्प मानव-जीवन का प्रतीक बन कर स्वय चेतना की व्यक्त मूर्ति बन जाता है। कलाकार प्राकृतिक पुष्प का अनुकरण न करके मानवीय अथवा आध्यात्मिक पुष्प का दृश्य माध्यम द्वारा निरूपण करता है। अतएव कला-सृजन का प्रारम्भ ही उस समय होता है जब अनुकरण की प्रवृत्ति स्थगित हो जाती है। यदि कला का पुष्प प्राकृतिक पुष्प से कुछ अधिक नही है तो वह व्यर्थ है। कलाकार अनुकरण करके प्राकृतिक पुष्प से सुन्दर और सजीव पुष्प

कि सृष्टि नही कर सकता, किन्तु अनुकरण न करके वह पुष्प को अपनी मानवता और तीव्र आध्यात्मिक चेतना का एक जीवित स्फुलिङ्ग बना सकता है।

कला सृजन की क्रिया प्रकृति का अनुकरण नही, प्रकृति के रूपान्तरण (Transformation) की क्रिया है। कलाकार अपनी प्रतिभा के बल से जड को चेतन बनाता है और वस्तु को अपनी मानवता से ओतप्रोत करके उसे रसास्वादन के योग्य बना देता है। कला के सौ दय का सत्य प्रकृति की प्रतिकृति होकर सिद्ध नही होता। कला जहाँ तक प्रकृति की अनुकृति होगी, वहा तक उसका सौन्दर्य असत्य होगा। कला का सौन्दय अनुकरण न होकर भी—अनुकरण न होकर ही—सत्य हो सकता है, क्योकि कलाकार ऐतिहासिक सत्य की स्थापना नही करता, वह अपने अन्तर्लोक की मानवता और सत्यतम अनुभूति का कला द्वारा उदघाटन करता है। कला का सत्य कलाकार की मानव अनुभूति का सत्य है।

योरोपीय कला की प्रवृत्ति कुछ बाह्य जगत से प्राप्त प्रेरणा को ही रूप देने की रही है। किन्तु यह प्रवृत्ति कला को जन्म नही दे सकती, यह शीघ्र ही वहाँ के विचारको ने अनुभव किया था। प्लेटो के अनन्तर अरस्तू ने शुद्ध अनुकरण के सिद्धान्त को छोड कर प्रकृति के सामान्य रूप का चित्रण स्वीकार किया। उसके अनुसार हम इस या उस पुष्प का चित्रण नही करते किन्तु 'पुष्प' अर्थात, पुष्प-गत सामान्य गुणो का चित्रण करते हैं। यह सिद्धान्त भी हमें मान्य नही, कारण कि चित्रण अथवा अनुकरण कला को प्रकृति से ऊचा नही उठा सकता। भारतीय कला अनुकरण सिद्धान्त के सदैव विमुख रही है, इसलिये हमारी कला मे प्राकृतिक वस्तुओ की अनुकृति खोजने वाले कला ममज्ञो को निराशा होती है। वस्तुत चित्रण की प्रवृत्ति तो सब स्थानो पर पाई जाती है, किन्तु 'चित्रण' करने वाली कला,—यदि उसे कला कहे तो—हमारे यहाँ कभी सम्मानित नही हुई

आधुनिक समय मे शिलर नामक विचारक ने अनुकृति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु प्लेटो के विरुद्ध कारणो को लेकर। प्लेटो के लिये कला अनुकरण मात्र होने के कारण नैतिक दृष्टि मे मनुष्य के लिये हेय वस्तु थी, किन्तु शिलर के लिये मनुष्य की मनुष्यता इसी मे है कि वह अपनी कल्पना-शक्ति के बल से अनुकृतियो से भी वही आनन्द पा सकता है जो वह प्रकृति से पाता है। हमारा इसके प्रति यही कथन है कि कलाकार की सृष्टि यदि कल्पना को सन्तोष दे सकती है तो वह केवल प्रकृति की शुद्ध प्रतिकृति नही है।

यहाँ से एक नूतन सिद्धान्त का श्रीगणेश होता है। योरोप के अनेक के विचारको

ने कला मे कल्पना की तुष्टि को उसके सृजन का मूल कारण माना है। बेकन, एडीसन, कूजा आदि अनेक विचारक कहते है कि मानव हृदय अपने चारो ओर की प्रकृति मे अनेक अपूर्णताए पाकर असन्तुष्ट होता है । इस असन्तोष के कारण वह कल्पना से पूणरूपेण सु दर और सर्वाङ्गीण वस्तुओ का सृजन कला के रूप मे करता है। वह कला द्वारा सौन्दर्य और पूणता के आदश उपस्थित करता है। कला-सृजन की क्रिया अतिशय-करण Idealization की क्रिया है। कला प्रकृति की अपूणताओ की पूर्ति करती है और मनुष्य को वह आनन्द प्रदान करती है जिसके लिये प्रकृति स्वय असमर्थ है। कला मनुष्य के लिये आस्वादन के क्षेत्र को विस्तृत बनाती है।

इस सिद्धान्त मे कई बाधाएँ है एक तो यह कि प्रकृति को अपूर्ण, हेय और सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करने मे अक्षम स्वीकार करना हमे उचित प्रतीत नही होता। हम प्रकृति को सौन्दय का निधान मानते है, और मानते है कि वह मनुष्य जो प्रकृति के दिव्य सौन्दर्य का आस्वादन करने मे असमथ है उसके लिये कला सौन्दर्य अवश्य ही अगम्य होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे जिस व्यक्ति को आँखो से बिल्कुल दिखाई नही देता उसको चश्मा लगाने से भी कुछ नही दिखाई देगा। यह माना कि उस व्यक्ति को जो अन्धा नही है चश्मा लगा देने से दूर तक स्पष्ट दिखाई दे सकता है, किन्तु कला मे तो सौन्दर्य आस्वादन की योग्यता स्वाभाविक होती है। कला इस योग्यता मे वृद्धि नही करती। अतएव जिसकी स्वाभाविक रसिकता कुठित है और जो प्राकृतिक पुष्प के सौन्दय का अनुशीलन करने मे असमथ है, वह मनुष्य कलाकार के पुष्प मे रसास्वादन नही करता।

दूसरी बाधा इस सिद्धान्त मे यह है कि मनुष्य केवल कल्पना जीवी प्राणी नही है। रसास्वादन मे कल्पना की तुष्टि ही कला का परम ध्येय नही हो सकती। सौन्दर्य का भोग मनुष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से करता है, एकाश से नही (अखण्ड बुद्धि समास्वाद्य काव्यम) यह सम्भव नही कि वह अपने नैतिक, सामाजिक, धार्मिक विचारो और भावनाओ को एक ओर रख कर केवल कल्पना के सन्तोष के लिये कला के सौन्दर्य मे निमज्जन करें। यदि यह सत्य है तो कला मे मानव-व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति मानना चाहिए । कल्पना द्वारा कला प्रकृति की न्यूनताओ की पूर्त्ति कर सकती है, यह भी निस्सन्देह सत्य नही प्रतीत होता, कारण कि एक तो हम केवल कल्पना के भोग से सन्तुष्ट नही होते, दूसरे, कला के काल्पनिक आदर्श कागज के फूलो की भाँति आकार आदि मे सुन्दर प्रतीत हो सकता है, किन्तु उनमे सौन्दर्य की सरसता और सौरभ, स्पर्श का उन्माद और रूप की निष्पापता आदि की भावना और आनन्दानुभूति को जाग्रत करने की शक्ति नही हो सकती । अन्तत, सत्य

तो यह है कि कला मे प्राकृतिक पुष्प का सौन्दर्य नही, मानव पुष्प का सौन्दय है। कला प्रकृति का अनुकरण अथवा आदर्श होकर सुन्दर नही होती। वह केवल मानव जीवन की— कलाकार की मानवता—की अभिव्यक्ति से सौन्दय ग्रहण करती है।

तब तो हमे स्वीकार करना चाहिए कि **कला का मूल स्रोत प्रकृति नहीं, पुरुष है, इसलिये कला-सृजन की प्रक्रिया अनुकरण नहीं, अभिव्यक्ति है।**

(3)

अभिव्यक्ति (Expression) ही कला है। किन्तु कला क्या अभिव्यक्ति करती है? हमारे अनुसार कला मानवता की अभिव्यक्ति है। किन्तु मानवता का अन्तराल विशाल है। वह अनन्त अध्यात्म लोक है, जहा अनेक वेदनाएँ स्पन्दन करती हैं, बुद्धि का प्रखर प्रकाश अपनी किरणो का विस्तार करता है, भावना के तरल स्रोत बहते हैं। इस सम्पूण लोक की अभिव्यक्ति कला मे कैसे होती हैं, इस प्रश्न को लेकर विभिन्न कला-ममज्ञो ने अपने अपने उत्तर दिये हैं।

काण्ट नामक जमन दार्शनिक के अनुसार हमारा सम्बन्ध दो लोको से है। एक है प्रकृति का लोक या बाह्य जगत् जिसमे शब्द, स्वर, गति, रग, रूप और नाना पदाथ हैं। इसमे नियमो की कठोरता है। कोई भी प्राकृतिक पदार्थ अपने नियमो का उल्लङ्घन नही कर सकता। वहाँ परतन्त्रता का पूर्ण प्रभाव है। यह लोक जड और स्पन्दनहीन है। दूसरा लोक है आत्मा का, जहाँ जीवन और भावना हैं, जहाँ विचार और विवेक है। यह लोक चेतन है और इसमे मनुष्य स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। कला इन दोनो—जड और चेतन, प्राकृतिक और आध्यात्मिक——लोको का मिलन है। कला के द्वारा चेतन-लोक के अनुभव, वहाँ का विवेक और स्वतन्त्रता, सगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति और साहित्य का रूप धारण कर जडता के लोक मे प्रवेश करते हैं। वैसे तो चेतन आत्मा प्रकृति के काल, दिशा और परिस्थितियो के बन्धनो से बँधे हुए लोक मे पद-पद पर परतन्त्रता का अनुभव करती है, किन्तु कला सृजन और आस्वादन के क्षण मे जड प्रकृति मे—स्वर, गति, रग रेखा और प्रस्तरो मे—आत्मा के प्रकाश का स्फुरण हो उठता है, जीवन की लहरें तरङ्गित हो जाती हैं भावो का आलोक जगमगा उठता है। कला सृजन मे आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता का मूर्त्त रूप मे अनुभव करती है। कला का उद्देश्य, आदर्श और साफल्य प्राकृतिक रूप मे आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति है।

हीगेल काण्ट का अनुगामी है। वह विश्व को चेतना का मूर्त्त रूप मानता है।

यह चेतना ही प्रकृति और जीव जगत् मे ओत प्रोत है। हम इसे जड नही मान सकते। विकास होते होते यह व्यापक विश्व चेतना मनुष्य मे बुद्धि और विवेक का रूप धारण करती है और सवाक् हो उठती है। हम इसे बुद्धि (Reason) नाम देकर इसका मम्मान करते है। यद्यपि प्रकृति मे यह तत्त्व ओतप्रोत है तथापि इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति वहाँ नही होती, कारण कि वहाँ पर्याप्त विकास नही है। कलाकार अपने कौशल से प्रस्तरो से भवन आर मूर्ति बना कर, रगो और रेखाओ से चित्र बना कर, स्वरो से सगीत, गति से नृत्य, शब्दो से साहित्य की रचना करके, उसी व्यापक बुद्धि-तत्त्व को स्पष्ट कर देता है। कला बाह्य जगत् मे अव्यक्त रूप से निहित बुद्धि अथवा अध्यात्म तत्त्व को व्यक्त करने की क्रिया है। इसी कारण एक मूर्ति जड पत्थर का खड नही है वह चेतन जगत् का प्रतीक और प्रतिनिधि है। हीगेल के अनुसार कला मे ज्यो ज्यो यह तत्त्व प्रस्फुटित होता जाता है, उसमे उत्तरोत्तर उच्चता का आविर्भाव हाता है। उसके कथन के अनुसार वास्तु कला अथवा भवनादि के निर्माण मे सबसे कम आत्मा की अभिव्यक्त होती है, इसके अनन्तर मूर्ति मे इससे अधिक, चित्र मे और भी अधिक। किन्तु चित्र तक आत्मा केवल दृश्य रूप मे ही अभिव्यक्त होती है। स्वरो मे सगीत का रूप धारण कर आत्मा का रूप और भी स्फुट हो उठता है। शब्द तो बिल्कुल आध्यात्मिक हैं ही। इसलिये आत्मा की सरल और स्फुटतम अभिव्यक्ति साहित्य मे होती है। हीगेल यही नही रुकता। साहित्य मे भी काव्य, नाटक, उपन्यास आदि की अपेक्षा विज्ञान मे आत्मा का विवेक और सत्य प्रकाश प्रकट होता है। विज्ञान से बढकर दर्शन सत्य का प्रत्यक्ष रूप है जिसमे सम्पूण विज्ञानो का सम वय किया जाता है। अतएव दार्शनिक के दर्शन मे—उनके सिद्धान्तो मे—आत्मा का मानो साक्षात्कार ही हो जाता है।

हीगेल के कला दर्शन की विशेषता यह है कि कला को अभिव्यक्तिस्वरूप मानकर जितनी भी आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं उनमे कला को उचित स्थान देता है। इससे कला, विज्ञान, दर्शन साहित्य आदि का कृत्रिम अन्तर दूर हो जाता है और इनमे तारतम्य स्थापित हो जाता है। इस सिद्धान्त मे त्रुटि इस बात की है कि यह वैज्ञानिक और कलात्मक उद्देश्यो और अनुभूतियो के भेद को स्पष्ट नही कर सकता। हमने कहा है कि विज्ञान मे 'सत्य' की अभिव्यक्ति होती है, इससे चित्त मे 'प्रसन्नता' का उदय होता है। परन्तु कला सौन्दर्य की सृष्टि करती है जिसके आस्वादन से 'रस' का अनुभव होता है। इस 'रस' के स्वरूप को हीगेल का कला-दर्शन समझाने मे असमर्थ है। उसके लिए कला मे यदि कोई रस है तो वह विज्ञान

के आनन्द या दार्शनिक सिद्धान्तो के मनन से उत्पन्न प्रसन्नता के अतिरिक्त पदार्थ नही है।

हर्ष की बात है कि हीगेल के बुद्धिवाद का विरोध उसी देश के शोपेनहावर नामक दार्शनिक ने किया। उसने कला के आस्वादन मे उसकी वेदना, जीवन का स्पन्दन, गति, तन्मयता और आनन्द की विह्वलता पर विशेष ध्यान दिया। शोपेन-हावर जीवन मे एक ही वेदना को स्वीकार करता है। वह वेदना है जीवन की इच्छा (The Will to Live)। किन्तु इस इच्छा का विघात निरन्तर होता रहता है। जीवन और मृत्यु के सनातन सघष मे जीवन परास्त होता है, मृत्यु की विजय होती है। इससे एक अपूर्व पीडा का उदय होता है। यह सासारिक कष्टो की पीडा नही है, यह आन्तरिक पीडा है जो सनातन है और जिसका अनुभव दाशनिक स्तर पर मनुष्य को होता है। इस पीडा को कैसे भुलाए मनुष्य ? विज्ञान द्वारा ? सामा-रिक भोगो द्वारा ? यह सम्भव नही। शोपेनहावर के अनुसार इस महापीडा से त्राण मिलता है या तो उपनिषद् के महालय और मोक्ष के उपदेश मे या बुद्ध के 'निर्वाण' द्वारा, जिसमे सभी इच्छाओ का चरम अवसान हो जाता है। जब जीवन की इच्छा ही न रहेगी तो उस 'निर्वाण' और 'मोक्ष' की अवस्था मे वेदना का चर-मान्त हो जायगा। शोपेनहावर उपनिषद् की पुस्तको को सदा पास रखता था और कहा करता था कि इनसे जीवन मे शान्ति मिलती है, इ ही से मृत्यु मे भी शाति मिलेगी। इसके अतिरिक्त जीवन की महा वेदना को विस्मृत करने का साधन कला है। कला हमे इस लोक से दूर कल्पना और भावना के आलोक लोक मे ले जाती है, जहाँ हमे यह वेदना भूल जाती है। सगीत मे यह क्षमता सर्वाधिक है, इसलिए सगीत सब कलाओ का आदर्श है। प्रत्येक कला, शोपेनहावर के अनुसार, अपने चरम विकास की अवस्था मे सगीत का रूप धारण करती है। कला का चरम रूप लय है।

हमारे समय मे मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) नामक शाखा ने जिसका उदय भी जर्मनी मे ही हुआ है हीगेल के बुद्धिवादी सिद्धान्त का विरोध किया है। हम इसका उल्लेख फ्रॉयड और यूग के सिद्धान्तो के प्रतिपादन के समय कर चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना है कि कला काम (Sex) अथवा जीवन-शक्ति (Libido) को मूर्त्त करने का प्रयत्न करती है। काम भी एक अनन्त, व्यापक, अचेतन किन्तु प्रबल तत्त्व है जो हमारी अन्तरात्मा के रूप मे हमी मे विद्य मान है। वह वास्तविकता के ससार मे बन्धनो को त्याग कर निरन्तर तृप्ति चाहता

है। भोजन, पान, मैथुन, रूप, स्पश आदि अनेको प्रकार से यह कामना तृप्ति के लिए विकल रहती है। यही कामना वस्तुओ को सौन्दय और आकषण प्रदान करती है। कला भी इसी की तृप्ति के अनेक साधनो में से एक साधन है। कला के द्वारा रसिक सौन्दर्य के कल्पना लोक मे कुछ वास्तविकता के बन्धनो से मुक्त होकर, मानसिक भोग प्राप्त करता है। अत मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार कला 'काम-तत्त्व' की अभिव्यक्ति है। जैसा हमने पहले कहा है कि जब यह काम तत्त्व सरस होकर तृप्ति और आसक्ति उत्पन्न करता है, हम कला को 'सुन्दर' कहते हैं। जिस समय यही तत्त्व सरस (Sexualized) न होकर विरस और विरक्त (De-Sexualized) हो उठता है, तब वेदना के अनुभव मे 'उदात्त' का उन्मेष होता है।

हमारे देश मे भी कला मे एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति मानने वाले कई विचारक हो चुके हैं। भोजराज सम्पूण कला मे श्रृगार तत्त्व' की अभिव्यक्ति मानते है। उनके लिये अन्य सम्पूर्ण भाव और भावनाएँ इसी तत्त्व की दीप्ति को समृद्ध करने के लिए हैं, जैसे, आकाश के प्रकाश-पिण्ड सूय के चारो ओर रह कर उसी के तेज को बढाते हैं। (श्रृगारतत्त्वमभित परिवारयन्त सप्तार्चिष द्युतिचया इव वर्द्धयन्ति)। वृक्ष की शाखाओ की नाई सम्पूर्ण रस एक श्रृगार से ही उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भवभूति केवल करुण-रस को ही सम्पूर्ण कला मे अभिव्यक्त अनुभूति मानते है। अन्य कोई 'आश्चय' को कलानुभूति का प्राण मानते हैं। उनके लिये कला 'अद्भुत, की अभिव्यक्ति है। क्षेमेन्द्र के अनुसार कला का प्राण 'औचित्य' है। रस, अलङ्कारण, गुण इत्यादि की सयोजना कला कृति मे औचित्य के नियमो का उल्लङ्घन नही कर सकती। अतएव कला 'औचित्य' की अभिव्यक्ति है।

वस्तुत ये सब पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्त जीवन के असीम अन्तराल मे एक तत्त्व की गवेषणा करते हैं और व्यर्थ ही उसे सकुचित बनाते हैं। कला-सृजन के पीछे अ रूप को रूप देने की प्रेरणा है, अव्यक्त को व्यक्त, अमूत्त को मूर्त्त, अवाक् को सवाक बनाने की प्रवृत्ति है। यहाँ हमे यह न भूल जाना चाहिए कि कला का आविर्भाव और सृजन और इसके पीछे रहने वाली मूल प्रेरक शक्ति 'मानव' की आत्मा के देश मे पलते हैं। कला का मूल और आध्यात्मिक माध्यम 'मनुष्य' है। चित्र और सगीत का रूप धारण करने से पूर्व कला कलाकार की मानवात्मा का रूप धारण करती है। उसकी चेतना से चेतना, उसके प्राणो से जीवन का वरदान, उसकी वेदना से तीव्रता, उसकी आन्तरिक दीप्ति से प्रकाश ग्रहण करती है। कलाकार की आध्यात्मिक प्रसववेदना से परिचित व्यक्ति तो कला को उसके उत्पादक के रक्त-मास-हृदय से बना हुआ 'आत्मज' ही मानेंगे।

कला मानवता की अभिव्यक्ति है। कलाकार की मानवता से उसे मानवता प्राप्त होती है। किन्तु मानवता का अन्तराल असीम और अनन्त है। इसमे अनेक रस हैं, अनेक ज्योतियाँ हैं, अनेक आदर्शों का वैभव है। इसमे विकास भी होता है। अतएव मानवता के विकास और विस्तार के साथ कला का भी विकास, विस्तार होता है। प्रत्येक युग की कला अपने युग की मानवता का प्रतीक होती है। कलाकार अपने व्यक्तित्व मे अपने युग की समष्टि का अनुभव करता है। उसके व्यक्तित्व मे मानवता, उसके आदश, आह्लाद और अवसाद, गान और क्रन्दन, आशा और अभिलाषा सभी स्पष्ट हो उठते हैं। कलाकार युग के भी ऊपर उठता है, और, मानव जगत् ही नही, सम्पूर्ण चराचर सृष्टि के मूल मे उद्वेलित प्रेरणाओ को भी हृदयङ्गम करता है। अपने व्यक्तित्व मे विराट् का प्रत्यक्ष करता है। वह अपने जीवन की स्फूर्त्ति मे जहाँ तक पहुँच पाता है वहाँ तक उठ कर जीवन की अनन्तता और इसकी विविध वेदनाओ का अनुभव करता है। इन्ही को मूर्त्त करना कला कहलाता है।

कला का कलाकार और उसकी मानवता से सम्बन्ध है, इस सत्य को बिना माने हम कला के इतिहास को और इसके तल मे ऊर्मिल शक्तियो को नहीं समझ सकते।

(4)

कला का उदय अ रूप को रूप देने की प्रवृत्ति से होता है। यहाँ अ-रूप का रूपवान् हो जाना कला सृजन है। किन्तु यह होता किस प्रकार है? इस अध्याय के प्रारम्भ मे हमने पूछा था। 'स्वर किस प्रकार सगीत मे ढल जाते हैं? कहाँ से यह सगीत प्राणो की वेदना, जीवन का गूढ अवसाद पाकर स्वरो के आरोह अवरोह का रूप ग्रहण करता है?' यहाँ हमे 'कहाँ' प्रश्न का उत्तर मिल चुका है, क्योकि कलाकार का अध्यात्म-जगत् ही कला की वेदनाओ का उदय स्थान है। किन्तु कला सृजन का रहस्य इस 'किस प्रकार' के प्रश्न मे छिपा पड़ा है। 'अरूप को रूप की प्राप्ति' का रहस्य कला का रहस्य है। रहस्य इसलिये है कि हमारी साधारण मानसिक अवस्था में यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। कलाकार के परिचित, परिमित और ज्ञात व्यक्तित्व से दूर कही अपरिचित, अनन्त और अज्ञात लोक मे यह सृजन की क्रिया हो चुकती है और कलाकार अनायास ही कही से उतरते हुए छन्दो को ग्रहण करता है। जिस मानसिक अवस्था मे कला का सृजन होता है अर्थात् गायक जिस समय स्वरो से सगीत, चित्रकार रेखा और रगो से चित्र, मूर्तिकार प्रस्तर-खण्ड में से मूर्ति और कवि काव्य की रचना करते हैं, उस समय इनकी मानसिक अवस्था साधारण से इतनी

भिन्न होती है कि कोई इसे भ्रम, उन्माद, स्वप्न, समाधि और कोई इसे प्रगाढ़ अचेतना की अवस्था कहते हैं। एक पाश्चात्य विचारक ने प्रतिभा सम्पन्न कलाकारो और विद्वानो की मानसिक अवस्था का विश्लेषण करते हुए अपने ग्रन्थ Psychology of the Men of Genius मे कहा है कि ये असाधारण व्यक्तित्व रखने वाले महापुरुष विक्षिप्त और कुछ तो साधारण से गिरे हुए नैतिक चरित्र वाले थे। जिस प्रतिभा से कला का जन्म होता है वह हमारी लौकिक बुद्धिमत्ता की अपेक्षा मन की विक्षिप्त दशा के अधिक समीप है। वह यहाँ तक कहता है कि पागलपन और उन्माद के मिश्रण बिना मनुष्य प्रतिभाशाली नही हो सकता। सत्य भी यही प्रतीत होता है कि हम जिस बुद्धिमत्ता से बाजार मे सौदा पटाते है उससे काव्य की रचना नही कर सकते। प्रतिभा की असाधारणता, और, कलाकार की वह विशेष मानसिक अवस्था जिसमे कला की सृष्टि होती है किन्तु जिससे वह स्वय परिचित नही होता, कला सृजन के रहस्य को समझने की कठिनाइया है।

कई कला-मर्मज्ञो ने कला सृजन के मम को समझने का प्रयत्न किया है।

कुन्तल कहता है कला कुछ साधारण से भिन्न (वक्र) होनी चाहिए। बस 'वक्रता' को उत्पन्न करना ही कला सृजन है। यह मत बिल्कुल निराधार नही है, क्योकि हम 'असाधारण' मे अधिक आनन्द पाते हैं और 'साधारण' हमारे लिये अरुचिकर हो जाता है। विनोद और हास्य की कला मे वक्रता रहती है, क्योकि जब तक हम कहते है 'कुत्ते ने मनुष्य को काटा' उस समय तक इसमे कोई रोचकता नही। रोचकता उस समय आती है जब इससे विपरीत हम कहने लगते हैं कि मनुष्य ने कुत्ते को काट लिया। बर्नार्ड शा की कला मे जहाँ अन्य कई गुण विद्यमान हैं, वहाँ वक्रता की भरमार है। उसके नाटको के विषय वक्र हैं, उसकी उक्तियो मे 'वक्रता' का चटकीलापन है। वर्तमान समाचार-पत्रीय शैली मे वक्रता की प्रधानता है। इससे वाचको का ध्यान आकृष्ट होता है। किन्तु केवल 'वक्रता' के आधार पर हम सम्पूर्ण कला की भित्ति को नही रख सकते।

ऊपर के सिद्धान्त का उल्लेख हमने इस बात पर बल देने के लिये किया है कि कला सृजन का रहस्य हमारे मन के चेतन प्रयत्नो द्वारा नही समझा जा सकता। हमारा साधारण 'अहं'-'मम' वाला व्यक्तित्व इतना सकुचित और बन्धन-ग्रस्त होता है इसमे व्यक्तिगत स्वार्थ, कामना और भावों का इतना भार रहता है और जीवन की व्यक्तिगत आकस्मिक परिस्थितियो का इतना कठोर आवरण रहता है कि इसमे कला-सृजन की स्वच्छन्द, आनन्दमयी सृष्टि सम्भव नही। कला सृजन के लिये पहले

तो आत्मा का अनन्त अवकाश चाहिए जिसमे स्वार्थ की सीमाएँ और व्यक्तिगत परिस्थितियो का जटिल जाल न हो। तभी उसमे बृहत मानवता का उदय होता है। दूसरे, कलाकार मे तीव्र वेदना को अनुभव करने की स्वाभाविक ग्राहकता होनी चाहिए। उसमे जडता के स्थान पर चेतना की प्रकृष्ट स्फूर्ति होनी चाहिए जिससे उसका हृदय विश्व की आत्मा के साथ समवेदना मे स्प दन कर उठे। वह स्रोत की तरलता, आकाश की अन तता, पुष्प की सरसता, मानव-जीवन की पीडा और स्त्री के रूप की सुकुमारता का अपने अ तर मे अनुभव करने के योग्य होना चाहिए। तीसरे, क ाकार को न केवल अपने मे अर्थात् अपनी ज्ञानो मेषशालिनी प्रतिभा मे, नित्य नवीन लोको की सृष्टि करने मे तत्पर कल्पना मे, भावना जीवन की तरङ्गो मे जडता का अनुभव न करना चाहिए साथ ही, उसे अपने मूर्त माध्यम मे भी जडता का अनुभव न होना चाहिये। यदि मूर्तिकार प्रस्तर खण्ड मे जड-बुद्धि रखता है तो वह इसमे चेतना का सचार कैसे कर सकेगा? उसकी दृष्टि मे तो पत्थर के खण्ड मे चेतना, वेदना और भाव सोये हुए हैं। वह अपने कौशल से लोहे की कील से मानो खोद कर इन आध्यात्मिक अनुभूतियो को उसी पत्थर मे जाकर जगा देता है। कलाकार अपने माध्यम को अपनी ही उद्वेलित, आन्दोलित, आलोकित और स्वच्छन्द आत्मा का अभिन्न अङ्ग मान कर कला-सृजन के लिये उसमे तन्मय होकर प्रवेश करता है। वह स्वय माध्यम बनकर उसमे अपनी अनन्त चेतना का आलोक भर देता है। गायक स्वय स्वर बन जाता है और उसकी आत्मा मे स्वरो का माधुर्य ओत प्रोत हो जाता है, और, तब उस तन्मयता मे—गायक और स्वरो की तदाकारता के क्षण मे—स्वरो मे रूप का उदय होता है, और, वे अनायास सगीत बन जाते है, उनमे गायक का उन्माद और अवसाद पूर्णरूपेण छलक उठता है। जिसे हम साधारणतया कौशल (Technique) कहते हैं वह वास्तव मे कलाकार और उसके माध्यम की आध्यात्मिक तन्मयता से उदय होता है।

कला-सृजन की उपरिलिखित तीन आवश्यकताओ के कारण कलाकार वस्तुत कला-सृजन के क्षण मे अवश्य ही 'अलौकिक' होता है। हमे इस 'अलौकिक' क्षण को समझने के लिये 'जाग्रत' अवस्था से दूर पहले 'स्वप्न' के लोक मे चलना होगा जहाँ, योरवर्न के अनुसार, कला की सृष्टि होती है।

हम सभी को 'स्वप्न' का अनुभव है। यह एक मानसिक अवस्था है जिसमे वास्तविक ससार से विच्छेद हो जाता है। वहाँ सोने वाला व्यक्ति ही रहता है, और नेत्र बन्द होते हुए भी वह अनेक रूपो को देखता है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियो

के कार्य स्थगित हो जाने पर भी अद्भुत शब्द स्पश, ग धादि का अनुभव करता है। मन भी वहाँ यदि है तो अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था मे है, किन्तु दु ख हृष, प्रेम, पीडा इत्यादि सभी अनुभव वहाँ होते हैं। इस सबका अर्थ है कि स्वप्न स्वय अपने प्रकाश का एक लोक है जिसमे मनुष्य की अन्तरात्मा किसी अवस्था मे 'एकाकी' रहती है, और, देह के भार से मुक्त होकर मानो अपने साथ वह स्वच्छन्द क्रीडा करती है। स्वप्न-जगत् के सभी जीव, सभी अनुभूत पदाथ मनुष्य की स्वच्छन्द विलास करने वाली आत्मा से उदय होते है। इस दशा मे कल्पना भी उन्मुक्त होकर आत्म तत्त्व (Soul-stuff) मे से अनेक अद्भुत और अपूर्व दृश्यो और जीवो की सृष्टि करती है जिनकी कल्पना जाग्रत अवस्था मे असम्भव थी। कलाकार भी कला सृजन के लिये जाग्रत-अवस्था से दूर स्वप्न के अर्द्ध-चेतन झिलमिल करते हुए लोक मे प्रवेश करता है। वहाँ वह अपने व्यक्तित्त्व के भार से मुक्त होकर अपनी वेदनाओ को तीव्र होने देता है। केवल ब धनो को शिथिल कर देने से ये वेदनाएँ स्वय प्रखर, स्पष्ट और रूपवान् होना प्रारम्भ कर देती है। यदि कलाकार गायक है तो उसकी आत्मा स्वरो का रूप धारण करती है और उस समय कल्पना, वेदना से प्रेरित होकर, स्वरो की भाँति-भाँति की योजना करने लगती हैं। वहाँ जीवन मे उस समय सन्तुलन और सवाद तो होता ही है। अतएव जीवन की सम्पूर्ण वेदना को लेकर, आत्मा के आलोक और विलास से चमचमाते हुए स्वर, कल्पना की योजना द्वारा सगीत मे ढल जाते हैं। इस प्रकार, सगीत गायक के स्वरमय स्वप्न लोक की सृष्टि है। जाग्रत-अवस्था मे उसे पाकर, होश आने पर, गायक स्वय चकित हो जाता है और श्रोता उसे सुन कर उसी उन्मुक्त अवस्था का अनुभव करता है जिसमे सगीत का उदय कलाकार की आत्मा मे हुआ था।

कल्पना की ऊर्वरता और वेदना की तीव्रता कलाकार की स्वाभाविक मानसिक सम्पत्ति हैं जिसके लिये वह साधना करता है। तीव्र वेदना स्वय स्वरूपवती होने के लिये प्रवत्त होती है। कल्पना–नवीन सस्थान, योजना और रूप विन्यास का आविष्कार करने की शक्ति है। कलाकार का प्रयत्न केवल व्यक्तित्त्व के बन्धनो से मुक्त होने के लिये होता है जिससे वेदना और कल्पना स्वच्छन्द होकर अपना अपना स्वरूप ग्रहण कर सकें। इसके अतिरिक्त कलाकार अपने माध्यम के साथ एकाकार होने का प्रयत्न करता है इस प्रयत्न से वह स्वप्न जैसी अवस्था मे पहुच जाता है जहाँ कला की सृष्टि होती है।

इस सिद्धा त मे एक न्यूनता इस बात की है कि स्वप्न की अवस्था मे सोते हुए मनुष्य का व्यक्तित्त्व शेष रहता है। वह अपने दु ख से दुखी और अपने सुख से

सुखी होता है। जब तक वह अपने अन्तर्लोक मे जीवन का पूण और उन्मुक्त, वेदना का सीमाहीन और व्यापक, अनुभव नही करता, उसकी कला मे प्राणो को आन्दोलित करने की क्षमता नही आती। इसलिये कुछ मनोवैज्ञानिक कला की सृष्टि का मूल-स्थान स्वप्न लोक से भी दूर, गाढ निद्रा, सुषुप्ति अथवा पूर्ण अचेतन (Uncons-cioUs) अवस्था मे मनाते हैं।

यह सुषुप्ति अथवा 'अचेतन' कौन-सा लोक है ? हम सभी इस लोक मे जाते है स्वप्न के अनन्तर। यद्यपि वहाँ 'जाग्रत' और 'स्वप्न' का जगत, इन्द्रियो की हलचल, मन के सकल्प-विकल्प कुछ नही है, किन्तु वहाँ कुछ भी नही है, यह नही माना जा सकता, क्योकि गाढ निद्रा के अनन्तर हम प्रसन्न और ताजे होकर लौटते है। सुपुप्ति के शून्य अन्तराल मे केवल आत्मा (Psyche) रहती है और वह व्यक्तित्व के सम्पूण बन्धनो को तोडकर अत्यत लाघव का अनुभव करती है। अपनी असीम, बन्धन हीन, केवल अपने आनन्द और आलोक से आभासित अवस्था मे पहुच कर वह अपूव सुख का अनुभव करती है। यह उसकी मूल अवस्था (Primordial State) यूग के शब्दो मे है। यह अवस्था 'मृत्यु' से भिन्न नही है। कितु इस शून्यता, मृत्यु अथवा जीवन की मूल अवस्था से जीवन का उदय होता है और जीवन की प्रवृत्ति इसी अवस्था मे पुन पुन लौट आने की रहती है। यह फ्रॉयड के शब्दो मे मृत्यु की कामना (Death wish)* है जो हमे जीवन से भी अधिक प्रिय है। यह सुषुप्ति, यूग के अनुसार, 'माता' (Matrin) है, क्योकि इसी से हमारे दैनिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसी के अनन्त गभ मे से मनुष्य अपनी मनुष्यता और जीवन की प्रेरणा और वासना पाता है। किन्तु 'माता के गर्भ मे लौटने की प्रवृत्ति जीवन मे अत्यन्त प्रबल रहती है। हम अपनी आदिम सुषुप्ति—अवस्था के स्वच्छन्द सुख को भूल नही पाते। इस प्रकार एक ओर हम सुषुप्ति की अचेतन अवस्था से जाग्रत की ओर विकास की शक्तियो से धकेले जा रहे हैं, किन्तु जाग्रत जीवन के उत्तरदायित्व और बन्धन हमे, दूसरी ओर, उसी 'माता', 'मृत्यु' अथवा जीवन की मूल अवस्था की ओर लौटने के लिये प्रवृत्त करते हैं। जीवन इन्ही दो विरोधी प्रवृत्तियो के सघष का फल है। कला, धर्म, सभ्यता इसी सघर्ष के परिणामस्वरूप उदय होते हैं।

कला का सृजन सुषुप्ति की अवस्था मे होता है। जीवन की मूल वेदना का वहाँ स्वच्छन्द स्फुरण होता है। यह मूल वेदना स्वभावत उस सुपुप्ति की अवस्था से

*Thanatos = मृत्यु-कामना।

जाग्रत अवस्था मे आना चाहती है, ठीक उन्ही कारणो से जिससे 'जीवन' स्वय उस 'मृत्यु' की अवस्था से जाग्रत अवस्था मे आना चाहता है। 'मृत्यु', 'शून्यता' अथवा सुषुप्ति का अनन्त लोक ससीम होने के लिये उद्वेलित होता है। यह कला सृजन का नही, जीवन और जगत् की सृष्टि का भी रहस्य है। कलाकार की कल्पना, सृजन के इस क्षण मे स्वरो अथवा रेखाओ, शब्दो अथवा गतियो मे सुषुप्त आत्मा की अभिव्यक्ति के लिये, उपयुक्त 'रूप' का सृजन करती है। यद्यपि सुषुप्ति के असीम अवकाश मे 'मृत्यु' का प्रसार है, तथापि वहाँ से जीवन का स्पदन उदित होता है, वहाँ शब्द स्पर्श, रस, आदि अनुभव नही हैं तथापि इन्द्रियाँ अपनी चेतनाओ की स्फूर्ति वही से पाती हैं। जिस प्रकार 'मृत्यु' से 'जीवन' का उदय होता है, उसी प्रकार सुषुप्ति की शून्यता' मे से सगीत, चित्र, मूर्ति का उदय होता है। 'सवाद' और 'सन्तुलन' तो जीवन के सघर्ष के कारण नष्ट होते है। सुषुप्ति की अवस्था मे वेदना की तीव्रता के साथ ये भी जग जाते हैं। इसी से स्वरो मे स्वय ही सगीत की सगति और सन्तुलन का उदय हो जाता है। कलाकर सृजन द्वारा 'सुषुप्ति' और 'जाग्रत' की भेदक भित्ति को दूर कर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार रसास्वादन कि क्रिया 'जाग्रत' मे 'सुषुप्ति' की अनुभूति को, जीवन मे मृत्यु की अनन्तता और सुख की अनुभूति की, जगाने की क्रिया है।

ऊपर की विचार-शैली मे कई दोष हैं इससे कला मे आस्वादन का स्वरूप तो समझ मे आ जाता है, किन्तु कला का वैभव उसके अलकार, सगति, प्रगति रूप और भोग की मनोरमता, आदि का रहस्य नही खुलता। शून्य से सगीत का उदय अकस्मात् नही होता, वह कलाकार के माध्यम द्वारा होता है। अतएव कलाकार को एक ओर रख कर हम सुषुप्ति की अनन्त वेदना से स्वयमेव कला का आविर्भाव मानने को प्रस्तुत नही। माना कि अचेतन आत्मा व्यक्त होने के लिये आलोडित रहती है, माना कि कला का रूप धारण के लिये अचेतन की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है, किन्तु स्वरो का स्वयमेव सगीत बन जाना, रेखाओ से स्वयमेव चित्र निकल आना, शब्दो मे स्वयमेव साहित्य का उदय हो जाना, जिसमे कलाकार का व्यक्तित्त्व केवल निष्क्रिय साक्षी रहता हो, यह हमे मान्य नही। अतएव हमे ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता है जिसमे कलाकार का आध्यात्मिक विकास और उसका स्वय व्यक्तित्त्व कला-सृजन की क्रिया मे उपयोगी माने जाते हों। इसके लिये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनो अवस्थाओं के अतिरिक्त 'तुरीय' अवस्था का विवेचन करना होगा जहाँ कलाकार के व्यक्तित्त्व का अस्तित्व रहता है यद्यपि उस व्यक्तित्त्व की सीमाए इतनी विशाल और गम्भीर हो जाती हैं कि हम साधारणतया उनका पता नही लगा पाते।

(5)

कला के सौन्दय मे कलाकार के व्यक्तित्व का कहाँ तक समावेश रहता है? यह प्रश्न विचारणीय है। इसके अनन्तर हम कला की मूल भूमि और सृजन के रहस्य को समझ सकेंगे।

ऊपर की विचार-धाराओ मे हमने देखा है कि किस प्रकार कलाकार की स्वप्निल अथवा सुषुप्ति-ग्रस्त अवस्था मे कला सृजन की क्रिया होती है। इन विचार-धाराओ के पोषक यह मानते है कि इन अवस्थाओ मे साधारण व्यक्तित्व के बन्धन शिथिल हो जाने से ऊवर कल्पना माध्यमो के द्वारा जीवन की मूल कामनाओ को अभिव्यक्त कर देती है। ये अभिव्यक्तियाँ ही कला है। इन अवस्थाओ मे उत्पन्न होने के कारण कला मे अदभुत अवसाद होता है जो हमे आनन्द देता है, अपूव गति और सन्तुलन होता है जिसे हम सजग रह कर नही उत्पन्न कर सकते। किन्तु इन पोषको के अनुसार ये अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमे मानव व्यक्तित्व का ह्रास होता है। अतएव कला ह्रास की दशा मे उत्पन्न होकर व्यक्तित्व को शिथिल बनाती हैं, और, उनमे जितना कम मानव-व्यक्तित्व का स्पश होता है उतनी ही अधिक मार्मिकता, मनोहरता और आकषण रहता है। फ्रॉयड के अनुसार तो कला का सम्पूण रहस्य सौन्दर्य के आकषण मे निहित है जो आकषण वस्तुत व्यक्तित्व को शिथिल बना कर हमारे 'जीवन' और इसकी शक्ति को 'मृत्यु', 'माता' अथवा 'सुषुप्ति' की ओर खीचता है। कला जीवन की रुचि को दुबल बनाती है। कला का जन्म उन्ही जीवन को शिथिल, अस्त-व्यस्त बनाने वाली प्रवृत्तियो से होता है जिनसे उन्माद और पागलपन* का उदय होता है केवल कुछ अन्तर के साथ।

यदि कला का जन्म व्यक्तित्व के ह्रास से होता है तो उसमे कलाकार के व्यक्तित्व का सम्पक नही होना चाहिए, न उसमे जीवन को नवीन स्तर पर ले जाने की शक्ति होनी चाहिए। किन्तु हमने सौन्दर्य से उत्पन्न आनन्द के स्वरूप का अध्ययन करते समय देखा है कि यह आनन्द आस्वादन की क्रिया है जिससे रसिक के हृदय मे तीन प्रकार के प्रभाव अवश्य पडते हैं क रसिक के हृदय के आवेगों का वेग निरसन होता है। वह भय, क्रोध, काम आदि का अनुभव भावो के लोक मे करता है जिसमे इनके वेग शान्त हो जाते हैं जो हमारे साधारण जीवन मे नही होता। ख आस्वादन मे आध्यात्मिक स्फूर्ति अवश्य होती है जिसके कारण जीवन के सुदूर कोनो मे छिपी वेदनाएँ और भावनाएँ जाग्रत होती हैं, और, नवीन रसो का सञ्चार करती हैं। जीवन स्वय जगता प्रतीत होता है और निर्बल होने के स्थान पर

* देखें, पृष्ठ, 117, यूग के अनुसार परिमित 'चेतन' अपरिमित 'अचेतन' से जुड कर अधिक स्वस्थ और समथ हो उठता है, यह फ्रॉयड के विपरीत है।

दृढ और उत्साहित होकर विकास के लिये नये क्षेत्रो का आविष्कार करता है। ग जिन सत्यो की अवगति बुद्धि लाख तर्कों द्वारा करने मे असमथ होती है, वे सत्य, बुद्धि की तक क्रियाओ के स्थगित होने पर भी, आनन्द के आलोक मे स्वयमेव उद्भासित हो उठते हैं। सगीत, चित्र, मूर्ति और साहित्य के माध्यम द्वारा न केवल भावनाओ का उद्रेक, विस्तार और विकास होता है, बल्कि नवीन विचारो को इनसे प्रेरणा मिलती है, नये क्षितिज दृष्टिगोचर हो उठते हैं। यदि कला आस्वादन का यह सत्य परिणाम है तो अवश्य ही कला सृजन कलाकार के विकसित व्यक्तित्त्व द्वारा होना चाहिए, न कि उसके ह्रास की अवस्थाओ मे।

हम तो यह मानते हैं कि कला का चेतन माध्यम कलाकार स्वय है। अतएव हम कला को कलाकार से पृथक् नही कर सकते। कला मे उसके स्रष्टा के आदर्शों की उच्चता, उसकी अनुभूतियो की सत्यता और प्रखरता उसकी कल्पनाओ की स्वच्छन्द गति उसके प्राणो का अवसाद और जीवन की तरलता, यहाँ तक कि उसके चरित्र का सौरभ रहते हैं। ज्यो ज्यो उसमे मानवता का विकास होता है, नवीन दिशाओ मे प्रेम आनन्द, निवेदन, भक्ति के भाव जाग्रत होते हैं, नूतन आदर्शों का आलोक अन्तर्देशो मे जगमगाता है, त्यो-त्यो कलाकार की कला भी समृद्ध होती है। प्रत्येक चित्रकार या कवि अपने अपने व्यक्तित्त्व मे से ही 'राम' और 'कृष्ण' को जीवन देता है। प्रत्येक चित्रकार की आत्मा का परिचायक होता है। इस निश्चित सम्बन्ध से हम अब व्यक्तित्त्व की उस विकसित अवस्था का निरूपण कर सकेगे जिसमे कला का सृजन होता है। यह 'समाधि' की अवस्था है जिसे 'योग' द्वारा प्राप्त किया जाता है। अनेक विचारको के अनुसार कला सृजन योग की क्रिया है।

(6)

योग और समाधि का आध्यात्मिक महत्त्व जो भी हो, ये हमे कला सृजन की मानसिक अवस्था को समझने मे सहायक होते है। हमने ऊपर इस अवस्था के लक्षणो का उल्लेख किया है और यह माना है कि हमारा 'अह और 'मम' वाला, प्रवृत्ति और प्रेरणा के निरन्तर आस्फालन को सहने वाला, सीमित व्यक्तित्व कला-सृष्टि के लिये असमथ होता है। कलाकार अपने मे बृहत् व्यक्तित्त्व, महा मानवता, या यो कहिए, ब्रह्मत्व का उदय होने देता है, जिससे उसके श्वासोच्छ्वास मे विश्व का प्राणन होने लगे, उसके नेत्रो मे दिव्य प्रकाश उत्पन्न हो और अन्तरात्मा में विश्वात्मा की शान्ति और वेदना स्फूर्ति और उल्लास, समा जाये। इसका मतलब

है कि कलाकार कला सृजन के क्षण मे अपनी इन्द्रियो की बहिर्मुखी वृत्ति को रोककर इन्हे आत्मा मे केन्द्रित करता है, प्राणो के विषम और अनियमित प्रवाह को सम और नियमित बनाता है, हृदय मे उत्ताप और चचलता को दूर कर उल्लास और सौन्दय से भरता है। उस क्षण उसमे योगी की भाँति ही चित्त वृत्तियो का निरोध हो जाता है। सम्भव है साधारणतया कलाकार उच्च चरित्रशाली न हो किन्तु कला-सृजन के क्षण मे वह निश्चल होकर नैतिक पुण्य-पाप की अवस्था से ऊँचा उठता है और उसमे ब्रह्मत्व का उदय हो जाता है। हमे यह स्वीकार करना होगा कि उस समय कलाकार की मानसिक वृत्तियो का प्रवाह सन्तुलित, सगतिमय, स्वच्छद, उल्लासमय, और प्रखर होता है जिससे उसमे सृजनात्मक' शक्ति का उदय हो सके।

योग की सम्पूर्ण क्रिया आत्मा मे सृजनात्मक शक्ति को जाग्रत करने के लिये होती है। हमारी साधारण मानसिक अवस्थाएँ 'क्षिप्त' 'विक्षिप्त' और 'मूढ' होती है। यहाँ 'क्षिप्त मन की इतस्तत बिखरी हुई चचल अवस्था का नाम है जिसमे वह क्षण-क्षण मे विषयो की ओर दौडता है और अस्थिर रहता है [क्षिप्त*—सदैव रजसा तेषु-तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरम]। 'मूढ' अवस्था मे तमो गुण के समुद्रेक से कामुकता, कलह निद्रा भय आदि का उदय होता है और विक्षिप्त दशा मे चित्त मे कभी-कभी स्थिरता [कादाचित्क स्थेमा] आ जाती है। योग के अनुसार ये तीनो मन की सव-साधारण अवस्थाएँ हैं जिनमे मलावरण से पदार्थ स्पष्ट नही दीख पडता। यहाँ से ऊपर 'योग' का प्रारम्भ होता है। योग-शास्त्र के अनुसार 'योग' अथवा 'समाधि' अत्यन्त कठिन और असाधारण अवस्थाएँ नही है। ज्योही तम के आवरण को हटाने के लिये हम चित्त को स्थिर करते हैं, योग का प्रारम्भ हो जाता है। किसी उच्च विचार, भावना और योजना के आविष्कार के लिये चित्त की स्थिरता आवश्यक है। अत 'योग' की क्रिया सृजनात्मक प्रयत्न के लिये अनिवार्य है।

योग का पहला भाग मलो को दूर करने के लिये होता है। इसका नाम 'चित्त-परिकम' है। मैत्री, करुणा, प्रसन्नता, और उपेक्षा आदि की भावना से हृदय के द्रोह आदि कालुष्य दूर हो जाते हैं। इसके अनन्तर यम नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि का अष्टाग योग प्रारम्भ होता है। ये आठो अग क्रमश मन मे अधिकाधिक स्थिरता, प्रसन्नता और लाघव उत्पन्न करते

*योग-सूत्र—व्यास-भाष्य

हैं। प्राणायाम के स्तर तक पहुँचते पहुँचते चित्त के द्वन्द्वो का अभिघात शान्त हो जाता है। उस समय चित्त प्रकाश के आवरक मलो के हट जाने से हमारा ज्ञान केवल शाब्दिक न रह कर प्रत्यक्ष होने लगता है। इसे 'ज्ञान-दीप्ति' कहा जाता है [तत क्षीयते प्रकाशावरणम्—'तपो न पर प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य]। समाधि की अवस्था तक पहुँचने पर सम्पूण चित्तवृत्तियाँ मानो पिण्डीभूत होकर केवल 'ध्येय' का आकार धारण कर लेती है। उस समय चित्त इतना निर्मल हो जाता है कि उत्तम मणि की भाति उसमे पदार्थों का प्रतिबिम्ब अत्यन्त स्पष्ट होकर पडता है। उस समय हृदय मे प्रज्ञा का आलोक फैलता है, [तज्जयात् प्रज्ञा-लोक], ज्ञान की प्रकृष्ट दीप्ति होती है [दीप्तिश्च ज्ञानस्य], भावनाए स्वय शोक रहित और आत्म ज्योति से उदभासित हो उठती हैं। उस अवस्था मे नैतिक बन्धनो से भी ऊपर शुद्ध और सत्य 'धम' का प्रत्यक्ष होता है। वह जीवन की मधुमयी भूमि है जहाँ से कला अपना माधुर्य और सत्य का वैभव पाती है।

कला की दृष्टि से 'समाधि' मन की वह अवस्था है जहाँ कला का, उसके प्रसाद, माधुर्य सत्य और सौन्दर्य का, उदय होता है। यह अवस्था 'तप' से प्राप्त होती है। वास्तविक कला का जन्म 'तप' से होता है। हमारे लिये यह विचार दूर का नही है क्योकि अनेक स्थानो पर काव्यो और कलाओ की रचना के लिये कवियो और कलाकारो की तपश्चर्या के कथानक हमारे ग्रन्थो मे भरे पडे हैं। तप से सृष्टि होती है। कला का जन्म भी तपश्चर्या से होता है। तप के द्वारा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से भिन्न एक चतुथ अवस्था का उदय होता है जिसमे कलाकार का व्यक्तित्त्व अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर सौन्दर्य का सृजन करता है। वहाँ 'ध्यान' और 'ध्येय,' कला और कलाकार, चित्र और चित्रकार, कवि और उसका काव्य, एकाकार हो जाते हैं। कलाकार के व्यक्तित्त्व का मूत्त रूप कला उसी अवस्था मे धारण करती है। वहाँ कलाकार और उसका माध्यम रहते हैं, किन्तु एकात्म होने के कारण माध्यम स्वय कलाकार की आत्मा के चैतन्य से जग उठता है। समाधि के प्रदेश मे सगति, लय, एकता आदि मे विघ्न उपस्थित करने वाले सम्पूर्ण विकार दूर हो जाते हैं। अतएव कलाकार के व्यक्तित्त्व से दीप्त कला का माध्यम, स्वर, वण, शब्द आदि, सूक्ष्म रूप मे, वही सौन्दय के गुणो से सज्जित होकर 'सकिरीट कुण्डल' कला के रूप मे जन्म लेता है।

(7)

यहा यह आक्षेप सम्भव है कि प्रत्येक कलाकार समाधि की सृजनात्मक

चेतना का अनुभव नही करता । हम मानते हैं कि कला के कई रूप हैं । एक वह भी कला है जो मनुष्य अपनी 'जाग्रत' अवस्था मे रचता है । यद्यपि चित्तस्थिरता नामक योग की उसमे भी आवश्यकता होती है तथापि इसके सृजन और आस्वादन के क्षण मे कलाकार और रसिक अपनी इन्द्रियो का पर्याप्त प्रयोग करते हैं । किन्तु स्मरण रहे यह कला केवल चित्रण प्रधान, वणनात्मक कला होती है । इसमे गम्भीर वेदनाओ का सर्वथा अभाव रहता है । इस 'जाग्रत' अवस्था की कला के अनन्तर हमे 'स्वप्न' के लोक मे सृष्ट कला भी मिलती है । यह कला कल्पना प्रधान होती है । इसका आस्वादन भी हम स्वप्न की सी अवस्था मे करते हैं । बहुत से उपन्यास, कथानक और कहानियाँ जो मनोरञ्जन के लिये पढी जाती हैं हमे स्वप्न के कल्पना लोक मे ले जाती हैं । कथानक अथवा घटना प्रधान गीत, पर्वत, समुद्र, मैदान आदि के वृहत् चित्र, रास लीला आदि के नृत्य भी इसी श्रेणी की कला है जिसका मुख्य लक्ष्य श्रोता और दशक को 'जाग्रत' से 'स्वप्न' के प्रदेश मे ले जाना है । इन कलाओं मे मनोविनोद होता है, सौन्दर्य के थोडे स्पश से हम जीवन की इन अवस्थाओ को भी सुन्दर और रमणीय बना देते हैं । किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी हम इन्हे शुद्ध कला और परम सौन्दय की अनुभूति नही मानते ।

'सुषुप्ति' की कला जिसके पोषक यूंग आदि दाशनिक हैं, सौन्दय की प्रकृष्ट अनुभूति के लिये समथ है । सगीत का लय (जिसमे कथानक का स्पश न हो) दु खान्त नाटको का आनन्द, कभी कभी जीवन मे 'मृत्यु' अथवा शून्यता' की परम वेदना को उत्पन्न कर ऐसे अद्भुत 'रस' का सृजन करते हैं कि इसके आस्वादन के लिये स्वप्न से भी गम्भीर मन के अचेतन तल मे रसिक चला जाता है । अनेक सुन्दर चित्र, मूर्ति, राग आदि मन के गूढ स्तरो को आलोकित करते हैं, उनमे सुप्त वेदनाओ को जगा कर जीवन का विस्तार करते हैं । उसके देखने और सुनने से मन के सीमा-बद्ध क्षितिज विस्फारित होते प्रतीत होते हैं और हमारा चित्त अनन्त अवकाश मे मग्न होने का अनुभव करता है । यह 'जीवन' मे 'मृत्यु' की अनुभूति है, जो हमारे साधारण सुख दु ख से भिन्न होते हुए भी अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है ।

हमे शुद्ध सौन्दय का आनन्द 'समाधि' अवस्था मे सृजन की गई कला से प्राप्त होता है, क्योकि जो कला जिस अवस्था मे रची जाती है वह रसिक मे भी उसी अवस्था को जाग्रत करती है । अत समाधि की कला का आस्वादन चित्त मे लय, प्रकाश और माधुर्य उत्पन्न करके उसे समाधि के आनन्द के समीप ही ले जाता है । हम जिस 'रूप' का प्रत्यक्ष नेत्र खोल कर नही, नेत्र निमीलन करके ही करते हैं, जिस

राग का आनन्द हमे दूर से आते हुए ध्वनियो के प्रवाह के रूप मे अपने ही अन्तर से आता हुआ प्रतीत होता है, जिस नृत्य की गति प्राणो मे विश्राम की अनुभूति उत्पन्न करती है, जिस काव्य का अर्थ जीवन मे आलोक, शान्ति और माधुर्य भरता है, जिस दिव्य निर्माण, मन्दिर, स्तूप, गिर्जा और मस्जिद, की झाँकी हृदय मे उदात्त भावना लाती है, वस्तुत ये कला के वे आदश हैं जिन्हे हम 'सुन्दर' कहते है। इन सुदर वस्तुओ के रसास्वादन मे, उन्माद नही, आह्लाद होता है, व्यक्तित्व का ह्रास नही विकास होता है, इद्रियो को उत्तेजित करने वाला विकार नही, उन्हे अद्भूत रूप, रस, स्पर्श के अनुभव से परम आनन्द होता है। यह कला अपने सौदर्य के आकषण से मानवता के रसमय अन त आलोक लोक मे रसिक को ले जाकर उसे ठगती नही, किन्तु रसास्वादन द्वारा उसके जीवन मे नवीन स्फूर्ति उसके प्राणो मे नवीन वेदना, उसकी बुद्धि मे नवीन जागृति, उसके नेत्रो मे नवीन ज्योति, उसके चरणो मे नवीन गति भरती है। यह कला कलाकार की मानवता से मर्म पाकर रसिक मे मम का सचार करती है। मार्मिक होकर ही कलाकार की कला प्रकृति की दिव्य कला से ऊँची उठ जाती है।

———

विविध कलाएं

'सुन्दर' की पूर्ण अनुभूति मे तीन तत्वो का समावेश रहता है 1 व्यक्त मूर्ति, जैसे चित्र, सगीत, काव्य, भवन आदि जिसे हम इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष करते है, 2 आनन्द अथवा रस जिसका व्यक्त रूप प्रत्यक्ष मूर्ति धारण करती है अथवा जिसका उद्रेक मूर्त्ति के साक्षात्कार से होता है, 3 माध्यम—स्वर, रग, शब्द आदि जिनके विशेष विन्यास से मूर्त्ति का उदय होता है। इनमे से मूर्त्ति के रूपादि और आनन्द के स्वरूप का विवेचन पिछले अध्यायो मे सामान्य रूप से हो चुका है। किन्तु हम 'मूर्त्ति' को जिसे सुन्दर कहते हैं जिस प्रकार उसके रस' से पृथक् नही कर सकते, उसी प्रकार जिस माध्यम से उसका जन्म हुआ है हम उसे नही हटा सकते। मूर्ति मे माध्यम के गुणो का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है कि इसके सौन्दय के अनुभव मे इन गुणो के गम्भीर प्रभावो का निराकरण असम्भव है। एक राग को लीजिये। यह स्वरो के विशेष विन्यास मे उदित हुआ मन का भाव है। राग स्वरो की भाव से प्राणित मूर्ति है। राग के सौन्दय मे जहाँ 'भाव' विद्यमान है, वहाँ हमारे अनुभव मे स्वरो का वैभव, उनका उन्माद, गति, स्पन्दन आदि गुण भी अपने द्रावक प्रभावो के साथ विद्यमान हैं। हम 'राग' के सौन्दय मे से स्वरो के प्रभाव का निराकरण करके कुछ भी नही पा सकते। वह 'भाव' जो राग द्वारा व्यक्त होना चाहता है बिना स्वरो के वैभव और प्रभाव के हमारे साक्षात् अनुभव के लोक मे आ ही नही सकता। यदि ऐसा है तो हमे सौन्दय के विवेचन मे माध्यम के विशेष गुणो और प्रभावो का अध्ययन करना चाहिए। कला का प्रत्येक माध्यम—स्वर, शब्द, रग आदि—अपने विशिष्ट गुण और प्रभाव के कारण, सौन्दर्य की अनुभूति मे भी एक निरालापन उत्पन्न करता है जिससे हम काव्य के सौन्दर्य और चित्र के सौन्दय को भिन्न रूप मे ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार 'सगीत' का सौन्दर्य भवन के सौन्दर्य का केवल स्वरानुवाद नही है। प्रत्येक माध्यम अपनी विशेषता के कारण एक निराले ही सौन्दर्य को जन्म देता है। हम इस अध्याय मे सौन्दर्य के विभिन्न स्वरूपो का अध्ययन करेंगे।

अपने विशिष्ट गुण और प्रभावो के अतिरिक्त जिनका विवेचन इस अध्याय मे है, कला के सारे माध्यम कुछ सामान्य गुण भी रखते हैं। वह पदाथ जो कला के लिये उचित और उपयुक्त माध्यम हो सकता है 'लोच' गुण से युक्त होना चाहिए अर्थात् वह इस योग्य हो कि कलाकार अपने साधारण मानसिक और शारीरिक प्रयत्न से उसे अभीष्ट 'रूप' अथवा मूर्त्ति दे सके। लोच के अनुसार माध्यम 'कठिन' और 'कोमल' होते हैं। प्रस्तर खण्ड, काठ, मिटटी आदि कठिन माध्यम हैं, रग, स्वर और शब्द आदि कोमल माध्यम हैं। कठिन माध्यम मे रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इन्द्रियो के लिये अधिक स्पष्ट होता है। किंतु वह भावो की गम्भीरता को इतनी सरलता के साथ वहन नही कर सकता जितनी कोमल माध्यम का प्रयोग करने वाली कला। कोमल माध्यम के द्वारा—सगीत और साहित्य द्वारा—भावो की गहन छाया, उनका विलास और उल्लास जितना व्यक्त हो सकते हैं उतना ही वे इन्द्रियो के स्तर से उठ कर बुद्धि और ज्ञान के स्तर पर चले जाते हैं। इससे इन कलाओ मे भाव की अधिकता के साथ अस्पष्टता और अस्थिरता आ जाती है।

कुछ माध्यम दृश्य और कुछ श्रव्य होते हैं। सौन्दर्य के आस्वादन मे हम केवल दो ही इन्द्रियो, चक्षु और श्रवण, का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि सौन्दय के आस्वादन मे प्रेरणा तथा इन्द्रिय और मन की उत्तेजना न होनी चाहिए। चक्षु और श्रवण द्वारा रसिक सुन्दर वस्तु का आनन्द बिना शरीर की गति के भी ले सकता है, स्पर्श, गन्ध आदि के अनुभव मे यह सम्भव नही। इसका अर्थ यह नही कि सौन्दय के आस्वादन मे गन्धादि का उपयोग नही। वस्तुत कुशल कलाकार अनेक इगितो और सकेतो द्वारा सुन्दर गन्ध, सुखद, स्पश और दिव्य रसो की अनुभूति को रसिक मे जाग्रत करता है। सफल कला कृति मे दृश्य अथवा श्रव्य माध्यम के द्वारा ही हमारे समस्त इन्द्रिय-भोगो को प्रभावित करने की सामर्थ्य होती है। कला मे इसी कारण सकेतित' अर्थों का प्रयोग किया जाता है जिससे रसिक मे रस-चवणा भी अधिकाधिक उद्दीप्त होती है और चमत्कार उत्पन्न होता है।

दृश्य और श्रव्य माध्यमो के प्रयोग का एक कारण यह भी है कि ये माध्यम पर्याप्त रूप से विकसित हैं जिससे हम इन्हे रूप का विन्यास प्रदान कर सकते हैं। इन्हे 'पूर्वापर' अथवा, 'तारतम्य' के अनुसार स्वेच्छा से सयोजित कर सकते हैं। स्पश, गन्ध आदि मे विन्यास की सम्भावना नही है।

इसी प्रकार कुछ माध्यम 'चल' और कुछ 'अचल' होते हैं। चल माध्यम का

प्रयोग करने वाली कला मे गति, लय, आरोह और अवरोह आदि स्पष्ट होते हैं, यद्यपि इसमे भी रूप का विन्यास होता है जिसको ग्रहण करने के लिये रसिक को कुछ प्रयत्न करना पडता है। चल-कला मे रूप को ग्रहण करने के लिये रसिक कुछ 'अचल' हो जाता है, जैसे, सगीत आदि मे स्वरो के विन्यास को समझने के लिये। अचल-कला मे रूप-विन्यास स्पष्ट होता है, किन्तु गति, लय और आरोह अवरोह इतने स्पष्ट नही होते, यद्यपि होते अवश्य है। इसको ग्रहण करने के लिये 'रसिक' को स्वय चल' बनने का प्रयत्न करना होता है, जैसे, मूर्ति को देखने मे अनेक रेखा और अवयवो के सम्बन्ध को हृदयगम करने के लिये रसिक नेत्र आदि के चालन से मूर्ति मे 'गति' की खोज करता है।

प्रत्येक कला अपने माध्यम के विशिष्ट गुणो के कारण न केवल विशेष 'कौशल' की अपेक्षा रखती है, साथ ही विशिष्ट सौदय को जन्म देती है। सगीत का सौन्दर्य, चित्र का सौन्दर्य, साहित्य का सौन्दय, आदि ये सब इतने विशिष्ट हैं कि हम एक का अक्षरश अनुवाद दूसरे मे नही कर सकते। इनके आस्वादन में भी विशेषता है। सत्य तो यह है कि 'सामान्य सौन्दय' नामक वस्तु केवल दार्शनिक और विचारक के मस्तिष्क की उपज है। सौदय अपने माध्यम के गुण और प्रभावो के कारण जिनसे उसे दूर नही किया जा सकता वस्तुत विशिष्ट ही होता है।

साहित्य

साहित्य मे सौन्दय का क्या स्वरूप है ? इसमे 'रूप' 'भोग', 'अभिव्यक्ति' के क्या नियम हैं ? इत्यादि प्रश्न हैं जिनका उत्तर पाना प्रस्तुत अध्याय का लक्ष्य है।

साहित्य का व्यक्त माध्यम 'शब्द' है। हम इसे कानो से सुनते अथवा लिखित सकेतो द्वारा पढते है। पढने मे भी 'सुनने' की क्रिया चलती रहती है। यह माध्यम अतीव 'कोमल' है अर्थात् इसे कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा अनेक रूप दे सकता है। यह दृश्य से भी अधिक 'श्रव्य' है और इसी कारण यह 'चल' और गतिशील है। इसे हम यो भी कह सकते है कि 'शब्द' 'कालिक' माध्यम है, 'स्थानिक' नही अर्थात् शब्द मे काल का उत्तरोत्तर प्रवाह रहता है। हम पीछे नही लौटते, न दायें, बायें, ऊपर, नीचे जा सकते है। अनेक शब्दो और सकेतो को एक स्थान मे पुस्तक के आकार मे रखने का प्रयत्न सतत गतिशील चेतना के प्रवाह को 'स्थान' की स्थिरता देने के लिये किया जाता है। किन्तु जिस समय हम अध्ययन करते है शब्दो का प्रवाह पुन बहने लगता है। हम शब्दो को मूर्ति अथवा चित्र जैसा 'स्थान' नही दे सकते। प्रवाह और गति को निकाल देने से शब्द निरथक चिह्न रह जायेंगे। इस दृष्टि से साहित्य और सगीत मे भारी समानता है।

शब्द मे जो साहित्य का मूर्त्त माध्यम है एक और विशेषता है जो अन्य माध्यमों मे नही है। वह यह कि शब्द अपनी ध्वन्यात्मक मूर्ति द्वारा अर्थ को व्यक्त करता है। शब्द का अर्थ उसकी आत्मा है जो शब्द को चेतना, स्फूर्ति, प्रकाश, गति, गाम्भीय और जीवन प्रदान करता है, और शब्द मानो विनिमय मे उसे शरीर, रूप, और जगत् मे पार्थिव सत्ता प्रदान करता है। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध अविच्छेद्य है। इनके साहचय से 'साहित्य' का उदय होता है। अर्थ शून्य ध्वनियो मे साहित्य नही होता, और अथ शब्द शरीर के बिना व्यक्त सत्ता नही रख सकता। शब्द और अर्थ के 'सहित' होने के कारण हम इसे 'साहित्य' कहते हैं।

'अथ' जिसके जीवन से शब्द जीवन पाता है जिसकी चेतना से प्रकाशित होता है, अध्यात्म-लोक का पदाथ है। वह कलाकार, दार्शनिक वैज्ञानिक आदि

मनुष्यो के चेतना लोक मे, न जाने कैसे, कहाँ से और क्यो, उदय होता है ठीक एक स्फुलिङ्ग की भाँति और उसके अन्तर्जगत् मे प्रकाश फैला देता है। विचारक उस चेतना की चिनगारी को, प्रकाश के सजीव कण को, व्यक्त करने के लिये वाणी के माध्यम का प्रयोग करता है इस प्रकार एक सार्थक, श्रुत शब्द का आविष्कार होता है। अव्यक्त चेतना का कण किस प्रकार किन कारणो से व्यक्त शब्द का रूप धारण करता है, यह रहस्य भारतीय विचारको को दिव्य जान पडा और उन्होने इस सम्पूर्ण क्रिया को देवी' कह कर सम्मानित किया।

श्रुत शब्द का सम्बन्ध चेतना-लोक से होने के कारण इसका मूल, अव्यक्त रूप भी चेतना की भाँति ही अनन्त प्रकाशमय, मन और इन्द्रियो के लिये अगम्य, ब्रह्म-तत्त्व है। मनुष्य स्वय अखण्ड जीवन का एक क्षुद्र प्रवाह है, अनन्त चेतना का एक छोटा स्फुलिङ्ग है, उसी प्रकार शब्द भी वही से उत्पन्न होता है जहाँ से मानव का आविर्भाव हुआ है। यह अनन्त चेतना जहाँ से शब्द का उदय होता है 'वाणी' का 'परा' रूप है। किन्तु सृष्टि की प्रवृत्ति असीम से ससीम, अव्यक्त से व्यक्त, की ओर होती है। अतएव वाणी के 'परा' रूप मे स्फुरण होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पृथ्वी मे बोये हुये बीज मे उगने के लिये जीवन का जागरण होता है। 'परा' वाणी मे व्यक्त होने की यह स्फूर्त्ति इसी दिशा को निश्चित करती है। यह वाणी का दूसरा क्रम है जिसे 'पश्यन्ती' कहा जाता है। विचारक के मानस-लोक मे जब अव्यक्त प्रकाश की भाँति अर्थ का उदय होता है, तब उसे 'पश्यन्ती' वाग्-देवी का साक्षात्कार होता है। शनै-शनै वह ज्ञानालोक 'रूप' की ओर प्रवृत्त होता है। उसमे अङ्कुर स्पष्ट होने लगते हैं और 'क्रम' का आविर्भाव होता है। यह वह समय है जब विचारक अपने विचारो मे स्थिरता और मूर्ति का अनुभव करता हैं। यह वाणी का 'मध्यमा' रूप है। इसके अनन्तर वाणी श्रुत शब्दो का रूप धारण करके 'बैखरी' कहलाने लगती हैं।

शब्द का यह विकास, परा से लेकर बैखरी तक, असाधारण-सा प्रतीत होते हुए भी साधारण है। आधुनिक मनोविज्ञान ने अथ की अभिव्यक्ति का अध्ययन किया है और उसने 'अथ' का उदय हमारे चेतन मन के अतिरिक्त किसी अज्ञात लोक मे माना है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जो अर्थाभिव्यक्ति पर मनन करता है यही अनुभव करता है कि अकस्मात् उसका अन्तर्लोक किसी शब्द के प्रकाश से जगमगा उठा है। किन्तु यह अकस्मात् होता नही है। विचारक का अज्ञात मानसिक प्रयत्न चलता रहता है जिसके फलस्वरूप उसे शब्दो मे अभिव्यक्त अर्थ मिल जाता है।

भारतीय दाशनिको ने 'अर्थाभिव्यक्ति' नामक मानसिक जगत् की घटना का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और शब्द को ब्रह्म कह कर उन्होने एक दार्शनिक तथ्य का प्रतिपादन किया है।

हमारे लिये सौन्दय शास्त्र मे वाणी के दिव्य रूप का महत्त्व है। कवियो के लिये वाणी साक्षात् दिव्य धेनु है जिसे कवि गण रात-दिन दुहते है, जिससे 'सूक्तियो' की दुग्ध धारा न जाने कब स बह रही है किन्तु जो दुही जाने पर भी आज तक नहीं दुही गई। वस्तुत वाणी कामधेनु है। यह सरस्वती भी है, क्योकि यह चेतना का अनन्त और अविरत प्रवाह है जिससे सम्पूण साहित्य, सस्कृति और सभ्यता का उदय होता है, किन्तु जिसमे न जाने अभी कितने साहित्य और छिपे पड़े हैं।

(2)

शब्द का यह रूप हमे साहित्य मे सौन्दय के स्वरूप को समझने के लिये आवश्यक है। हमारे देश मे शब्द-शक्ति के ऊपर दाशनिक और वैज्ञानिक प्रकार से विचार किया है। वस्तुत शब्द की शक्ति अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति है। हमे बहुत पुरानी परिपाटी का तो पता नही, किन्तु यास्क मुनि के निरुक्त नामक ग्रन्थ मे 'शब्द' मे 'अर्थ' की खोज करने की एक प्राचीन प्रणाली का प्रतिपादन है जिसे वह 'निरुक्त' की प्रणाली कहते हैं। सक्षेप मे यह इस प्रकार है किसी शब्द को लीजिये। इसका एक अथ तो वह है जिससे हम व्यवहार चलाते हैं, दूसरो का निर्देश अथवा सकेत करते हैं। यह व्यावहारिक अर्थ स्पष्ट, निश्चित होने के कारण सकुचित होता है। हमे यह आवश्यक नही कि हम ज्ञान अथवा रसास्वादन के अवसर पर भी शब्द के सीमित और व्यवहार द्वारा निश्चित अथ का प्रयोग करें। शब्द चैतन्य का अश है और इस कारण शब्द से अनन्त अर्थ निकल सकता है। ज्यो-ज्यो अथ का अवगाहन करने वाली हमारी बुद्धि शब्द के आध्यात्मिक अन्तराल मे प्रवेश करती है, उसमे अनेक अनोखे अर्थों की प्रतीति होती है। प्रत्येक शब्द इस दृष्टि से चेतना के अनन्त आलोक लोक की झाकी देने के लिये मानो एक झरोखा है। शब्द मे अपनी दृष्टि लगाकर हम इसी चेतना-लोक का साक्षात्कार करते हैं। उदाहरण के लिये 'इन्द्र' शब्द को लीजिए। इसका व्यावहारिक अथ 'स्वर्ग का राजा' होता है। किन्तु 'इन्द्र' के अथ को हम इतने ही मे सीमित नही कर सकते, क्योकि 'इन्द्र' का अर्थ 'स्वग' और 'राजा' इन अर्थों से पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। यदि यह सत्य है तो 'इन्द्र' के वैज्ञानिक अर्थ मे 'स्वर्ग' और

'राजा' के अथ भी अभिव्यक्त होते हैं। 'इन्द्र' शब्द के अथ का साक्षात्कार करने वाली बुद्धि 'स्वग' और 'राजा' शब्दो के अर्थों का भी अवगाहन करती है। न केवल इतना ही, 'स्वग' शब्द के अथ का अवगाहन करने के लिये बुद्धि वहाँ के अमर जीवन, अनन्त सुख, असीम वैभव आदि का अवगाहन करती है। इधर 'राजा' शब्द भी 'ऐश्वय', तेज', 'प्रभाव' आदि क अर्थों का उत्थान करता है। तब तो 'इन्द्र' शब्द एक अखण्ड और अखण्डनीय अर्थ के आलोक का प्रसार करता है। 'इन्द्र' शब्द का वाचिक स्वरूप लघु होते हुए भी इसकी अथ दीप्ति की नाप असम्भव है, क्योकि जब हम इसके अथ का बुद्धि द्वारा साक्षात्कार करने चलते है तो अनन्त चेतना के प्रकाश मे अपने आप को पाते है। यज्ञादि मे 'इ द्र' इस शब्द के अथ का साक्षात्कार करत समय जिस दि य आलोक की प्रतीति होती है, हम उसी की उपासना करते हैं। शब्द के अतिरिक्त कोई देवता नही। शब्द की साक्षात् प्रतीति ही देवता के रूप का अनुभव है। यह प्रतीति इतनी मनोहारिणी होती है कि उपासक अपने आपको उसी के लिये समर्पित कर देता है। तब उसे न केवल उपासना का फल मिलता है, उसे उपासना का आनन्द भी प्राप्त होता हे।

हम निरुक्त की प्रणालियो मे प्रवेश न करके इसका साहित्य-सौन्दय के समझने मे उपयोग करेंगे। साहित्य मे शब्दो के वाचिक, बैखरी, व्यावहारिक रूप से ऊचे उठ कर हम इनके अर्थों के चेतन और प्रकाश के लोक का अवगाहन करते है। हम शब्द की आत्मा, उसके अथ, का साक्षात्कार करते है जहा 'इन्द्र' शब्द का पूर्ण रूप हमे प्रकट होता है। तब हमे 'इ द्र' यह शब्द अखण्ड चेतना का एक व्यक्त अणु प्रतीत होता है। उसी अवस्था मे हम साहित्य मे रसास्वादन करते हैं। साहित्यकार शब्दो का प्रयोग केवल सकेत, निर्देश अथवा केवल कुछ जानने के लिये ही नही करता। काव्य के विषय मे तो अभिनवगुप्त का सूत्रमय आदेश है 'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक,' अर्थात काव्य मे तो रसिक का रसास्वादन के लिये अधिकार होता है, जानने की इच्छा अथवा विधि निषेध की मीमासा काव्य के क्षेत्र से बाहर है। अतएव कवि शब्दो का विशेष रूप से चयन करता है जिससे वे अपनी शक्ति से रसिक को शब्द के व्यक्त ध्वनिमय लोक से ऊपर अथ के प्रकाशित लोक मे ले जाये। काव्य जितना शब्दो के ऊपर प्रकाशमान अर्थ के लोक को जीवित, जाग्रत और रोचिष्णु बनाने मे सफल होता है, जितना वह अर्थालोक मे आनन्द की तरगों को उत्पन्न कर पाता है उतना ही रसिक को तन्मय कर पाता है। जहाँ शब्दो का चयन और गठन इस प्रकार का है कि अथ अस्पष्ट, सकुचित और निर्जीव है वहाँ वह अर्थ का आलोक-जगत् व्यक्त ही नही होता, तब शब्दो मे रोचकता कहाँ और इसके

बिना शब्दो मे साहित्य का सौन्दय भी कहाँ ? शब्द के उपर्युक्त अध्ययन से हम 'सुन्दर' साहित्य के विषय मे दो माप-दण्डो की कल्पना कर सकते हैं (क) शब्द का बैखरी रूप अनन्त चेतना का इन्द्रिय-ग्राह्य रूप है । हम शब्द को श्रवणेंद्रिय से ग्रहण करते है, किन्तु इन्द्रियानुभूति के स्तर पर शब्द को नही रहने देते, हम उसे मानसिक स्तर पर ले जाते है जहा इसके चेतन-रूप का प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् हम बैखरी से पश्यन्ती और परा रूप का अनुभव करने मे प्रवृत्त होते हैं, जिसके शब्द के द्वारा अधिकाधिक प्रकाश और आनन्द का विस्तार होता है। कही कही शब्दो का चयन और प्रयोग इस कौशल से किया जाता है कि एक छोटा पद, वाक्य अथवा वाक्याश श्रोता को अनायास ही अर्थ के प्रकाश लोक मे ले जाता है । हमे बैखरी के द्वारा 'परा' वाणी के अनन्त और अनादि रूप की झाँकी मिलने लगती है, श्रुत से अश्रुत अर्थों का अवगम होने लगता है । यही साहित्य मे सौन्दर्य की एक कसौटी है कि शब्द हमे अपने श्रुत रूप के द्वारा ही सीमित अनुभूति से कितना ऊपर उठा कर अश्रुत अर्थों के किस लोक मे ले जा सकता है ।

(ख) साहित्य मे रस के अवगाहन के लिये शब्द का ही नही, अथ का भी साक्षात्कार होना चाहिए। अर्थ एक मानसिक जगत् का तत्त्व है जो हमे बिना प्रयत्न साधारण वस्तु की भाति-स्पष्ट नही होता । इसके अतिरिक्त, हम एक शब्द को दूसरे से पृथक् कर सकते हैं, किन्तु एक शब्द का अर्थ दूसरे अर्थों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है कि एक के जाग्रत होने से उससे सम्बद्ध अनेक अथ भी जग जाते हैं। हमने 'इन्द्र' शब्द के अर्थ का साक्षात्कार करने के प्रयत्न मे देखा था कि एक अथ के साथ दूसरे अनेक अर्थ किस प्रकार उलझे रहते हैं। तब तो सुन्दर साहित्य वह है जो पाठक को अपनी शक्ति के द्वारा अर्थों के अखण्ड आलोक का हमे प्रत्यक्ष दशन करा सके। जब तक शब्द केवल झकार मात्र रह कर कान मे बजते हैं तब तक उनमे साहित्य नही कहा जा सकता । सौन्दय की अनुभूति शब्द मे उसी समय होती है जब हम शब्द के द्वारा अथ का साक्षात्कार करने मे समथ होते हैं। वेद मे आदर्श काव्यत्व का कारण यही है कि हम वेद के शब्दो मे अर्थों का प्रत्यक्ष करते हैं, जैसा कि सुन्दर साहित्य मे ही सम्भव होता है। वेद मे अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, सूर्य आदि केवल शब्द-कोश के सामान्य अर्थ वाले शब्द नही है, किन्तु अनन्त अर्थालोक के निधान हैं। शब्द मे अथ को साक्षात्कार कराने की शक्ति ही साहित्य का सौन्दर्य है। प्रत्येक शब्द अनन्त अथ को प्रगट कर सकता है। अथ का विच्छेद और सीमा सम्भव नही। अतएव जितना भी एक शब्द विस्फोट की भाँति चेतना को अधिक जाग्रत करता है, उतना ही वह साहित्य मे अधिक सौन्दर्यशाली हो जाता है।

(3)

निरुक्त और व्याकरण के सिद्धान्त को आधार मानकर साहित्यिको ने भी ध्वनि के आविष्कार द्वारा साहित्य मे सौन्दय का समझने का प्रयत्न किया है। ध्वनि-कार आनन्दवर्द्धन* ने मुख्यतया दो प्रश्न साहित्य में सौन्दय के सम्बन्ध मे लिये हैं जिनका उत्तर उन्होने अपूर्व सफलता के साथ दिया है। उत्तर को समझने के लिये हम पहले प्रश्नो को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

पहला प्रश्न यह है कि काव्य मे आत्मा के रूप मे व्यवस्थित वह कौन-सा अर्थ है जिसका सहृदय रसिक आस्वादन करता है? महाकवियो की वाणी मे वह कौन-सी वस्तु है जो उनके शब्दो के अतिरिक्त सुन्दरी के अवयव और उनकी योजना के ऊपर लावण्य की भाति तरङ्गायमान पृथक् ही दिखाई पडती है। वह अर्थ कौन-सा है जिसे शब्द अपनी साधारण शक्ति से व्यक्त नही कर सकता, किन्तु जो रसिक के हृदय मे उदय होकर हृदय-सवाद और आह्लादमयी वेदना उत्पन्न करता है, जिससे अपनी ही आत्मा मे नवीन आलोक और आनन्द जाग्रत हो उठने से रस चर्वणा का प्रारम्भ होता है? महाकवि की 'सरस्वती' वह कौन सी स्वादु अर्थ-वस्तु का निष्यन्द करती है जिससे सामान्य से अधिक अद्भुत प्रतिभा की दीप्ति होती है? वह कौन-सा माधुर्य है जिसके पाने से पूर्वपरिचित सारे पदार्थ फिर से नूतन-से प्रतीत होने लगते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मधु-मास आ जाने पर वे ही द्रुमादि नवीन हो जाते हैं? अन्त मे, सुकवि की वाणी मे वह कौन-सी अपूर्वता है जिसके कारण प्रियतमा के विलास की भाति उसमे रस-चमत्कार की अवधि ही नही प्रतीत होती?

दूसरा प्रश्न यह है कि कवि प्रियतमा के नित्य नूतन विभ्रम की भाँति अनन्त और [illegible] रस का सचार करने वाले 'सहृदयश्लाघ्य' अर्थ का साक्षात् वर्णन क्यो नही करता? वह उसे अपने कौशल से शब्दो मे इस प्रकार गूढ रूप से भरता है कि विज्ञान अथवा व्यवहार की भाँति हमे सरलता से ऊपर ही नही मिलता। इस प्रकार साक्षात और अगूढ रूप मे रस के वर्णन से क्या अचारुता उत्पन्न होती है, अथवा गूढ रूप मे व्यक्त करने मे चारुता मे कौन सी वृद्धि होती है? जिस प्रकार अलकारो से सजी हुई, शृङ्गार रस तरङ्गिणी युवती का सौन्दर्य उस सौन्दर्य का गोपन करने के लज्जा-रूप प्रयत्न से और भी उद्दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार महा-कवि की गिरा मे अर्थ भी गूढ़ होकर क्यो और भी 'विकट' हो जाता है?

ऊपर के दोनो प्रश्न साहित्य के सौन्दय को समझने के लिए आवश्यक है।

---

* देखें ध्वन्यालोक प्रथम उल्लास

यहाँ हमे स्मरण रहे कि कवि की वाणी का सौन्दय सुदरी के सौन्दय से उपमित किया गया है। जिस प्रकार उसका लावण्य उसके प्रत्येक अवयव से भिन्न कोई अन्य ही तत्त्व है जिसका आँखे आस्वादन तो करती हैं किन्तु थाह नही पाती, और, जिस प्रकार वह निरवधिक लावण्य उसकी लज्जा के कारण तिरोहित न होकर उसके गोपन के प्रयत्नो से ही और भी अधिक विकट हो उठता है, उसी प्रकार महाकवि की वाणी का लावण्य जो शब्दो से भिन्न है और जो कवि के गोपन के प्रयत्नो से और भी अधिक रस का सचार करता है। इन प्रश्नो का उत्तर आनन्दवद्धन ने 'ध्वनि' के आविष्कार द्वारा दिया है।

'शब्द मे ध्वनित' अथ कौन-सा होता है ?' इस प्रश्न के लिए हम सक्षेप मे शब्द-शक्ति पर विचार करते हैं। किसी शब्द का प्रथम, सरल और स्पष्ट किन्तु सकुचित अथ उसका 'वाच्य' अथ कहलाता हे। यह शब्द का कोश गत अथ होता है और अपने सकुचित स्वभाव के कारण जहा यह लौकिक व्यवहार के योग्य होता है, वहाँ यह कवि के व्यापार के अयोग्य होता है। शब्द की जिस शक्ति से इसका वाच्यार्थ प्रकट होता है उसे 'अभिधा' कहा जाता है। 'कमल' का वाच्याथ 'पानी मे उगने वाला एक पुष्प विशेष' है। इस अर्थ मे कोई चमत्कार नही। किन्तु जब कवि 'कमल-मुखी' का प्रयोग करता है तो कमल का वाच्यार्थ यहा सगत नही प्रतीत होता। कमल से मुख का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? यह प्रश्न अभिधा के स्तर पर उठता ही नही, क्योंकि दोनो के अभिधेयाथ भिन्न हैं। जब हम कमल' और 'मुख' इन दोनो के भिन्न वाच्यार्थों के ऊपर उठ कर इनके गुणो का मानसिक प्रत्यक्ष करते है तो कमल की कोमल, स्वच्छ सुरभि और मुख के आकार और कोमलता का आभास होने लगता है। तब उनमे 'समानता' का उदय होता है जिससे हम एक को उपमा और दूसरे को उपमेय समझने लगते है। जब किसी पद का अथ अभिधा से स्पष्ट नही होता, किन्तु व्याहत होता है तो हमारी बुद्धि दूसरे अथ का अवगाहन करने के लिए ऊची उठती है और उस शब्द से सम्बद्ध अर्थों का उद्घाटन करती है। यह नवीन अथ नवीन आलोक उत्पन्न करता है। साहित्यिक इस अथ को 'लक्ष्य' और शब्द की लक्ष्यार्थ की ओर ले जाने वाली शक्ति को लक्षणा' कहते हैं। स्पष्ट हो गया होगा कि 'कमल मुखी का अथ अभिधा के साक्षात् अथ से कितना दूर है, किन्तु इसका उपमोपमेय सम्बन्ध लक्षणा से स्पष्ट हो जाता है।

शब्द का अर्थ वाक्य मे प्रगट होता है। शब्दो की योजना से अथ की अभिव्यक्ति होती है। यह अथ प्रति शब्द मे पृथक्-पृथक् नही होता, यद्यपि इन्ही शब्दो

से प्रकट होता है। इसका अवगम करने के लिए बुद्धि एक अखड अर्थात् जो शब्दो की भाति विभक्त नही है अथ का आविष्कार करती है। यह शब्दो का पिण्डार्थ है जिसे तात्पय कहा जाता है। इससे अनेक शब्दो मे एकाथता और एक-सूत्रता का उदय होता है। शब्दो की 'तात्पय' शक्ति को बुद्धि मे पिण्डाथ अथवा समूढ अथ को अवगम करने की शक्ति माना जाता है।

काव्य के लिए अभिधा अनुपयुक्त है। वह थोडा सा साक्षात् अथ बता कर रुक जाती है। लक्षणा हमे अलकार तक पहुँचाती है और तात्पय से हम समग्र अथ की अवगति करते है। किन्तु काव्य का सहृदय-श्लाघ्य' अथ इन अर्थों से भिन्न है। शब्दो से रसास्वादन के लिए प्रत्येक शब्द मे रसोद्रेक करने वाले अर्थों की जाग्रति होनी चाहिये। 'कमल मुखी' पद का काव्यात्मक अथ कमल के साथ अनेक सम्बद्ध आनन्दमयी भावनाओ की अभिव्यक्ति है जिनके उदबोधन म प्रियतमा का मुख भी कमल जैसा आस्वादन योग्य हो जाता है। कवि का 'कमल' शब्द-कोश का कमल नही है। वह उसके भावना-जगत का पदार्थ है जहाँ इसमे दिव्य मादक गन्ध है जो मधुपो को मत्त बनाती है, जिसका स्पश पाकर पवन भी विकल हो उठता है, जिसके दिव्य वण से सरोवर की वैभव-वृद्धि होती है। इस भावना के आलोक मे पहुच कर 'कमल' अनेक तीव्र वेदनाओ को जाग्रत करता है। वह हमे सुदूर सरोवर के तट पर ले जाता है जहा वृक्षो की हरियाली है और निमल आकाश मे प्रभा का विस्तार है। वहाँ 'कमल' को देखकर कितनी कल्पनाएँ, कितनी कामनाएँ और स्मृतियाँ जगती है। इस प्रकार कवि का 'कमल कल्पना के रसमय लोक मे हमे ले जाता है, जहाँ 'कमल-मुखी' इस पद के काव्यात्मक अर्थ का हमे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। कवि के शब्द की वह शक्ति जिससे वह हमे प्रत्यक्ष से ऊँचा उठा कर कल्पना के असीम, सरस आलोक लोक मे ले जाता है, आनन्दवद्धन के लिये 'ध्वनि' है।

(4)

निश्चय है कि शब्द का साहित्यिक सौन्दय और गौरव ध्वन्याथ है। जिस अभागे पुरुष की बुद्धि शब्दो के वाच्याथ तक ही सीमित है वह साहित्य मे रसानुभूति के लिए असमर्थ है। वह शब्दो के द्वारा कल्पना-लोक मे नही पहुँचता। कवि अपने शब्दो का चयन, गठन और सृजन भी इस कौशल के साथ करता है कि रसिक पाठक इनके ध्वन्याथ का अवगाहन कर सके। वह छन्द, अलङ्कार, गुण, कथानक आदि अनेक उपायो का प्रयोग करता है जिससे पाठक के सम्मुख एक भाव लोक का उदय हो। वहाँ भाव-लोक मे कवि के शब्दो का भावनात्मक अर्थ वाचक हृदयगम करता है

और उन शब्दो की शक्ति से उनके पीछे गूढ अनेक अर्थों का आस्वादन करता है। ध्वन्यार्थ ही कवि की 'विकट' वाणी का लावण्य है। वह शब्दो के वाच्याथ से ऊपर, भावनाओ से तरङ्गित, रस के प्रवाहो से आप्लावित कल्पना का लोक है जहा पहुँच कर शब्द का वैभव अनन्त और उसका माधुय निरवधिक हो उठता है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रेम के उद्रेक से प्रियतमा का सौन्दय निस्सीम हो उठता है।

सच पूछा जाये तो 'ध्वनि' शब्द की शक्ति इतनी नही है जितनी वह रसिक के रसास्वादन की शक्ति है। रसिक अपनी भावना और कल्पना के बल से शब्द के ध्वन्यार्थ का अवगाहन करता है। उसी की रस-चवणा से उसे आनन्द भी होता है। तब फिर कवि का क्या महत्त्व है? प्रथमत, कवि प्रत्येक अनुभूति को चाहे वह बौद्धिक सिद्धान्त या गूढ शास्त्रीय तत्त्व हो या नैतिक मीमासा हो या कोई पीडा, उत्ताप, स्मृति हो अथवा कोई दाशनिक सत्य हो, अपने 'कवि व्यापार' से उसे 'रसनीय' बना देता है। इसे अंग्रेज विचारको ने Emotionalization कहा है। किस प्रकार? इसका उत्तर हम आगे देंगे। द्वितीयत, कवि साक्षात् रस का बखान न करके उसके उद्रेक के लिए पर्याप्त सामग्री का सकलन करता है और इसको इस कौशल से रूप और भोग प्रदान करता है कि वाचक इसका स्पश पाकर भाव लोक मे चला जाता है। वस्तुत यह मानना अनुचित है कि प्रत्येक शब्द का पृथक् कोई ध्व याथ होता है। यदि ऐसा होता तो हम शब्द कोश मे प्रत्येक शब्द का ध्वन्याथ लिख सकते। किसी शब्द का विशेष अथ रस के सन्दर्भ मे ही लगाया जाता है। कवि अपनी मौलिक प्रतिभा से इस रस सन्दभ को कथा-वस्तु छन्द आदि के द्वारा उत्पन्न करके रसिक को जाग्रत करता है। उस रस-सन्दभ मे पड कर शब्दो का सौन्दय अथवा उनका ध्वन्याथ प्रगट होता है जिसे रसिक अपने ही चित्त को चर्वण-क्रिया से आस्वादन करता है।

यहाँ हमे दूसरे प्रश्न का उत्तर भी मिलता है। यदि कवि अपने शब्दो से रस का साक्षात् वणन करे तो, एक तो, शब्दो मे रस साक्षात होता भी नही है, क्योकि शब्दो मे रस का उदय रसिक अपनी भावना के बल से करता है। कवि भावना को जाग्रत करके शब्दो को सरस बनाता है, न कि शब्दो मे कोई स्वभावजन्य सरसता है। दूसरे, रस का 'स्व' शब्द से वणन करने से, जैसे, 'शृङ्गार' रस शब्द से, शृङ्गार रस का अनुभव नही होता। अतएव कवि का सम्पूण प्रयत्न रस के साक्षात् वणन को छोडकर भावुक के मन मे रसनीयता (Emotionalization) लाने के लिये होता है। वह अनेक उपायो से अपनी सामग्री का चयन और गठन करता है जिससे रसिक मे भावोद्रेक हो। वह अपने छन्द को सगीत का 'लय' प्रदान करता है, कथानक की कल्पना

करता है, अलकारो के नवीन आविष्कार करता है, केवल इस दृष्टि से कि रसिक जाग्रत-लोक से अपनी सहृदयता का सहारा लेकर भाव-लोक मे पहुँच जाये। वहाँ पहुच कर वह सम्पूण काव्य-सामग्री स्वय रस के आलोक से उद्भासित हो उठती है। आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि आलोक की इच्छा वाला मनुष्य दीपक और उसकी शिखा को ठीक करने मे दत्तचित होता है। दीपक प्रज्वलित होकर अपने आपको और सब पदार्थों को प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार कवि का प्रयत्न अपनी कारयित्री प्रतिभा से काव्य की सामग्री जुटाने के लिये होता है। काव्य स्वय उस सामग्री को—शब्द और उसके चयन को—अपने रस से चमका देता है। काव्य का रस उसका सौन्दय है, किन्तु जिस प्रवृत्ति ने स्त्री मे अपने सौन्दय को लज्जा मे गोपन करके उसे और भी विकट बनाने का स्वाभाविक कौशल दिया है, उसी प्रवृत्ति ने कवि को भी काव्य के सौन्दर्य को सामग्री, छन्द, कथानक, अलकार आदि मे गोपन करके उसको और भी उद्दीप्त करने का कौशल सिखाया है। कारण यह कि बालिका की सरल दृष्टि निर्दोष होने के कारण लज्जा का अथ नही समझती। लज्जा का प्रथम उदय काम की वासना के प्रथम स्फुरण के साथ ही होता है। शनै-शनै यौवन के साथ यह मनोविकार सारे शरीर और मन मे व्याप्त हो जाता है। इस विकार को छिपाने का प्रयत्न उसको और भी अधिक प्रकट कर देता है। इसी से लज्जा स्त्री के लिये और भी श्री वृद्धि करने के कारण उसकी भूषा हो जाती है। इसी प्रकार काव्य का सवृत सौन्दर्य सामग्री के अणु अणु मे व्याप्त होता है। किन्तु कवि इस रस के छलकते हुए कलश को अलकार छन्द, कथानक आदि से ढक कर वाचक के हृदय मे और भी अधिक कौतूहल और चमत्कार का सचार करता है। काव्य का रस इस गोपन-विधि से अर्थात् अर्थ के वाच्य, लक्ष्य न होकर व्यग्य अथवा 'प्रतीयमान' होने से और भी मधुर हो जाता है।

साहित्य मे सौन्दर्य का सार शब्दो मे रस की गोपन-विधि है। इस गोपन से, चर्वणा के और भी उद्दीप्त होने के कारण, रस अधिकाधिक मधुर होता है। शब्दो मे छ्व-याय ही रस है जो शब्दो मे गुप्त रहता है। रसिक चवणा द्वारा इस रस को अपने अन्तर्लोक मे उद्घाटन करता है। रस के उघडे हुए रूप से चर्वणा नही उत्पन्न होती, ठीक वैसे ही जैसे निलज्ज सुन्दरी के रूप को देखकर रस उत्पन्न नही होता। अभिनवगुप्त रस के साक्षात् वर्णन को 'वमन' कहते हैं।

क्या हमारे युवक और युवती सौन्दय के गोपन-स्वरूप सार को जानते है ?

(5)

ध्वनिकार ने साहित्यिक सौदर्य का जो आदश प्रस्तुत किया है, वह शब्द की शक्ति द्वारा अर्थ के ज्योतिर्जगत मे रसास्वादन का आदश है। हम शब्द तक ही नही रुकते, अर्थ तक पहुँच कर उसका आस्वादन करते हैं, तभी तो हम इसे शब्दाथ रूप साहित्य कहते है। अथ की अनुभूति का आनन्द शब्द, इसके चयन और गठन, के माध्यम द्वारा प्राप्त करना साहित्य का आनन्द है। इस परिभाषा द्वारा हम वैज्ञानिक साहित्य तथा साहित्य के अन्य भेदो को उस साहित्य से पृथक कर सकते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य सौन्दय का सृजन और आस्वादन है, जैसे काव्य, उपन्यास आदि। 'सुन्दर' साहित्य का आदश 'रस' की अभिव्यक्ति है। यह रस अथ की चवणा से उत्प न होता है। जहा हमे शब्दाथ के साहित्य से आन द प्राप्त होता है वही साहित्यिक सौन्दय मानना चाहिए। जिस साहित्य का प्रधानतया रसास्वादन उद्देश्य है, हम उसे ललित साहित्य भी कह सकते हैं।

अथ का आस्वादन ललित साहित्य मे एक विशेष विधि से होता है। यह विशेष विधि ही ललित साहित्य को अन्य साहित्य से भिन्न करती है। यह विधि है सुन्दर साहित्य मे अर्थ की अभिव्यक्ति का एक मात्र उपाय 'अलकार' है जब कि वैज्ञानिक साहित्य मे अलकार का प्रयोग दोष माना जाता है। कारण यह है कि अथ की अभिव्यक्ति के केवल दो उपाय सम्भव है, या, यह कहिये कि केवल दो उपायो द्वारा हम अर्थ के आलोक लोक का अवगाहन करके उसको व्यक्त करते हैं। एक उपाय है 'सामान्य प्रत्यय' का आविष्कार जिससे हम किसी वस्तु के सामान्य और यथार्थ रूप को बुद्धि द्वारा समझ पाते हैं। मानवता, सत्य, सौन्दय, घनत्व, उष्णता, वृद्धि, उवरता आदि अनेक 'प्रत्यय' है जिनसे विभिन्न विज्ञानो मे अथ की प्रतीति उत्पन्न होती है। विज्ञान का उद्देश्य ही अथज्ञान के लिये उपयुक्त स्पष्ट प्रत्ययो का आविष्कार करना होता है जिनसे हम वस्तुओ और प्राकृतिक घटनाओ के यथाथ रूप और क्रम नियम को समझ पाते है। अथ लोक के अवगाहन का दूसरा उपाय 'साधम्य' है जिसके द्वारा हम वस्तुओ के वैज्ञानिक रूप का ज्ञान नही प्राप्त करते किन्तु उनके सौन्दय की अभिव्यक्ति करते हैं। साधम्य अथवा सादृश्य के द्वारा वस्तु अथवा अर्थ के सौन्दय का उद्घाटन 'अलकार' कहलाता है। साहित्य-कला अलकारो के साधन से, न कि प्रत्ययो के द्वारा, अर्थ की अभिव्यक्ति करती है। उदाहरण के लिये, मनुष्य के जीवन को लीजिये। हम कई बार अन्तर्मुख होकर 'जीवन' का अनुभव करते हैं। यह क्या है ? इसको वैज्ञानिको ने समझने का प्रयत्न किया है यह एक क्षण-क्षण मे परिवत्तन होने वाला अनन्त

अनुभूतियो का क्रम है। एक अनुभव न जाने कहाँ से आता है और क्षण भर को चेतना मे आकर न जाने कहा विस्मृति मे विलीन हो जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता है। वैज्ञानिको ने इस परिवर्त्तन को समझने के लिये कई 'प्रत्ययो का आविष्कार किया है, जैसे, बुद्ध का 'विज्ञान-सन्तान' और बर्गसो नामक फ्रेंच दार्शनिक का Elan Vital, स्पेंसर का Adjustment of the inner to the outer environment अर्थात् आन्तरिक प्रवृत्तियो का बाह्य परिमण्डल के साथ आनुकूल्य स्थापित करने का प्रयत्न इत्यादि। इसी जीवन की अनुभूति को कलाकारो ने 'साधर्म्य' के आविष्कार द्वारा व्यक्त किया है, जैसे, 'जीवन-प्रवाह' अर्थात् जिस प्रकार जल प्रवाह सतत रूप से बहता हैं उसी प्रकार जीवन भी गतिशील है। हम जल प्रवाह और जीवन मे सादृश्य पाते हैं अथवा, 'जीवन दीप' अर्थात् दीपक की भाँति जीवन भी क्षण-क्षण मे परिवर्त्तित होता, प्रकाश करता, अपने ही स्नेह मे जलता हुआ वेदना से प्रकाश और आनन्द पाता है। इस प्रकार हम एक ही अनुभूति को प्रत्यय और साधर्म्य द्वारा अभिव्यक्त करके क्रमश विज्ञान और साहित्य कला का सृजन करते हैं।

अर्थ अथवा अनुभूति का लोक कितना विस्तृत और गम्भीर है, यह हम मालूम है। यह आध्यात्मिक चेतना का अनन्त लोक है जहा अर्थ' रहता है। प्रत्येक अर्थ प्रकाश-लोक का एक कण है। कलाकार उस अर्थ-लोक, अनुभूति लोक अथवा चेतना-लोक मे प्रवेश करता है विहार के लिये न कि ज्ञान सम्पादन के लिये। वह अपनी भावना से भावित होकर कल्पना की पखो पर चढ कर उस अर्थ-लोक का अवगाहन करता है और उसके हृदय की सरसता उस प्रकाश के लोक को रसमय बना देती है। जिस समय उसकी सम्पूण चेतना भावमय, रसमय हो जाती है उस समय कल्पना उस लोक मे जाग्रत अर्थों को जीवन की तरलता, प्राणो की वेदना और आत्मा का प्रकाश प्रदान करती है। तब वे 'अर्थ' ज्ञान के अस्फुट कण नही रहते, कि तु रस-वर्षी बादल बन कर जीवन की विद्युत् से चमचमाते हुए, कवि की वाणी के रूप मे बरस पडते है। ये अर्थ अपनी स्फुट अभिव्यक्ति के लिये कल्पना का माध्यम ढूढते हैं, और कल्पना इन अर्थों को अपनी व्यक्त, स्पष्ट अनुभूति का—हमारे प्रत्यक्ष जगत् के दिव्य और मनोहर रूपो का—वरदान देकर इ हे सजीव बना देती हैं। कवि क मानस के सरस अर्थ कल्पना से स्पष्ट अभिव्यक्ति पाकर अलकारो के द्वारा प्रकट होते है।

साधारण भ्रम के कारण, हम अलकारो को काव्य आदि पर बाहर से लादा गया आभूषण मात्र समझकर इनका उचित महत्त्व नही देते। सत्य तो यह है कि

अलकार ही कवि के अर्थों के शरीरीकरण का उपाय है। अत हम काव्य को अलकारो से पृथक् नही कर सकते। हाँ, जिस काव्य मे काव्यता नही, केवल 'कवन' अथवा चित्रण है, वहा अलकारो का उच्छिष्ट ऊपर से कविता पर थोपा जाता है। सुन्दर काव्य तो अलकृत सरस अर्थो की अभिव्यक्ति है। अलकारो के लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना अनुचित है। अभिनवगुप्त ने तो 'अलकार' सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन ही इस आधार पर किया है जो अलकार 'अपृथक् प्रयत्न निवर्त्य' हो वही साहित्य का अग है, उसे ही रसाङ्गता प्राप्त होती है। यहा हम इस बात पर बल देते है कि अलकार का उदय उन्ही शक्तियो से होता है जिनसे काव्य मे रसो का उद्रेक होता है।

अलकार की जननी कल्पना है। कल्पना अर्थो के सादृश्य का अवगाहन करती है। यदि कल्पना स्वय ऊवर और रस के आवेश से सचारित होती है तो वह सादृश्य, दण्डी के शब्दो मे, प्रीति उत्पादन के योग्य अप्पय के अनुसार, हृद्य और जगन्नाथ के अनुसार 'सुदर' हो उठता है। 'सुन्दर' से जगन्नाथ का तात्पय 'चमत्कृति' उत्पन्न करने की योग्यता है और चमत्कार एक आनन्द विशेष है जिसका अनुभव सहृदय रसिक करता है। चमत्कार के बिना सादश्य सुन्दर नही कहा जा सकता। यह चमत्कार की अनुभूति ही जिसका रसिक हृदय आस्वादन करता है। अलकार के सारभूत कल्पित सादृश्य को सत्यता का प्रमाण पत्र प्रदान करता है। अतएव अलकार का सौन्दय रसवती, चमत्कार को उत्पन्न करने वाली कल्पना से उत्पन्न होने के कारण सत्य होता है, असत्य नही।

सुन्दर अलकार कल्पना का अद्भुत का आविष्कार है जिससे मानस लोक का, उसकी गहन अनुभूतियो और वेदनाओ का, परम प्रयत्क्ष होता है। चेतना के असीम अछोर जगत् के सुदूर कोने जहा हमारी मूक चेतनाएँ अद्ध निद्रित अवस्था मे पडी रहती है कल्पना के आलोक से एक अलकार के आविष्कार द्वारा जगमगा उठते ह। कल्पना के द्वारा कवि अनजाने लोको का अवगाहन करता है और अलकार के द्वारा उन्हे व्यक्त करता है। अलकार काव्य का अभिन्न अग और मात्र साधन है। अरस्तू नामक यूनानी दाशनिक तो महाकवि की पहचान ही उसके 'रूपक' और 'उपमा' के आविष्कारो से करता है। कालिदास, व्यास आदि का महत्त्व इनकी सजीव और सरस उपमाओ की सृष्टि के कारण है। कवि की उत्पादक प्रतिभा और काव्य मे मौलिकता की परख उनके अलकारो से होती है। मिडिल्टन मरे नामक 'शेक्सपीयर' के विद्वान् ने रूपक को सत्य का अवगम करने और अनुभूति को व्यवस्था देने

की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है । वस्तुत जहाँ कही हम अर्थ का साक्षात्कार करना चाहते हैं, न केवल उसका वाचिक आभास, वहाँ स्वभावत अलकार का प्रयोग होता है । विज्ञान भी अनेक स्थलो पर अर्थ की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के लिये रूपको के प्रयोग के लिये बाध्य होता है । साहित्य मे, वैज्ञानिक, धार्मिक और ललित साहित्य मे भी, अलकार व्यापक तत्त्व है, क्योकि जहाँ कल्पना है वहाँ अलकार है ।

हमने अलकार के सामान्य रूप का विवेचन किया है । कवि अपने कौशल से अनेको अलकारो का प्रयोग करता है । इन सबका उद्देश्य और मूल समान है— उद्देश्य, अर्थ की परम अनुभूति, और मूल, रसावेश से प्राणित हुई कल्पना । अप्पय तो सारे अलकारो की समष्टि उपमा' को मानता है । सच भी यह है कि साधर्म्य' अलकारो की आधार भूमि है और साधर्म्य उपमा का प्राण है । हम अलकारो की विशेषताओ मे न जाकर केवल एक प्रश्न पर विचार करेंगे अलकार किस प्रकार सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं और रसास्वादन के साधन हो जाते हैं ?

ऊपर के उदाहरण मे 'जीवन' और 'दीपक' में सादृश्य की खोज करके कल्पना हमारे जीवन की अनुभूति को दीपक की जलन, स्नेह, वेदना, क्षण-क्षण मे परिवर्तन शील प्रकाश का निरतर क्रम आदि प्रदान करती है । इससे जीवन की अनुभूति इतनी प्रकृष्ट होती है कि इसका अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है और तब हमारा रसिक हृदय दीपक-रूप जीवन के तदाकार होकर दीपक की वेदना और निरन्तर कणो मे बहती हुई ज्योति का रूप धारण कर लेता है, और तन्मय होकर, जीवन-दीप होकर, जीवन की जलन और ज्योति का अनुभव करता है । प्रत्येक अलकार सादृश्य की खोज के द्वारा अस्पष्ट अनुभूति को प्रत्यक्ष करके रसिक के हृदय में तन्मयता का सुख उत्पन्न करता है । अलकार का मनोवैज्ञानिक आधार 'अन्तर्भावनात्मक' प्रवृत्ति है । 'मुख-कमल' के अनुभव मे प्रेयसी के मुख का माधुर्य और कमल की सुकुमारता और सौरभ सम्मिलित है जिससे यह अनुभव इतना प्रकृष्ट, मनोहर और रसास्वादन के योग्य हो जाता है । कालिदास की वल्कल पहने हुए वनवासिनी शकुन्तला के सौन्दर्य का अनुभव 'शैवल से अनुविद्ध सरसिज' और 'कलङ्क से अङ्कित हिमाशु' के सादृश्य से कितना प्रकृष्ट हो जाता* है, इसे सहृदय रसिक समझता है ।

(6)

एक दृष्टि से हम साहित्यिक सौन्दर्य के दो माध्यम स्वीकार कर सकते हैं;

---

*सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्यं,–मलिनमपि हिमाशों र्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति । अभिज्ञानशाकुन्तलम्

पहला श्रुत शब्द और दूसरा अश्रुत अथ। यह सौन्दय दोनो माध्यमो के 'साहित्य' से मूर्तिमान् होता है। अत हम यहाँ सौन्दर्य की शब्द मूर्ति और अर्थ-मूर्ति दोनो मानते हैं। उत्तम साहित्य मे इन दोनो मूर्तियो मे विलक्षण सामञ्जस्य होता है अथ मूर्ति का सौन्दय और रूप शब्द मूर्ति को अधिक मनोहर बना देता है और शब्द मूर्ति अथ के लिये उचित आकार प्रदान कर उसे और भी प्रकृष्ट बना देती है। हम साहित्य मे 'रूप' का अध्ययन करने के लिये इन दोनो को पृथक् पृथक् और सहित भी लेगे, यद्यपि शब्द का अर्थ से पृथक्करण वस्तुत सम्भव नही होता। इस प्रकार हम शब्द के रूप अथ के रूप और शब्दार्थ साहित्य के रूप का अध्ययन करेंगे।

शब्द की विशेष योजना से शब्द मूर्ति का आविर्भाव होता है। शब्द अक्षरो के विन्यास से बनते हैं। अक्षर कोमल अथवा कठोर, मधुर अथवा कटु, अल्प-प्रयत्न-साध्य अथवा महा-प्रयत्न-साध्य, द्रव अथवा कठोर ध्वनि वाले होते हैं। अक्षरो के इन गुणो से शब्दो मे भी कोमलता माधुय आदि गुण उत्पन्न होते हैं। सम्भव है शब्द के माधुय आदि गुणो का प्रभाव उसकी अर्थानुभूति पर पडता हो। किन्तु शब्दो के वि यास से जिस मूर्ति का जन्म होता है, उसमे इन ध्वनियो का प्रभाव अवश्य रहता है। इससे वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली आदि शैलियो का जन्म होता है। हम इन पर विचार न करके केवल शब्द मूर्तियो के उन भेदो पर ध्यान देगे जिनके साथ अर्थ का भी सामञ्जस्य हो जाता है। इस प्रकार की शब्द-मूर्तियाँ तीन हो सकती हैं एक मधुर, दूसरी प्रसन्न और तीसरी ओजस्विनी। शब्दाथ की इन मूर्तियो मे हम माधुर्य, प्रसाद और ओज गुण मानते है। इसके अतिरिक्त दण्डी, वामन आदि कवि-पण्डितो ने शब्द बन्धो के अनेक गुणो का उल्लेख किया है।

शब्दमूर्ति के भेदो मे गद्य और पद्य दो व्यापक भेद है। गद्य मे शब्द-विन्यास भावना अथवा विचार की लय के अधीन रहता है अर्थात् विचार का प्रवाह, स्फूर्त्ति, गति और गुण शब्द की गति, वाक्य के आकार, विस्तार को अपने अनुसार बना लेते हैं। इसी कारण गद्य मे वाक्य स्वच्छन्द होता है। किन्तु पद्य मे छन्द का प्रयोग होता है, क्योकि वहाँ भावना अथवा विचार शब्द-विन्यास के अधीन होता है। गद्य और पद्य के भेद को हम यो भी कह सकते हैं कि गद्य मे अर्थ-मूर्ति का प्राधान्य शब्द-विन्यास के ऊपर होता है और पद्य मे शब्द मूर्ति अर्थात् छन्द का अधिकार और गौरव रहता है। साहित्य के गद्य-रूप मे विचार अथवा भावना के गौरव का कारण उसका सौन्दर्य शब्दो की गति और लय के विचाराधीन होना है। यदि गद्य विचारो के ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि का अनुसरण करता है और उनके अधीन रहकर उनकी दीप्ति को बढ़ाता है अर्थात् मधुर विचारो के अनुसार भाषा भी मधुर, कोमल, अल्प प्रयास-

साध्य हो जाती है तो वह गद्य सुन्दर कहलाता है। पद्य मे छन्द का प्रयोग विचार के प्रवाह को अपने अधीन रखता है। छन्द मे सगीत का रूप निहित है। अतएव साहित्य की छन्दोमयी मूर्ति जिसे हम पद्य कहते हैं अपने 'सगीत' के कारण विचारो को और भी मार्मिक बना देती है अथवा, यह कहा जाये कि पद्य अपने छन्दोमय रूप के बल से 'अथ' को पिघला कर उमे भी सगीत सा प्रिया बना देता है। यह मानना होगा कि छन्द मे शक्ति है और इसका प्रयोग विश्वव्यापी है। इसका कारण यह है छ द शब्द का सगीतमय रूप है जिसमे हमारे समझने योग्य विचारो और भावो को रसीकरण (Emotionalization) करने की विलक्षण सामथ्य होती है।

साहित्य मे अथ भी रूपवान् होता है। नाटक का य, कहानी, उपन्यास, आख्यान, निबन्ध, चरित्र-चित्रण, पत्र आदि अनेक साहित्यिक मूर्तियाँ हैं अर्थात अर्थ के अनेक व्यक्त रूप हैं। साहित्यकार कल्पना के बल से अपने मनोगत अर्थो की सगति सतुलन और सापेक्षा आदि नियमो को स्वीकार करने वाली योजना करता है। इस विन्यास से 'रूप' का उदय होता है। 'रूप' की परिभाषा के अनुसार इसम अनेक की एकता होनी चाहिये। साहित्य की अथ स गठित मूर्ति मे जिसे नाटक, उपन्यास आदि कहा जाता है अनेक भावनाएँ, विचार, समाज की रूढिया, रुचि और सामूहिक जीवन की प्रेरणा, उपेक्षा और आकाक्षा, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियाँ जन-जीवन के तल मे तरङ्गित वासनाएँ, निराशाए और अवसाद तथा उल्लास आदि अनगिन अनुभूतियाँ रहती है। इनको मूत्त रूप देने के लिए साहित्यकार कल्पना के बल से चरित्रो का सृजन करता है। प्रत्येक चरित्र काल्पनिक होते हुए भी कलाकार की सत्य अनुभूति को वहन करने के कारण सत्य और साथ ही सुन्दर भी होता है। ये चरित्र कलाकार के जीवन से जीवन और प्राणा से प्राणो की सवेदना लेकर अपने स्वरूप के अनुसार व्यवहार करते हैं, बोलते है, प्रेम द्वेष करते हे, सघष और आन्दोलन मे भाग लेते है। उस समय घटनाएँ घटती हैं, भाग्य के विधान पूरे होते है, कभी हर्ष, कभी विषाद, कभी विनाश और कभी विकास होता है। इस प्रकार कलाकार अपनी कल्पना के सचार की सृष्टि करता है और इसमे हमारे वास्तविक ससार से भी अधिक स्वाभाविक सत्य का उद्घाटन होता है। यह कलाकार की कल्पनामय सृष्टि 'कथावस्तु' कहलाती है। यह दु खान्त और सुखान्त हो सकती है, इसमे किसी एक रस अथवा सिद्धान्त अथवा विचार-शैली की प्रधानता हो सकती है। इस कथावस्तु द्वारा साहित्य की अर्थमयी मूर्ति को अनेक की एकता-स्वरूप 'रूप' प्राप्त होता है।

कथावस्तु साहित्य की अथमयी मूर्ति है जिसमे अनेक अर्थों का विन्यास होता

है, जैसे घटना, चरित्र, भावना, दार्शनिक अथवा नैतिक विचार, आदि। किन्तु लेखक के मन्तव्य के अनुसार यह कथावस्तु स्वय नाटक, आख्यान, उपन्यास आदि का विशेष रूप धारण करती है। हम इनमे से प्रत्येक 'रूप' का अलग अलग विश्लेषण न करेंगे। इनके रूपो मे साधारणतया 'विकास' का पालन किया जाता है अर्थात् इनका प्रारम्भ एक विशेष वातावरण मे 'बीज' से होता है। यह 'बीज' कोई चरित्र, घटना अथवा परिस्थिति होती है और वातावरण समाज, किसी का व्यक्तिगत जीवन अथवा काल्पनिक लोक होता है। अनुकूल वातावरण मे बीज उगता है और शनै-शनै अन्य घटनाओ के रूप मे यह बीज पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। प्रारम्भ से अन्त तक अथवा बीज-प्ररोह से इसके पूर्ण विकास तक इसमे एक ही भावना विचार अथवा सिद्धान्त की ध्वनि ओत-प्रोत रहती है, जैसे सम्पूर्ण रामायण मे आदर्श मानवता का परस्पर और दानवता के साथ सघर्ष की व्यापक भावना है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक, उपन्यास आदि मे वातावरण, विकास और व्यापक भावना द्वारा एकता प्राप्त होती है। निम्न कोटि के साहित्य मे इस एकता का अभाव रहता है, अर्थात इसमे 'रूप' विरूप होता है। स्मरण रहे कि सभी कलाओ की भाति साहित्य मे भी 'रूप' का आस्वादन किया जाता है।

साहित्य मे तीसरे प्रकार का 'रूप' शब्द और अथ दोनो के साहचर्य से उत्पन्न होता है। वस्तुत साहित्य का सौन्दर्य शब्दाथ के 'रूप' मे निहित रहता है। इसमे सबसे उत्कृष्ट 'रूप' गीत्यात्मक गीति-स्वरूप, Lyrical कहलाता है। इसमे साहित्यकार अपने हृदय के भावो और आर्द्र अनुभूतियो को जैसे प्रेम, उत्ताप, पश्चात्ताप, निवेदन, यहाँ तक कि दाशनिक विचारो को जो भावना से भावित हो गये हो, कथावस्तु के आधार पर और इसके बिना भी, साधारणतया छन्दोबद्ध किन्तु कभी गद्यमयी मूर्ति, प्रदान करता है। इस परिभाषा के द्वारा हम मेघदूत, भर्तृहरि के शतक, गीतगोविन्द, विनय-पत्रिका उद्धवशतक, वर्तमान युग के पन्त, निराला, महादेवी वर्मा तथा अग्रेज कवियो मे वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स, बायरन आदि की कृतियो को समझ सकते हैं। ससार के साहित्य मे गीति-काव्य मे काव्यात्मकता सबसे अधिक होती है। इसके आस्वादन मे हृदय भाव-प्रवण होता है और अपने हृदय के भावोद्रेक से सर्वाधिक प्रभावित होता है। गीति-काव्य के अतिरिक्त काव्यात्मकता साहित्य के अन्य रूपो मे भी होती है। सत्य तो यह है यह साहित्य का व्यापक गुण है, और, अधिक या कम, काव्यात्मकता सभी स्थलो पर विद्यमान रहती हैं क्योंकि इसमे चित्त को द्रवित और हृदय को भाव-प्रवण बनाने की शक्ति होती है।

साहित्य मे दूसरा रूप महा-काव्य (Epic) कहलाता है। इसमे नायक की

प्रधानता रहती है । वह नायक दिव्य, लोकोत्तर लोक का निवासी होता है, अपने चारो ओर लोकोत्तरता का वातावरण रखता है, उसकी शक्ति, सौन्दय, बुद्धि और भावना इतने उत्कृष्ट और उदात्त होते हैं कि साधारण-जन उन पर मुग्ध होता है, आकर्षित होता है, लुभा जाता है, किन्तु पा नही सकता, और इसीलिये वह श्रद्धा, भक्ति और भय के साथ उसके लिये झुकता है । महाकाव्य के इस रूप को सामने रख कर हम रामायण, महाभारत, पैरेडाईज लौस्ट आदि महाकाव्यो के रूप को समझ सकते हैं । लोकोत्तरता, चरित्र की उत्कृष्टता और घटनाओ की आश्चर्य उत्पन्न करने की शक्ति, इसके मुख्य गुण होते हैं जिनके कारण वाचक अपने लौकिक स्तर से उठकर अलौकिक लोक का प्राणी हो जाता है । वह स्वय वीर का उपासक हो जाता है, परन्तु वीर नही बनने पाता ।

साहित्य-सौन्दर्य का तीसरा रूप 'रहस्य' कहलाता है । इसमे अध्यात्म तत्त्वो की कल्पनामय, भावनामय प्रकृष्ट अनुभूति होती है । इसमे साहित्यकार योगी होता है और हमारे साधारण लोक से विलक्षण, वैराग्य के वैभव से सम्पन्न, प्रेम की दिव्य-ज्योति से प्रकाशमान्, उपासक और उपास्य, जीव और ब्रह्म के मिलन की अनुभूति से दीप्त तथा इस मिलन की आशा और निराशा, मिलन-वेला के आह्लाद, प्रीति की मधुर वेदना से तरङ्गित, ऐसे दिव्य-लोक की वह सृष्टि करता है । यह रहस्य (Mysticism) उपनिषद्, कबीर, ठाकुर और सूफी कवियों के साहित्य-सौन्दय का रूप है । इस साहित्य मे शब्द बहुत सरल, छन्द स्वाभाविक और अर्थ हमारे लौकिक जीवन की घटनाओ को प्रकट करते हैं, किन्तु इन शब्दों और अर्थों की पृष्ठ भूमि मे अध्यात्म लोक का आलोक, आत्म तत्त्व का साक्षात्कार, आध्यात्मिक घटनाओ का क्रम और सगीत का वह मर्म भेदी स्पर्श होता है कि सहृदय पाठक अपने आपको स्वय रूपान्तरित पाता है, उसे अपने ही अन्तर मे अध्यात्म-लोक की चेतना, उसकी अनन्तता, दिव्यता, असीम आनन्द की अनुभूति होती है । यह वह आनन्द है जिसे अमेरिकन विद्वान् विलियम जेम्स Music of the Vedanta अर्थात् वेदान्त के सगीत से उत्पन्न हुआ मानता है । यह सौन्दय का वह रूप है जिसे शोपेनहावर आदि दार्शनिक कला का सच्चा सौन्दय स्वीकार करते हैं, जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'प्रेम का सौन्दर्य' कहते हैं, जिसे सूफी 'कन्त मिलन' और कबीर वैराग्य का वैभव मानते हैं । रहस्य के रूप को बिना समझे हम साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अग को न समझ सकेंगे ।

(7)

ऊपर हमने साहित्य मे शब्द, अथ और शब्दार्थ की विभिन्न मूर्तियों अथवा

रूपो का विचार किया है। किन्तु इतने से हम 'रूप' की सीमा नही कर सकते। कवि अपनी सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा नवीन रूपो की सृष्टि करता है। शब्द की मूर्तियो मे नवीन छन्द रचे जाते हैं और शब्द मे सगीत की लय और तन्मयता का प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। अर्थ की अनन्त मूर्तियो मे सामग्री के चयन, सकलन और गठन द्वारा, वातावरण की नवीनता, विकास की सरलता और व्यापक भावना की उदारता आदि के द्वारा नित्य नवीन नाटक, उपन्यास, गल्प आदि की सृष्टि होती है। साहित्य अथवा शब्दार्थ के साहचर्य से उत्पन्न रूप के भी अनेक रूप होते है, यद्यपि इन रूपो मे मूल-तत्त्व तीन ही हो सकते हैं जिनको हमने गीत्यात्मकता (Lyricism), महाकाव्यत्व (Epic) और रहस्य (Mysticism) कहा है। ऐतिहासिक प्रवृत्तियो के कारण दो और सुन्दर रूपो का उदय होता है जिन्हे रिंरिसात्मक काव्य (Romantic) और सम्पुष्ट काव्य (Classical) कहा जाता है। रिंरिसात्मक काव्य अथवा रमणीय काव्य मे काव्यात्मकता बहुत अधिक रहती है और महाकाव्यत्व बहुत थोडा। रमणीय कला मे सौन्दय का रोचक और भावना-प्रवण रूप रहता है, क्योकि यह कला इतिहास के उस काल मे उदय होती है जब एक ओर 'पुरातन' के प्रति घोर विद्रोह-भावना और नवीन तथा बहुधा आदर्श भविष्य की कल्पना उद्दीप्त होती हैं। रमणीय कला का ऐतिहासिक काल ही जन-जीवन मे भावना की उद्दीप्ति का काल होता है, और समाज अन्तर्मुखी होकर अपने आधारो, विश्वासो, रूढियो, सस्था और व्यवस्थाओ की समालोचना करता है। उस समय नवीनता के लिये प्रवृत्ति जाग्रत होती है और साहित्य, कला और समाज के सभी क्षेत्रो मे नवीन रूपो और व्यवस्थाओ का आविर्भाव होता है। इतिहास का साहित्य से यही सम्बन्ध है कि उद्दीप्त भावना का इतिहास-काल साहित्य मे नवीन रूपो की सृष्टि करता है। ये रूप भावना-प्रवण होते हुए भी अपरिपक्व होते है। जब समाज मे नवीन व्यवस्थाओं का निर्माण हो चुकता है और इतिहास मे शान्ति युग का प्रसार होता है तो साहित्य के नवीन रूपो को परिष्कृत और परिपुष्ट किया जाता है। इससे रमणीय सौन्दर्य मे भावना का परिपाक और रूपो मे परिष्कार होने के कारण एक नवीन साहित्य जिसे हम सम्पुष्ट काव्य (Classical) कहते हैं उदित होता है। यह कला का और जिस समाज की सृजनात्मक प्रतिभा से कला का जन्म होता है सुवर्ण युग होता है। इस युग का अवसान उस समय होता है जब राष्ट्रीय शक्ति क्षीण होती है, सस्थाएँ और सामाजिक व्यवस्था रूढ हो जाती हैं, कलाकार और साहित्यकारो की कल्पना, नवीन रूपो को उत्पादन करने की शक्ति शिथिल हो जाती है। नियम और अनुशासन के कठोर बन्धन ही उस कला को नष्ट कर देते

हैं जिस कला से इन नियमो का उदय हुआ था। इस समय शास्त्रीय साहित्य और कला (Canonical या Conventionatized art) की रचना होती है। कलाकार पण्डितो के आदेश का दास की भाँति पालन करता है। यह ह्रास का युग होता है जब भावना का स्थान वासना, रूप का स्थान अलकार, सृजन का स्थान अनुकरण, ले लेते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य मे तीन रूप देखने को मिलते है। रमणीय, सम्पुष्ट और शास्त्रीय जिन्हे अंग्रेज विचारक क्रमश Romantic, classical और cononical कहते हैं।

संगीत

सगीत मे सौन्दर्य का आधार स्वर है। स्वर का मूल नाद या ध्वनि है। कुछ ध्वनियां स्वभावत मधुर होती हैं और उनका चित्त द्रावक प्रभाव होता है। इसका वैज्ञानिक कारण जो भी हो, ध्वनियो का माधुर्य और चित्त द्रावक प्रभाव जीवन मे व्यापक रूप से विद्यमान हैं, यह हमे मान्य है। मधुर ध्वनियो मे क्रमिक उतार चढाव या आरोह-अवरोह का तारतम्य रहता है, यह भी हमे मान्य है। इस तारतम्य के कारण ये ध्वनि नीचे से ऊपर तक एक सीमा के भीतर ही रहती हैं। गायको ने नीची सीमा से लेकर ऊपरी सीमा तक के तारतम्ययुक्त ध्वनि-प्रवाह को खण्डो मे विभाजित किया है। हमारे देश मे ये खण्ड 'श्रुति' कहलाते हैं और इनकी सख्या 22 मानी जाती है। अन्य देशो मे भी प्राचीन काल से लेकर अब तक मधुर नाद-प्रवाह को खण्डश समझने का प्रयत्न होता रहा है और इन खण्डो की सख्या भी पायथोगोरस के अनुसार 55 और आधुनिक विश्लेषण प्रधान विज्ञान के अनुसार सैकडो हैं। इस गणित से हमारा विशेष प्रयोजन नही है। साधारण मनुष्य इन श्रुतियो (Microtonal intervals) को नाद के आरोह और अवरोह मे स्पष्ठ समझ भी नही सकता, यद्यपि भारतीय कलाकारो मे प्रत्येक ध्वनि-खण्ड अथवा श्रुति को एक पृथक् नाम दिया है। इन 22 श्रुतियो के आरोह मे कुछ स्थल ऐसे हैं जहां एक श्रुति अपनी पिछली और अगली श्रुति से स्पष्ट सुनाई देने लगती है, इतनी स्पष्ट कि हम इनके भेद को कान से पृथक् समझ सकते हैं। इन स्पष्ट श्रुतियो को शुद्ध स्वर कहा जाता है जिनकी सख्या 7 है। इनमे पहला स्वर षडज और अन्तिम स्वर निषाद कहलाता है। इन सातो शुद्ध स्वरो के प्रथमाक्षर सा, री, ग, म, प, ध, नि है जिनसे इनका नाम निर्देश किया जाता हैं। इसमे सा और प स्वर अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत नही होते, किन्तु री, ग, ध, नि ये कोमल हो जाते हैं और प अपने शुद्ध स्वर से तीव्र हो जाता है। ये पाच विकृत स्वर कहलाते हैं जिन्हे भी सात शुद्ध स्वरो की भांति पृथक सुना जा सकता है। कुल मिलाकर 12 स्वरो से सगीत की योजना होती है। ये बारह स्वर मन्द्र, मध्यम और तार ध्वनि मे गाये या

बजाये जा सकते हैं । बारह स्वरो के आरोहयुत्त ध्वनि-समुदाय को एक सप्तक माना जाता है । भारतीय सगीत मे ये सप्तक मन्द्र, मध्यम और तार, ये तीन स्थान रखते हैं । मनुष्य अपने कण्ठ से इन्ही ध्वनियो को उत्पन्न कर सकता है । किन्तु योरोप मे कई वाद्य ऐसे हैं जिनसे नौ या दस सप्तक तक भी आरोह किया जा सकता है । 11 सप्तको की सम्भावना अभी तक की जा सकी है ।

ये स्वर सगीत की वर्णमाला हैं जिनके विविध विन्यास से 'जन-चित्त का रञ्जक' राग उत्पन्न होता है । इन विन्यासो के अनेक शास्त्रीय नियम है जिनसे 'सगीत के व्याकरण' का उदय होता है । सगीत जितना ही सरल और मधुर है यह व्याकरण उतना ही जटिल और कष्ट-साध्य है । गायक इसके लिये कठोर साधना करता है । रसिक के लिये इसका बोध अनिवाय नही, लाभ-प्रद अवश्य है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी भाषा का व्याकरण उसके साहित्य के सौन्दय का आस्वादन करने के लिये अनिवाय नही होता । हम अपने ग्रन्थ मे सगीत के व्याकरण का अधिक उल्लेख न करके, इसके सौन्दय के सम्बन्ध मे कई प्रश्न का उत्तर पाने का प्रयत्न करेंगे । पहला प्रश्न है सगीत मे सौन्दय का क्या स्वरूप है ?

(2)

सौन्दय मे भोग, रूप और अभिव्यक्ति तीनो तत्त्वो का समावेश होता है । सगीत मे हम ध्वनि या नाद का भोग करते हैं । नाद मे भी भोक्ता मधुर और चित्त द्रावक नाद को ग्रहण करता है । नाद सगीत का 'कालिक' माध्यम है यह काल-प्रवाह की भांति क्रमश अर्थात् एक के उपरान्त एक आता और जाता हुआ, बहता हुआ ग्रहण किया जाता है । कालिक माध्यम वाली कला मे प्रवाह के कारण भोक्ता भी 'तन्मय' होने से प्रवाह का रूप धारण करता है । अतएव सगीत का सर्व-प्रथम प्रवाह श्रोता के ऊपर यह होता है कि वह अपनी स्थिर, जड वृत्तियो को प्रवाहशील ध्वनि के बल से छोडने को बाध्य होता है । इसमे शरीर का भान सर्वाधिक स्थित वृत्ति लाता है, इसी प्रकार स्मृतियाँ, चिन्ता, उद्वेग तथा अन्य मानसिक तनाव उत्पन्न करने वाले आवेग, जटिल भावना ग्रन्थियाँ, ये सब चित्त में जडता उत्पन्न करते हैं । कुछ जडता काय के लिये उपयोगी होती है, किन्तु सगीत के आस्वादन मे 'कार्य' की प्रवृत्ति स्थगित हो जाती है । इस प्रवृत्ति के स्थगित होने से जीवन का विरोध करने वाली जडता का स्वरो के प्रवाह से निराकरण होता है । सगीत के प्रवाह से जीवन अपने स्वाभाविक 'प्रवाह' के रूप मे फिर से लौट आता है । जीवन को जड, कठोर और स्थिर बनाने वाले सम्पूर्ण आवेग और वृत्तियाँ स्थगित

हो जाने से जीवन मे स्वर का प्रवाह, इसका नादमय सौन्दर्य, इसकी तरलता और लय आदि गुण रसिक की आत्मा को रसमय बना देते हैं।

सगीत मे स्वरमय माध्यम कालिक होने के कारण इस के दो प्रभाव हमे स्पष्ट हो जाते हैं क निषेधात्मक फल है कि जीवन के सभी स्तरो मे से अर्थात् शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, भावनात्मक स्तरो मे से जडता और कठोरता को निराकरण। ख विधानात्मक फल है कि जीवन मे स्वर-प्रवाह का आरोप और आविर्भाव। इन दोनो प्रभावो को प्रवाहशील सगीत का नाद उत्पन्न करता है। यदि सगीत किसी समय इसे उत्पन्न नही कर पाता तो या तो सगीत स्वय निर्बल और असुन्दर होता है या श्रोता की मानसिक अवस्था मे अत्यधिक जडता है जिसे वह त्यागने को प्रस्तुत अथवा समर्थ नही है। सगीत के इन प्रभावो मे इसकी शक्ति का रहस्य है।

नाद अत्यन्त कोमल और मधुर माध्यम है जिससे इसमे असख्य प्रकार के विन्यास किया जाना सम्भव है। स्वरो के विन्यास से सगीत मे 'रूप' का उदय होता है। यह रूप दृश्य नही, श्रव्य होता है, किन्तु इसमे रूप के सम्पूर्ण गुण विद्यमान होते हैं, जैसे स्वरो का सन्तुलन जिसके कारण एक स्वर दूसरे स्वर की अपेक्षा नही करता, बल्कि अपेक्षा रखता है। सम्पूर्ण स्वर-विन्यास मे कोई भाग अधिक या न्यून न होकर एकता का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार स्वर-सामञ्जस्य तो सगीत का प्राण है। इसका अर्थ है कि एक स्वर अपने प्रभाव से दूसरे के प्रभाव को निबल न करके उसे और भी तीव्र बनाता है। वह स्वर-सन्दोह जिसमे स्वरो का न केवल परस्पर समानुपात हो, प्रत्युत उनमे अनेक की एकता और एकता भी इस प्रकार की कि प्रत्येक स्वर अपने वैभव और माधुय से सम्पूण सन्दोह को वैभव-सम्पन्न और मधुर बनाये, सगींत मे रूप कहलाता है। रूप के इन गुणो को ही हम सापेक्ष, सन्तु-लन और सगति के नाम से पुकारते हैं। ये गुण सगीत मे 'रूप' का निर्माण करते हैं।

(3)

रूप के गुणो मे 'सगति' का विशेष महत्त्व है। किसी स्वर का प्रभाव हृदय को द्रवित करना, उसकी जडता को मिटा कर अपने स्वरूप का आरोप करना होता है। इसी प्रकार दूसरे स्वरो का भी प्रवाह होता है। किन्तु प्रत्येक स्वर अपना अलग व्यक्तित्व रखता है जिसके कारण इसका प्रभाव भी भिन्न रहता है। सगीत मे 'रूप'

के उदय के लिये स्वरो का विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि इनका सम्मिलित प्रभाव एक हो सके, जिसके लिये आवश्यक है प्रत्येक स्वर अपने प्रभाव से, अपनी मधुरता और द्रावक शक्ति से, 'सम्पूण' के प्रभाव को और भी अधिक प्रखर बना सके। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि हम विरोधी प्रभाव को उत्पन्न करने वाले स्वरो का एक 'रूप' के निर्माण मे उपयोग न करें। स्वरो की इस योजना से सगीत के रूप मे 'सगति' (Harmony) का उदय होता है।

सगीत के रूप मे एक विशेषता है जो अन्य 'रूपो' मे इतनी स्पष्ट नही होती। वह यह कि इसमे 'लयात्मक गति' तीव्र होती है। नाद में गति तो होती ही है, किन्तु यह गति नियमित होती है, इसमे आरोह और अवरोह का क्रम, विस्तार आदि विशेष विधानो से नियत किया जाता है। स्वरो की स्वच्छन्द गति को छन्द में बाँधकर इसके उत्थान और पतन मे 'लय' उत्पन्न किया जाता है। नाद के प्रभाव से चित्त तो द्रवित पहले ही हो जाता है, जीवन को जड बनाने वाले बन्धन तो पहले ही दूर हो जाते हैं, अब 'रूप' के सन्तुलित, सगतियुक्त गति के आविर्भाव से जीवन के बहाव मे 'लय' उत्पन्न होता है। श्रोता स्वय सगीत बन कर सगीत का रसास्वादन करता है। तब तो उसके जीवन मे सगीत का लय, उसका उन्मुक्त प्रवाह, नाद का माधुर्य और द्रावकता, आदि उदय होकर 'सगीत' के सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करते हैं।

सगीत मे सौन्दर्य के लिये 'सगति' पर्याप्त है। पाश्चात्य सगीत ने इसके विकास के लिये विशेष प्रयत्न किया है और 'सगति' को परिष्कृत, पुष्ट और सूक्ष्म बना दिया है। सगति मे यदि हम 'लय' अथवा स्वरो के उत्थान-पतन पर विशेष ध्यान न दें तो केवल प्रत्येक स्वर और उसके अन्य स्वरो से सम्बन्ध के प्रश्न को महत्त्व दिया जा सकता है। शुद्ध सगति के लिये 'लय' अनावश्यक सिद्ध हो सकता है। यही पाश्चात्य सगीत ने किया है। हम स्वरो का सगतिमय विन्यास इस प्रकार करते हैं कि एक स्वर अपने प्रभाव से सम्पूर्ण स्वर-सन्दोह के वैभव और प्रभाव की वृद्धि करे। यदि प्रत्येक स्वर का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाये तो इसमे कुछ तरग की प्रति सैकिण्ड गणना और प्रति तरङ्ग की लम्बाई होती है जिन्हें विज्ञान क्रमश Pitch और amplitude कहता है। यदि स्वरो का क्रम गणित के नियमो के अनुसार अर्थात् वायु-तरगो की गणना और विस्तार के आधार पर निश्चित किया जाये तो सगति का गणित-प्रधान रूप प्राप्त होता है। इस सगति के लिये यदि हम गणित के नियमो का पालन करते रहे अर्थात् एक स्वर का दूसरे से सम्बन्ध उनकी वायु तरगों की गणना के अनुसार समझते रहे तो यह भी आवश्यक नहीं कि यह सगति हमे 'रोचक' ही

लगे। इस प्रकार लय और रोचकता का निराकरण करके शुद्ध सगति का विकास पाश्चात्य सगति की ससार के लिये देन है। यह सगीत शुद्ध गणित की भाँति है।

यदि हम सगीत मे सगति पर ध्यान दें किन्तु उस सगति पर जितना निश्चय गणित नही, हमारी सगीत रुचि स्वय करे और साथ ही 'लय' पर विशेष ध्यान दें, उसकी गति मे प्रत्येक स्वर के माधुर्य और द्रावकता को उद्दीप्त करे जिससे वह वैज्ञानिक नियमो की खोज करने वाली बुद्धि को चकित करे, साथ ही रस-ग्राही हृदय को अद्‌भुत शान्ति दे और जीवन को सगीत की लयात्मक गति और स्वर का वैभव प्रदान करे, तो उस समय सगीत मे एक और गुण का उदय होता है जिसे भारतीय पण्डितो ने 'राग' अथवा melody कहा है। भारतीय सगीत ने 'राग' प्रधान रूप का विकास किया है। राग मे स्वरो के गणित प्रधान-रूप अथवा सगति पर इतना बल नही दिया जाता जितना उसके जीवन मे 'लय' उत्पन्न करने की शक्ति पर दिया जाता है। प्रत्येक राग मे चित्तरञ्जकता उसका प्राण है। राग मे चित्त रञ्जन चित्त लय से होता है। यह चित्तलय स्वरो की गति से उत्पन्न किया जाता है। यदि सगीत बन कर ही सगीत का आस्वादन किया जाता है तो राग रसिक को दृश्य और स्थूल जगत् से दूर स्वरो के सगतियुक्त चेतन, सूक्ष्म और श्रव्य जगत् मे ले जाता है। जड को चेतना मे, स्थूल को सूक्ष्म मे, दृश्य को श्रव्य मे अपने रूप के प्रभाव से परिवर्त्तन करके, राग चित्त-रञ्जन उत्पन्न करता है। इस प्रकार का चित्त-रञ्जना प्रधान स्वर-विन्यास राग कहलाता है। राग सगीत का परम रूप है।

(4)

सगीत की रागात्मकता पर और भी बल देने के लिये भारतीय पण्डितो ने सगीत की परिभाषा मे नृत्य, वादित्य और गायन का समावेश किया है। सगीत की रञ्जना शक्ति नृत्य, वादन और गायन के सम्मिलित प्रयोग से और भी प्रखर होती है। इनमे नृत्य के रागात्मक प्रभाव को मनुष्य और स्त्री अपने शरीर की गति से उत्पन्न करते हैं। मनुष्य की गति मे शक्ति और ओज का प्राधान्य रहता है। इसलिये इसके नृत्य से उत्पन्न हुए प्रभाव को 'ताण्डव'* कहा जाता है। हम इस नृत्य को ही ताण्डव कहते हैं। स्त्री की गति मे सुकुमारता का विशेष प्रभाव रहता है। उसे 'लास' कहा जाता है। ताण्डव और लास के भेदो मे प्रभावो की भिन्नता पर ध्यान अवश्य दिया गया है। किन्तु इनमे गति के रूप और विन्यास के नियम

*वैसे इसका सम्बन्ध तण्डु नामक ऋषि से है, सम्भव है तण्डु ने सब से पहले यह नृत्य किया हो।

और प्रभाव समान ही हैं। हम पहले सक्षेप मे नाट्याचार्य भरत के नृत्य-दर्शन का अध्ययन करेंगे।

भरत ने स्पष्ट ही कला के दो रूपो को लिया है एक वह रूप जिसमे गति अथवा स्वर अपने प्रभाव से सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करते है दूसरा वह जिसमे गति और स्वर विशेष मानसिक अवस्थाओं और भावो की अभिव्यन्जना द्वारा सौन्दर्यास्वादन कराने मे समर्थ होते हैं। हम दूसरे प्रकार की कला की अगले प्रकरण मे लेंगे। नृत्य और गायन आदि का शुद्ध रूप वह है जिसमे स्वर अपने अतिरिक्त कोई अर्थ का द्योतन नही करते। नृत्य का माध्यम गति है जो मनुष्य अपने शरीर के द्वारा व्यक्त करता है। गति मे लय' होता है, क्योकि 'गति' स्वर की भाँति कालिक माध्यम है। दाशनिको ने 'गति' के अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और वे इस निणय पर पहुँचे हैं कि गति स्थिरता की अपेक्षा सदा अधिक आकषक होती है। स्थिर जल की अपेक्षा जल-प्रवाह हमे अधिक रुचता है। इसकी रोचकता का कारण यह प्रतीत होता है कि गति का अनुभव करने मे मानव-जीवन मे गति का उदय होता है, जिसके कारण इसकी जडता का निराकरण होता है। यदि गनि मे लय भी विद्यमान हो, उसमे सगति, सापेक्ष और सन्तुलन भी हो तो गति द्वारा एक 'रूप' का अनुभव भी उत्पन्न किया जा सकता है। यह रूप सगीत की भाँति ही सुन्दर होगा। 'गति' हमारे साधारण अनुभव मे सूक्ष्म रहती है। इसमे 'रूप' का प्रादुर्भाव तो होता है, परन्तु इतना स्पष्ट नही कि हम साधारणतया उसको हृदयगम कर सके। अतएव गति के द्वारा उत्पन्न 'रूप' मे गायन और वादन के अनुकूल 'स्वरो द्वारा मूर्त्त' ध्वनिमय रूप भी उत्पन्न किया जाता है। स्वरा के नादमय रूप से गति का सूक्ष्म रूप स्पष्ट हो जाता है, और गति के रूप से स्वरो के रूप मे गति तीव्र हो जाती है। इस प्रकार दोनो के योग से सौ दय का लयात्मक, मूर्त्त रूप प्रकट होता है, जिसे हम 'सगीत' कहते हैं।

सगीत मे गायन, वादन और नृत्य के सम्मिलित प्रभाव को स्वीकार करके भारतीय विचारको ने सौन्दर्य की अनुभूति मे 'लय' को विशेष महत्त्व दिया है। शुद्ध नृत्य केवल गति का प्रवाह है। इस गति का शुद्धतम रूप भी हम नदियो के प्रवाह मे पाते हैं। मनुष्य के शरीर मे जब गति मूर्तिमती होती है तो उसके आध्यात्मिक जगत् की अभिव्यक्ति स्वय ही होने लगती है। तब भी यदि रसिक केवल गति और इसकी तरलता, सगति और सन्तुलन का अनुभव करना चाहता है तो वह केवल इसी पर ध्यान दे। यह कठिन होगा, इसलिये राग द्वारा वह गति की शून्यता मे लय

को और स्पष्ट करता है। इस प्रकार राग का नृत्य के साथ अन्योन्य सम्बन्ध हो जाता है, जिससे सौन्दय का पूर्ण और शुद्ध लयात्मक रूप उत्पन्न होता है। कई दाशनिको ने इसी कारण से सगीत को शुद्ध कला माना है। इसके अतिरिक्त सभी कलाए अपने माध्यम के द्वारा अनेक अभिप्रायो और भावो को व्यक्त करने के कारण 'साहित्य' हो जाती है, जिसमे शब्द और अर्थ की द्विविधता आ जाती है।

(5)

सगीत के शुद्ध रूप को हृदयगम करना कठिन होता है, क्योंकि उसमे हम किसी अर्थ, अभिप्राय, भाव या कथानक का लेश मात्र भी नही पा सकते। हमारी बुद्धि कोई स्थूल वस्तु वहाँ न पाकर कुंठित हो जाती है। अतएव सगीत के विकास मे शुद्ध रूप से पहले उसका मिश्रित रूप उदय हुआ, और, आज भी सगीत की 'लय' मे हम अनेक भावो तथा मन्तव्यो को गीत आदि के रूप मे मिलाकर दूसरो को प्रभावित करते हैं। भरत ने इस लौकिक और साधारण सगीत के रूप पर भी ध्यान दिया। उसने कला का आदश रूप साहित्य को माना जिसमे शब्द अथवा मूत्त माध्यम किसी विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करता है। सगीत मे ध्वनि के मूत्त माध्यम द्वारा भावो की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार साहित्य मे शृगार, हास्य, करुण आदि रसो का आस्वादन हम अर्थों की शक्ति से (विभाव, अनुभाव, सचारी भाव द्वारा) उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार स्वरो की भाषा से भी रसो की अभिव्यक्ति और आस्वादन सम्भव है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के आस्वादन के लिए मध्यम और पचम स्वर प्रधान गीत होना चाहिये। करुण रस गन्धार-प्रधान जाति से होता है। बीभत्स और भयानक रसो के लिए धैवत का प्रयोग बाहुल्य से होता है। सक्षेप मे, इसका अथ है कि प्रत्येक स्वर का अर्थ होना चाहिये, जैसे प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है। यह अर्थ 'रस' होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए विभाव, अनुभाव आदि को जाग्रत करने वाली भाषा का प्रयोग किया जाता है।

भरत की नृत्य-शैली मे शरीर की गति से भावो को अभिव्यक्त किया जाता है। उसके अनुसार शरीर का प्रत्येक भाग और प्रत्येक गति किसी न किसी मानसिक अवस्था का द्योतन करती है। यदि नतकी अथवा नर्तकी का सम्पूर्ण शरीर—उसकी हस्त मुद्रा, मण्डल, चारी, करण, खण्ड, अंगहार तथा नासिका चिबुक, अधर और चक्षु—एक ही भाव से सगतियुक्त, सन्तुलित गति उत्पन्न करें तो प्रेक्षक के हृदय मे उसी भाव का सचार हो जाता है। नृत्य से भावाभिव्यक्ति को और भी तीव्र बनाने

के लिए 'सार्वभाण्डिक' अर्थात् सभी बाजे जिसमे सम्मिलित हो ऐसा वादन होना चाहिये। यह वादन "सम, रक्त, विभक्त च स्फुट, शुद्धप्रहारजम्, तन्नीगान समन्वित," और "यथालयस्तथा वाद्य कत्तव्यमिह वादकै" होना चाहिये। भरत के अनुसार रस की सबसे अधिक अभिव्यञ्जना दृष्टि से होती है। इहभावा रसाश्चैव दृष्टयामेव प्रतिष्ठिता। दृष्ट्या हि सूचितो भाव पश्चादगैर्विभाव्यते।" भरत अपने अनुसार कला का उद्देश्य विश्रान्ति और सुख मानते हैं, क्योकि सभी लोग सुख की कामना करते हैं। [सर्वे प्रायेण लोकोऽय सुखमिच्छति सवदा] इस सुख का मूल स्त्री है [सुखस्य च स्त्रियो मूल, नानाशीलधराश्चता]। अतएव नृत्य की सुन्दरतम अनुभूति स्त्री की सुकुमार गति से उत्पन्न होती है। नाटक का प्रारम्भ ही 'दु खार्त्ताना, श्रमार्त्ताना, शोकार्त्ताना, तपस्विनाम्। विश्रान्ति जनन काले नाटचयेतन्मया कृतम्' अर्थात् दु खी, श्रमार्त्त और शोकात्त लोगो की विश्रान्ति के लिए हुआ है।

सगीत के विषय मे यह प्रश्न महत्त्वपूण है कि इसमे अभिव्यक्ति के लिये क्या स्थान होना चाहिये ?

शुद्ध सगीत मे अभिव्यक्ति का कोई स्थान न मानने वाले विचारक भी इस बात को स्वीकार करेंगे कि स्वर और गति आदि इतने प्रभावशाली, कोमल और मधुर माध्यम हैं कि मानव-जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव, उदात्त कल्पनाए, चेतना के सभी रूप, इनके द्वारा अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। सगीत का विस्तार और विकास भी इसी के अनुसार हुआ है। नृत्य के द्वारा सम्पूण कथानक जिसमे अनेक भाव, रस और घटनाए होती हैं व्यक्त किये जाते हैं। सगीत इस दशा मे स्वरो और अङ्गहारो की व्यक्त भाषा बन जाती है जिसका अर्थ हम साहित्य की भाँति ही समझने लगते हैं। नृत्य की गति मे दृश्य-कला की सरलता और श्रव्य-कला का लय दोनो सम्मिलित होने से वह कथानक जो सगीत द्वारा व्यक्त किया जाता है प्रखर प्रभाव उत्पन्न करने मे समथ होता है। इस समय तो कलाकार की अनूठी कल्पनाए भी नृत्य की भाषा से मूत्त होती है। वेष, अलकार, गायन, गीत, वादन तथा पृष्ठ भूमि की सजावट और बनावट से भाव के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करके, नृत्य अपनी गति से, सगीत की स्वरलहरी के साथ सहयोग पाकर, दर्शक के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व को द्रवित बना देता है। उदाहरणाथ एक सरिता हिमगिरि के स्वच्छ शिखरो से उतर कर आती है। उसमे दो अन्य स्रोत आकर मिलते हैं। यह मैदान मे बहती है और इसमे ग्राम-वधूटियाँ जल भरती है, कृषक इससे खेतो को सीचते हैं, वणिक जन नावो से व्यापार करते हैं। अन्त में यह तरङ्गिणी नील लहरो से लहराते

हुये समुद्र के भुज पाश मे अपने आपको समर्पित करके कृतार्थ हो जाती है। यहाँ नदी का यह भावमय, रसमय आध्यात्मिक जीवन अनेक प्रकार से कविता, चित्र और सगीत द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। इनमे सगीत अपने सम्पूर्ण नृत्य, वादन आदि अगो और उपकरणो को लेकर इस कल्पना की मधुर, स्पष्ट और दृश्य-श्रव्य अनुभूति उत्पन्न कर सकता है। हमारे लोक जीवन मे सगीत का विकास भावाभिव्यक्ति को उद्देश्य मान कर ही हुआ है। हम स्वीकार करते हैं कि सगीत मे स्वर गा गति का भावमय अथ उसका कोशगत अथ नही है, किन्तु इसी प्रकार ध्वन्याथ भी तो शब्द का सामान्य अथ नही होता। स्वरादि का भावमय अर्थ निकालने के पीछे एक दार्शनिक सिद्धान्त भी है। वह यह कि हमारा साधारण प्रत्यक्ष इतना उज्वल नही, होता, यदि हम केवल प्रत्यक्ष के सामान्य रूप पर ही ध्यान दे। हमारे मन के भाव ही प्रत्यक्ष के शून्य अन्तराल मे जीवन का महत्त्व और तरलता उत्पन्न करते हैं। एक पुष्प का भावमय प्रत्यक्ष उसके सामान्य प्रत्यक्ष से कही अधिक साथक और प्रखर होगा।

(6)

सगीत मे भावाभिव्यक्ति के पोषक इतना ही कह कर सन्तुष्ट नही होते कि रसिक अपने मानस के रसो और भावो का आरोप करके स्वरो और गतियो के विन्यास मे 'रस उत्पन्न करता है। वे तो यह मानते हैं कि स्वर का अर्थ ही 'रस' होता है। प्रत्येक स्वर-विन्यास, जिसमे एक स्वर वादी अर्थात् प्रमुख और अन्य स्वर सवादी अर्थात् वादी के अनुकूल होते हैं, एक रस का उद्रेक अपने प्रभाव से कर सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भारतीय सगीताचार्यों ने अनेक रसो की अभिव्यक्ति करने वाले रागो और रागनियो की, उनके दिव्य स्वरूपो और उन्ही रसो के अभिव्यञ्जक चित्रो की रचना की है। यह विकास सब प्रकार सराहनीय होते हुए भी एक भ्रान्ति से ग्रस्त है कि स्वरो के विन्यास से निर्मित राग का कोई स्वतन्त्र प्रभाव ही नही है जिसमे शृगार, करुण आदि रसो का स्पर्श लेश भी न हो। इस भ्रान्ति का आधार यह प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने स्थायी भावो की विभावो द्वारा जाग्रत करके रस भोग करना है। इसके अतिरिक्त—अर्थात इस 'रस' के अनुभव के अतिरिक्त सौन्दर्य का कोई अन्य आनन्द और रस नही है। किन्तु हमने इस ग्रन्थ मे इस दृष्टिकोण को भ्रान्त और सकुचित माना है।

तब फिर सगीत मे भावोद्रेक से उत्पन्न रस के अतिरिक्त कौन-सा रस है जो इसके सौन्दर्य को विशिष्ट स्थान प्रदान करता है।

सगीत का रस नाद के प्रभाव से उत्पन्न होता है। यदि नाद मधुर और मनोहर है तो इसका आस्वादन आँखें बन्द करके किया जाता है। नाद प्रवाह काल की भाँति अथवा जीवन की भाँति ही प्रवाह है। अतएव इसमे 'तन्मय' होने का अथ है कि रसिक दृश्य, स्थूल और स्थिर जगत को छोड कर श्रव्य, सूक्ष्म और तरल जगत् मे चला जाता है। वैसे तो 'तन्मयता' रसास्वादन का प्राण है, किन्तु चित्र, मूर्ति आदि मे 'तन्मय' होने की अपेक्षा जीवन की भाँति तरल नाद के प्रवाह मे तन्मय हो जाना सरल और स्वाभाविक है। सगीत बन कर आस्वादन करने वाला रसिक अपने जीवन मे सगीत का प्रवाह, इसकी ध्वनियो की तरल ताल और लय, सगीत और सन्तुलन के उदय से इतना प्रभावित हो जाता है कि मानो वह जीवन की मूल-दशा को लौट रहा है। जीवन की मूल दशा वह है जहाँ हमारे व्यक्तित्व के स्थूल, मानसिक और भावनात्मक बन्धन नही है, जहाँ अव्यक्त, अनन्त चेतना का दिव्य आलोक है, जहाँ स्थायी भाव भी मानो विलय की अवस्था मे ही रहते हैं, जहाँ जीवन और मृत्यु, लाभ और हानि, पुण्य और पाप, सत्य और असत्य के द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं, और, रहता है केवल जीवन का चिदानन्दमय तरल प्रवाह। सगीत का सुख इसी अवस्था का उदय है। इसके सुख को हम 'निमज्जन' भी कह सकते हैं। अत्यन्त निमज्जन तो ध्यान अथवा मोक्ष की अवस्था मे होता है। सगीत मे यह 'निमज्जन' की अवस्था स्वरो के प्रभाव से उत्पन्न होती है, इसलिये रसिक बारम्बार स्वरो को हृदयगम करने के लिये 'उन्मज्जन' भी करता है। निमज्जन की अवस्था मे उसे ध्यान और मोक्ष के अलौकिक सुख का अनुभव होता है, उन्मज्जन की अवस्था मे वह फिर स्वरो का स्पन्दन सुनता है। इस प्रकार वह सगीत के द्वारा ऐसे 'रस' का अनुभव करता है जो भावोद्रेक के रस से कही दूर और ऊँचा होता है। कुछ सगीतज्ञ इस 'रस' को 'शम' अथवा 'शान्ति' के नाम से पुकारते हैं।

तब सगीत मे सौन्दर्य का रूप क्या है? साहित्य-सौन्दर्य के विषय मे हमने कहा है कि यह शब्द की विशेष योजना द्वारा ध्वन्यार्थ का आस्वादन है। शब्द की ध्वनि उसका विशेष अर्थ है जिसका आस्वादन रसिक कल्पना के बल से अर्थ के आनन्दमय प्रकाश-लोक मे पहुँच कर करता है। सगीत का सौन्दर्य स्वरो को विशेष योजना से उत्पन्न होता है, जिस योजना मे ध्वनि-प्रवाह, ताल, लय और सन्तुलन आदि के प्रभाव से जीवन मे भी इसी प्रभाव का उदय होता है। इस दृष्टि से सगीत का सौन्दर्य साहित्यिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक सरल और स्वाभाविक है। इसके आस्वादन के लिये 'शब्दार्थं' के साहित्य की आवश्यकता नहीं

होती। इतना ही केवल सगीत-सौन्दर्य से आस्वादन के लिये वाञ्छनीय है कि श्रोता अपने जीवन की जडता से, जड बनाने वाले आवेगो, इच्छाओ, और द्वन्द्वो से मुक्त होकर अपने आपको स्वर-प्रवाह के लिये समर्पित कर दे। स्वर अपने प्रभाव से भी स्वय 'जीवन्मुक्त' की अवस्था उत्पन्न करते हैं। किन्तु वह अवस्था 'शून्य' नही होती। इसमे स्वरो का सुन्दर जीवन, उनका प्रसाद और वैभव, उनकी लहरी और मादकता, उन्मुक्त विलास और स्वच्छन्द गति, का उदय होता है।

टिप्पणी

सगीत से सम्बद्ध सौन्दय शास्त्र के क्षेत्र मे कई प्रश्न विचारणीय हैं, जैसे, भारतीय 'राग' और नृत्य मे क्या कोई सहज सम्बन्ध है ? तथ्य यह है कि राग के साथ नही, लोक-गीत या लोक-धुन के साथ नाच की सगति सही बैठती है। लोक धुन के साथ नृत्य-लय का सयोग क्या यह तो सिद्ध नही करता कि मानव का सहज सगीत लोक-सगीत है, शास्त्रीय सगीत नही, राग समाज भीम पलासी, या जै जैवन्ती पर नही, ग्रामीण धुन पर नाच स्वभाव से चलता है। तब क्या शास्त्रीय सगीत की परिभाषा ठीक नही है जो गीत, वादन और नृत्य के सयोग को 'सगीत' मानती है।

भरत के स्थायी भावो से सगीत का सम्बन्ध है ?

क्या सगीत का अपना कोई 'भाव' है । जो इसके सौन्दर्य का स्रोत है ?

मेरा विचार है कि मर्म को छूने वाली सगीत की शक्ति का कारण उसका ध्वनि माधुर्य है जो कान के मार्ग से मस्तिष्क मे पहुँच कर जीवन के जाड्य को गला देता है जाड्यापहार—यही प्रतीत होता है सगीत का चमत्कार और रहस्य।

क्या शास्त्रीय संगीत सहज नहीं, वह शास्त्रीय सगीत है, मात्र शास्त्रीय !

चित्र-कला

~चित्र-कला मे सौन्दर्य दृश्य माध्यम द्वारा मूर्तिमान् होता है। 'मूर्ति' अथवा 'रूप' का सम्बन्ध चाक्षुष-अनुभव से इतना स्वाभाविक है कि हम साधारणतया अदृश्य वस्तु जैसे 'अथ' अथवा नाद' की मूर्ति को स्वीकार ही नही करते। यह प्रवृत्ति यहाँ तक विद्यमान है कि हमारे देश मे प्रत्येक राग और रागिनी के भाव-लोक को रग के माध्यम द्वारा चित्रित करने का प्रयत्न राजस्थानी चित्रकला 'राग-माला' मे हुआ है। योरोप मे तो सगीत की एक पद्धति का जन्म हुआ जिसमे प्रत्येक श्रुत ध्वनियो के रूप से दृश्य चित्र का अनुभव होता है। यह सगीतज्ञ बीदोविन था जिसने Symphony अथवा ध्वनि-धारा का आविष्कार किया। एक ध्वनि-धारा नाद के प्रभाव से एक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न है, जैसे 'सूर्योदय' (Sunrise) नाम की सिम्फनी के बजाने से समुद्र-तट पर प्रात -कालीन दृश्य—सूर्य की अरुण कोमल प्रभा, मन्द, शीतल समीर, पक्षियो का कलरव आदि—उपस्थित होता है। इसी प्रकार वसन्त ऋतु का दृश्य, तूफान का दृश्य आदि अनेकानेक दृश्य उपस्थित करने वाली ध्वनि-धाराए हैं जिनका माध्यम स्वर है, किन्तु आस्वादन का रूप श्रव्य से अधिक दृश्य है।

दृश्य जगत् का ध्वनि की भाषा मे अनुवाद जैसा कि राग-माला अथवा सिम्फनी मे हुआ है चित्र-कला के सौन्दर्य का रहस्य है। यदि किसी चित्र मे इतनी शक्ति नही है कि वह अपने सीमित, दृश्यमान् रूप से ऊपर उठा कर किसी असीम, और अमेय कल्पना के लोक मे ले जा सके, तो वह अवश्य ही सुन्दर नहीं है। ~सैलोज मुकर्जी के 'पनघट' नामक चित्र को लीजिए। यदि यह केवल रग और रेखाओ का निरर्थक विन्यास है तो हमारी दृष्टि क्षण भर चित्र पर ठहर फिर वहाँ लौट कर न जायगी। किन्तु अब चित्र पर प्रथम दृष्टि ही हमे अपने लोक से हटा कर चित्र-लोक मे ले जाती है जहाँ विस्तृत मैदान है, दूरी पर धुँधला क्षितिज है, प्रात काल की कोमल, प्रभा से तरु-पल्लव झिलमिला उठे है और झिलमिला उठी हैं ग्राम-वधूटियो

के तरुण मुख पर 'अरुण हास' की रेखाएँ । समीप ही ग्राम है, छोटा, स्वच्छ और झोपडी वाला, दीन । पनघट इन ग्राम-वधुओ का केवल पानी ले जाने का साधन ही नही है, यह उनका 'क्लब' है जहा इनका चुटकीला हास-विलास होता है, किन्तु काम चलता रहता है, क्योकि घर पर अपने प्रेमियो और पुत्रो की अनेक आवश्य-कताए हैं जिनके लिये उन्हे तैयारी करनी है । इसलिये हाथो मे स्फूर्त्ति है पैरो मे गति है, हृदय मे सरसता और सौहाद है और घडो मे लबलबाता जल है । यह है 'पनघट' का भावलोक जहाँ चित्रकार हमे ले जाता है । एक दम नही, किन्तु प्रथम हमारी दृष्टि एक भाग पर पडती है, ध्यान का 'आवर्तन' होता है और हम सावधान होकर रगो और रेखाओ की भाषा मे भावो का अनुवाद पढते हैं । तदनन्तर कल्पना के लोक मे ध्यान जाकर उन भावो और कल्पना-चित्रो को स्पष्ट करता है । किन्तु चित्र के दूसरे भाग मे दृष्टि फिर से 'प्रत्यावत्तन' करती है और फिर भी ध्यान वहाँ से हटकर भाव लोक मे पहुँचता है । चित्र के सौन्दर्य-आस्वादन मे इसके बाह्य रूप और इसके भाव-लोक के मध्य मे ध्यान का यह आकर्षण प्रत्याकषण अथवा अवधान का पुन -पुन होने वाला आवर्त्तन प्रत्यावर्त्तन हमे सौन्दय के चित्रमय रूप का रहस्य उपस्थित करता है । सगीत मे हम 'उन्मज्जन-निमज्जन' के द्वारा रसास्वादन करते हैं क्योकि वहा नाद का प्रभाव 'द्रावक' है और 'आत्म-विस्मृति' उत्पन्न करता है, यहाँ तक कि मूर्च्छा और समाधि की अवस्था भी उत्पन्न कर सकता है । चित्र के सौन्दय मे रगो और रेखाओ का प्रभाव हमे दूर भावलोक के प्रति आकर्षित करता है और ध्यान फिर चित्र की ओर-प्रत्याकर्षित होता है । यह आकषण-प्रत्याकषण ही चित्र मे रसास्वादन की क्रिया और सौन्दर्य की विशिष्टता है ।

(2)

ध्यान का यह 'आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन', इस कारण से चित्र-सौन्दर्य का रहस्य है क्योकि चित्र का माध्यम 'कालिक' नही, स्थानिक होता है । यह हमारे नेत्रो के सम्मुख रेखा और रगो की विशेष योजना प्रस्तुत करता है जिसमे हमारी दृष्टि ऊपर नीचे, दायें-बायें जा सकती है । प्रत्येक रेखा अपना प्रभाव डालती है । रेखा की सरलता अथवा कुटिलता, उसकी मन्द-वेगता अथवा तरलता, उसका घनापन और विरलता, इसी प्रकार रेखागत बक्र, गोलाइयाँ और वृत्त आदि प्रत्येक गुण हमे प्रभा-वित करते हैं और जीवन मे अपने-अपने अनुकूल भावनाओ को जाग्रत करते हैं । उदाहरणार्थ, सरल रेखा जीवन मे सरल भावो का उत्थान करती है, तरल और वेग-वती रेखा जीवन मे उत्तेजना लाती है । चित्र मे रेखाओ की भाषा का प्रयोग सगीत

मे स्वरो की भाँति होता है। स्वरो का प्रभाव चित्त द्रावकता और रेखाओ का प्रभाव चित्ताकर्षण होता है।

रेखा न केवल अपने ही व्यक्तित्व से दर्शक को प्रभावित करती है, अपितु यह 'रूप' का आविर्भाव करती है। यह रूप मधुर, ओजस्वी, गतिमान् हो सकता है। रेखा द्वारा प्रादुर्भूत रूप से जीवन की अनेक भावनाए, इसकी गम्भीरता अथवा सरलता, चचलता अथवा स्थिरता, प्रसाद अथवा अस्पष्टता, आदि व्यक्त की जाती हैं। इस प्रकार रेखा अपने व्यक्तिगत प्रभाव से, और रूप का निर्माण करके चित्र मे सौन्दर्य की सृष्टि करती है अर्थात् चित्र मे आकर्षण-प्रत्याकर्षण की शक्ति उत्पन्न करती है।

रगो का प्रभाव भी मानव-भावनाओ* पर स्वभाव से नियत है। लाल रग चित्त मे उत्तेजना और बल की भावना उत्पन्न करता है। हरा रग शीतलता, नीला रग गम्भीरता, पीत वर्ण आश्चर्य, श्वेत वर्ण स्वच्छता, काला रग भयकर भावो को उत्पन्न करते हैं। रगो से रूप के आविष्कार मे सहायता होती है। रेखा से जिस 'रूप' का आविर्भाव होता है, रग उसे 'स्थान' की स्पष्टता प्रदान करता है। यद्यपि चित्र का मूल माध्यम रेखा है जिसके गुणो के प्रभाव से सौन्दर्य का आस्वादन उत्पन्न होता है, तथापि रगो द्वारा वह प्रभाव स्थिर और प्रखर हो जाता है। सुन्दर चित्र मे रगो और रेखाओ के सामञ्जस्य से प्रभाव अधिक होता है। रग और रेखा दोनो मिल कर चित्र मे 'रूप' को उत्पन्न करते हैं। चित्र के अनेक भागो मे रेखा और रग के पृथक् प्रभावो के सामञ्जस्य से 'सगति' का उदय होता है। रेखा की गति के साथ दृष्टि की गति होती है और इसका अनुभव प्रेक्षक के हृदय मे 'गति' उत्पन्न करता है। यदि चित्र के एक भाग में गति और प्रभाव दूसरे भाग के गति और प्रभाव के अनुकूल हैं तो इससे 'सन्तुलन' उत्पन्न होता है। यदि एक रेखा दूसरी रेखा के प्रभाव को, एक रग दूसरे रग के प्रभाव को न्यून न करके तीव्र बनाता है तो इससे सजीव सगति का उदय होता है। इस प्रकार रगो और रेखाओ के विन्यास से चित्र मे सगति, गति, सन्तुलन, सामञ्जस्य, सजीवता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे हम चित्र को दृश्य माध्यम द्वारा निर्मित सगीत कह सकते हैं। रगो और रेखाओं के प्रभाव से कोमलता, सुकुमारता, ओज, शक्ति, सरलता और इनकी विरोधी भावनाओ को जाग्रत कर सकते है। चित्र के इन प्रभावो और गुणो से दृश्य माध्यम द्वारा शुद्ध सौन्दर्य का उदय होता है।

*देखें : भरत-नाट्य शास्त्र शृङ्गार रस को श्याम रग से जोड़ा गया है।

(3)

सगीत के शुद्ध सौन्दर्य की भाति, चित्र का शुद्ध सौन्दर्य भी साधारणतया हमारे लिये कठिन होता है। अतएव हम बहुधा रंगो और रेखाओ से कहानी कहना चाहते हैं, जिस प्रकार 'स्वरो के माध्यम से 'गाना' गाया जाता है। इसका अर्थ है कि चित्र-सौन्दर्य को हम 'अभिव्यक्ति' का साधन बना देते हैं। आदिम काल की कला मे रेखाओ के ओज-प्रभाव की प्रधानता थी किन्तु आदिम मनुष्य ने रेखाओ के द्वारा अपने जीवन की प्रखर अनुभूतियो को व्यक्त किया था। चित्र-कला के विकास मे भी हम "क्या व्यक्त करते हैं ?" इस पर अधिक बल रहा है और "किन रेखाओ के द्वारा कैसे व्यक्त करते हैं ?" इस प्रश्न पर हमने अधिक ध्यान नही दिया है। इसलिये प्रत्येक युग की कला चित्र सौन्दय अर्थात् रग और रेखा के प्रभाव का प्रयोग उस युग की भावना को व्यक्त करने के लिये करती है। अतएव चित्र-कला के सौन्दय मे 'भोग', 'रूप' की प्रधानता नही रही, यह अभिव्यक्ति प्रधान कला है।

चित्र-सौन्दर्य क्या अभिव्यक्त करता है ?

भरत के रस-सिद्धान्त के अनुसार चित्र द्वारा रसाभिव्यक्ति की जाती है। रसोद्रेक के लिये कलाकार उसके अनुकूल विभावो की कल्पना करता है। ये उद्दीपन विभाव होते हैं। उसमे नायक अथवा नायिका का चित्र उतारा जाता है। इन चित्रो मे 'रूप', लावण्य', 'शोभा', 'कान्ति' आदि को समृद्ध करने के लिये चित्रकार प्रकृति मे से सौन्दर्य के आदर्शो का सकलन करता है अर्थात् नेत्र की शोभा के लिए कमल, हरिण के नेत्र, मुख की का ति के लिये पद्म, चन्द्रमा, हाथो के चित्रण के लिये कमल नाल, पैरो के लिये हाथी का शुण्डा-दण्ड अथवा कदली स्तम्भ, इसी प्रकार चित्र की नायिका के चित्रण के लिये सुन्दरी के अवयवो का विन्यास, आरोह-अवरोह, गुरुता-लघुता, वण-विन्यास सज्जा-अलकार आदि को आदश रूप से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार आलम्बन, उद्दीपन विभावो की रेखा और रगो के माध्यम द्वारा सृष्टि से कलाकार शृगार, हास्य, करुण आदि रसो का सचार करता है। भरत के लिए चित्र-कला और साहित्य मे केवल माध्यम का अन्तर है। एक सुन्दर चित्र सुन्दर काव्य है। भरत ने प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के लिये तदनुकूल रगो का निर्देश भी किया है— 'श्यामो भवति शृगार , सितो हास्य प्रकीर्त्तित." इत्यादि।

रसाभिव्यक्ति चित्र-सौन्दर्य का सकुचित उद्देश्य है। किन्तु यह आदश कथानक-प्रधान कला से अधिक सगत प्रतीत होता है। इस कला मे तो कथानको का रगो के

माध्यम द्वारा चित्रण किया जाता है, अनेक सुन्दर घटनाओ और सुखद स्मरणीय अवसरो की स्मृति को स्थिरता देने के लिये जिस प्रकार फोटोग्राफ का प्रयोग होता है, उसी प्रकार कलाकार चित्रण करता है। यह निम्नकोटि की कला है, केवल वर्णनात्मक। इससे उच्चतर कला वह है जिसमे कलाकार अपना दृष्टिकोण रखकर चित्रित पदार्थ मे 'अतिशय' उत्पन्न करता है जिससे प्राकृतिक वस्तु अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। किन्तु इस स्तर पर भी कला का क्षेत्र चर्म-चक्षु की अनुभूति से बहुत ऊँचा नही उठा। यह मानो साहित्य मे लक्षणा द्वारा प्राप्त अर्थ है।

चित्र-कला मे अर्थ और भाव की 'ध्वनि' उत्तम कला का गुण है। जिस समय चित्र के सौन्दर्य का ध्वनि द्वारा आस्वादन किया जाता है, प्रेक्षक मे कल्पना जाग्रत होती है। इसके लिये चित्रकार रेखा और रगो के सकेतो का प्रयोग करता है। न केवल रेखा और रगो का साधारण उपयोग, वरन् उनके विन्यास से एक कल्पना-लोक की सृष्टि करता है। पाश्चात्य कलाकार इस कल्पना की जाग्रति के लिये 'प्रकाश और छाया' (Light and Shade) तथा दृष्टिक्षेप (Perspective) का प्रयोग करते हैं, जिनके बल से चित्रित पदार्थ का वह रूप प्रेक्षक के सम्मुख स्फुट होता है जिस रूप को कलाकार ने स्वय देखा था। राजस्थानी 'राग-माला' नाम की चित्रावली को लीजिये। उसमे प्रकाश और छाया के कौशल का प्रयोग नही, किन्तु रेखा और रगो से पृष्ठ-भूमि और अग्रभूमि की योजना इस प्रकार की गई है कि प्रेक्षक अपने लोक से उठ कर उस चित्र के कल्पना लोक मे पहुँच जाता ह। इन चित्रो मे रेखा का प्रयोग विशेष-रूप से पृष्ठ-भूमि को मामिक बनाने के लिये किया गया है जिससे सुदूर सागर की उत्ताल तरगो का अनुभव होता , कही कही विस्तृत क्षितिज-हीन लोक की प्रतीति उत्पन्न होती है। इनमे रेखा की सामर्थ्य इतनी अधिक है कि प्रेक्षक मे अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति जगने से वह चित्र के रूप मे आसक्त हो जाता है। उसकी दृष्टि बारबार वहाँ पहुँचती हे और उनके सकेतो को ग्रहण कर पुन-पुन चित्रकार द्वारा कल्पित कल्पना लोक मे पहुँचती है। इसके अतिरिक्त रागमाला' मे भरत के उद्दीपन और आलम्बन विभावो द्वारा जाग्रत रस की भावना का आस्वादन होता है।

केवल कल्पना को जाग्रत करना चित्र का अन्तिम लक्ष्य नही है, यद्यपि यह परमावश्यक अवश्य है। केवल कल्पना के स्फुरण को चित्र सौंदय का लक्ष्य मानने वाली चित्र-कला 'भ्रान्ति' को ही आस्वादन का आधार मानती है। उदाहरणार्थ रगो, दृष्टिक्षेपो आदि से वस्तुओ के 'ठोस' रूप की भ्रान्ति उत्पन्न की जा सकती

है। चित्र पट पर केवल लम्बाई और चौडाई का विस्तार तो होता है, किन्तु इसमे ठोस पदार्थों का चित्रण इस कौशल के साथ किया जा सकता है कि उनके वास्तविक रूप का अनुभव हो जाये। इस प्रकार की कला 'अनुकरणात्मक' होती है और क्योकि यह 'वास्तविक की भ्रान्ति' उत्पन्न करती है अतएव सनीमा के चल-चित्रो की भाँति साधारण प्रेक्षक के लिये रन्जना भी उत्पन्न कर सकती हैं। किन्तु स्मरण रहे कला का आदर्श भ्रान्त अनुभव उत्पन्न करके रन्जना उत्पन्न करना नही है। वह कल्पना को जाग्रत करती है रेखाओ और रगो के प्रयोग द्वारा, विशेषत, पृष्ठ भूमि मे रेखाओ का सकेत प्रेक्षक की सम्पूर्ण अवधान क्रिया मे आकषण प्रत्याकषण उत्पन्न करता है। इस क्रिया का फल अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति को उद्दीप्त करता है जिसके परिणामस्वरूप प्रेक्षक के मानस मे रेखाओ की गति, उनकी सगति, उनका उत्थान और अवरोह, उनकी सरलता और तरलता आदि का उदय होता है। यहाँ से चित्र के सौन्दर्य का 'रसास्वादन' प्रारम्भ होता है। प्रेक्षक की दृष्टि 'सुन्दरी के रूप पर, पुष्प के कोमल-दलो पर, नदी के तरल जल पर, जाते ही उन रेखाओ की गति और सगति को अपने मानस मे अनुभव करने लगती है जिनसे उन 'रूपो' का सृजन हुआ है। इसका अथ है कि चित्र सौन्दर्य का आस्वादन क्रम से कई भूमियो मे होकर होता है। ये भूमियाँ एक दूसरे से पृथक् तो नही है किन्तु रसास्वादन की क्रिया मे इन्हे स्पष्ट समझा जा सकता है। ये भूमियाँ एक के अनन्तर एक इस प्रकार आती हैं कि प्रेक्षक अपने ही अन्तर मे 'देखे हुए पदार्थ से अनदेखे' पदार्थों का अनुभव करने लगता है। यह चित्र मे 'ध्वनि' है जो इसके सौन्दय का सार है।

(4)

~चित्र-सौन्दय के आस्वादन मे प्रथम भूमि रेखा और रगो तथा इनके द्वारा सृष्ट सन्तुलित रूपो से चित्त का आकर्षण है। यह चित्ताकषण' कलाकर मधुर रगो की योजना अथवा भावानुकूल विन्यास और रेखा से रूपो की रचना द्वारा करता है। दूसरी भूमि पर यह चित्र, विशेषत पृष्ठ-भूमि की रचना द्वारा, चित्त मे 'कल्पना' को उद्दीप्त करता है। यह प्रेक्षक के अवधान का 'प्रत्याकर्षण' है। वह रेखाओ के बल से अपने मानस मे एक क्षितिज का उदघाटन देखता है जिसमे प्रवाह, प्रपात, वन, समुद्र आदि रमणीक पदार्थों का अलौलिक रूप कल्पना द्वारा होता है। यह आवश्यक नही कि ये पदार्थ चित्र मे विद्यमान ही हो। रेखाओ की सकेत-शक्ति से कल्पना जाग्रत होकर स्वय इन रम्य वस्तुओ का सृजन कर लेती है। यह भूमि भी आनन्द की भूमि है और यह चित्र के पार्थिव स्वरूप को मानस-लोक अथवा कल्पना का अनूठापन प्रदान करती है। किन्तु सुन्दर चित्र इस भूमि से ऊपर उठते हैं। तीसरे क्रम

पर चित्त मे 'आकर्षण' का पुन उदय होता है और प्रेक्षक की दृष्टि रेखाओ के साथ दौडती, उठती, गिरती और गति करती है, रगो के विन्यास और सुकुमार वैभव का तीव्र अनुभव करती है। इससे 'अन्तर्भावना' उद्‌बुद्ध हो उठती है और प्रेक्षक को स्थिर चित्त मे गति का अनुभव होता है, सरल रेखाए और वर्ण विन्यास इनके मानस की वेदना से प्राणित हो उठते है। 'रूप' मे जीवन का सचार होता है, वृक्ष के दल चचल होने लगते हैं, चित्रित सरिता मे वेग आ जाता है, समीर का उच्छ्‌वास और जल का कलकल नाद जो चित्र मे नही है सुनाई देने लगते हैं। प्रेक्षक अन्तर्भावना के कारण अपने प्राणो से चित्र को प्राणित कर देता है। रसास्वादन की अन्तिम भूमि मे पहुँच कर प्रेक्षक उस चित्र मे 'भावलोक' का अनुभव करता है अर्थात् इसमे हर्ष अथवा अवसाद, आशा अथवा निराशा और कभी कभी ऐसे भयकर भाव जैसे एकाकीपन, शून्यता विरह वियोग आदि का अनुभव होता है। अन्त मे भावो की जाग्रति से चित्र के सौन्दर्य मे 'मानवता' का उदय होता है। प्रेक्षक अपनी ही मानवता का प्रत्यक्ष रूप चित्र में देखकर उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करता है। चित्र के सौन्दर्य का रसास्वादन इन पाँच भूमियो मे से होता है। जितना उत्कृष्ट सौन्दर्य होता है उतना ही दूर तक वह प्रेक्षक को अपने बल से ले जाता है। अधम चित्रो मे पहली और दूसरी भूमि से मनुष्य ऊचा नही उठता।

(5)

हमारे देश मे काम सूत्र के रचयिता वात्सायन के नाम से चित्र कला के 6 सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। इनमे ऊपर की पाँच भूमियो का सग्रह करने का प्रयत्न है। किन्तु इन सिद्धान्तो मे चित्रकार के सृजन का दृष्टिकोण है, न कि प्रेक्षक के रसास्वादन का। कलाकार चित्र-सृजन के पूर्व ध्यान मन्त्रो की सहायता मे अथवा साधना और तपस्या द्वारा अपने मानस मे व्यक्तिगत बन्धनो और भावना ग्रन्थियो का निराकरण करके अपूर्व रूप का आविर्भाव होने देता है। भारतीय कला-दर्शन के अनुसार 'रूप' का आविर्भाव बाह्य-वस्तुओ की प्रेरणा से नही, किन्तु साधना के बल से चित्रकार के अन्तर्लोक मे ही उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियो से होता है। वह अनुभूति को तीव्र और स्पष्ट बनाता है, अपने व्यक्तित्त्व की सीमाओ का विच्छेद कर उसमे व्यापक वेदना को उदय होने देता है। वह अपने मानस के विस्तृत अन्तराल मे 'रूप' के दर्शन की प्रतीक्षा करता है और, वहाँ उसके तप से प्रसन्न होकर अद्‌भुत 'रूप' स्वय उदित होता है जिसकी तुलना ससार के किसी 'रूप' से सम्भव नही। यही कारण है कि भारतीय कला मे कभी-कभी 'समानता' हमे नही मिलती। वात्सायन के अनुसार यह 'रूप' का प्रथम उन्मेष प्रकाश और वर्णों के अव्यक्त विस्तार

के स्वरूप मे होता है। कलाकार इस प्रकाश और वर्णों के उमडते हुए घन-पटल मे से मानो स्पष्ट और व्यक्त रूप का आविष्कार करता है। यह उसके अनुसार कला-सृजन का प्रथम क्षण है जिसे वह 'रूप भेद' कहता है।

इसके अनन्तर वह 'रूप' की नाप-तोल प्रारम्भ करता है। उसके अनुसार 'रूप' का आविर्भाव भावो के अव्यक्त लोक से होता है, इसलिये भाव से भावित रूप का स्वय अपना प्रमाण होता है, जैसे, दिव्य-रूप मे देवता के शरीर और अवयवो का मान और ताल, मानुष-रूप के शरीर और अवयवो के मान और ताल से भिन्न होगे। इसी प्रकार प्रत्येक भाव के अनुसार 'रूप' के ताल और मान निश्चित होते हैं। चित्रकार इन मानो मे सन्तुलन, सापेक्ष और सगति का अवश्य ध्यान रखता है। यह वात्सायन का 'प्रमाण' है जो 'रूप' की अभिव्यक्ति की दूसरी भूमि है।

रूप-भेद और प्रमाण के द्वारा सौन्दर्य मूर्त होने लगता है, किन्तु इस मूर्ति मे प्राण-प्रतिष्ठा का प्रयत्न आवश्यक है। यद्यपि रूप का उदय ही चित्रकार के जीवन और प्राण के उद्वेलन से होता है, तथापि उसमे प्रेक्षक की दृष्टि से जीवन का उदय आवश्यक है। कलाकार मूत्त रूप मे भावना को व्यक्त करता है। वात्सायन इसे 'भाव' कहता है।

इस समय तक रूप स्पष्ट और भावमय हो जाता है, किन्तु अभी इसमे प्रेक्षक के हृन्य को उद्वेलित और आकृष्ट करने की शक्ति नही है। इसलिये चित्रकार रूप मे लावण्य की योजना करता है। लावण्य सौन्दय का वह रूप है जिसमे लहरो की तरङ्गायमानता, गति और अवयवो द्वारा निर्मित किन्तु इनमे व्यापक और अविभक्त रस की अनुभूति उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान हो। 'लावण्य-योजनम्' का आधुनिक अर्थ चित्र मे अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत करने का प्रयत्न है।

इसके अनन्तर 'सादृश्य' का क्रम है, जिसका अथ है कि प्रेक्षक कलाकार के आविष्कृत रूप की पहचान किसी अपने अनुभूत और परिचित 'रूप' का सादृश्य पाकर करता है। अतएव कलाकार उसमे 'मानवता' का सचार करता है। यदि कलाकार उन्मादवश किसी ऐसे रूप की कल्पना कर बैठे जो हमारे अनुभव के एक दम बाहर हो तो हमे ऐसे रूप से आकर्षण नही होगा। सादृश्य' के द्वारा वह रूप को परिचित बनाता है, उसमें हमारी ही मानवता की प्रतिष्ठा करता है।

अन्त मे 'वर्णिका-भग' है जिसका अर्थ वर्ण विन्यास है। यहाँ चित्र-सृजन

की अन्तिम भूमि है जहाँ कलाकार अपने कौशल से मानसिक 'रूप' को वर्णों की भाषा मे व्यक्त करता है।

कला के आस्वादन में यदि हम इस क्रम का विपयय कर दें तो पहले प्रेक्षक वर्णों के विन्यास का अवलोकन करता है, तदनन्तर उसे चित्र मे सादृश्य की प्रतीति होती है। अपनी मानवता की वर्णो की भाषा मे व्यक्त मूर्ति देखकर प्रेक्षक चित्र मे आत्मिकता का अनुभव करता है। इससे वह चित्र मे और भी अधिक तल्लीन होता है। तन्मयता के कारण वह चित्र मे 'तरङ्गो' का अनुभव करता है। अन्तर्भावनात्मक-प्रवृत्ति के जग जाने से चित्र सजग, सजीव हो उठता है। अब भाव-लोक का उदय होता है। वह चित्रगत उल्लास और अवसाद का अपने ही मानस मे अनुभव करता है, ठीक वैसे ही जैसे सहृदय प्रेक्षक नाटक के दृश्यो की भावना को अपने मे आरोपित करता है। वह भावना अपना सन्तुलित, ताल और मान युक्त, रूप रखकर प्रेक्षक के हृदय मे उदित होती है। शैने शैने ताल और मान की सीमा द्रवित होने लगती हैं और चित्रकार के मानस लोक मे जिसे 'रूप' का उदय हुआ था वह 'रूप' प्रेक्षक के मानव-लोक में उदित होता है। यह 'रूप' स्पष्ट और व्यक्त होता है, यद्यपि इसका आधार प्रेक्षक की आध्यात्मिक अनुभूति ही है। अन्त म यह स्पष्ट रूप मानस के असीम क्षितिज मे प्रकाश और वर्णों के अव्यक्त, असीम घन पटल के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। यह क्षण सौन्दर्य के उदय का प्रथम उन्मेष था जिस समय कलाकार के तप पूत मानस मे साधना के फलस्वरूप आनन्दमय रूप का स्फुरण हुआ। सौन्दर्य आस्वादन की इस क्रिया मे ध्यान की प्रधानता है। इसमे प्रेक्षक कलाकार के कला सृजन की सभी भूमियो मे से होकर (विपयय से अर्थात् चित्र के बाह्य सौन्दय से प्रारम्भ करके उसके आध्यात्मिक अन्तरिक्ष तक) रस का आस्वादन करता है। ध्यान-प्रधान कला मे जैसा कि भारतीय कला है चित्त के आवपण प्रत्याकर्षण से भी अधिक 'निमग्नता' का अनुभव होता है।

मूर्ति-कला

चित्र की एक विशेष सीमा होती है, वह यह कि इसमे विस्तार और क्षेत्र के बल से 'घन' और 'आयतन' का सकेत किया जाता है। रेखा और रग भी घनत्व और स्थूल मूर्ति को स्पष्ट करने मे सहायक होते हैं। किन्तु क्षेत्र से घन का सकेत भ्रान्त प्रत्यक्ष है, यद्यपि यह भ्रान्ति स्वय हमारे लिए स्वाभाविक है और चित्र के रसास्वादन मे सहायक होती है। मूर्ति निर्माण मे कला की यह सीमा दूर हो जाती है। इसमे माध्यम पत्थर, लकडी, पकी हुई मिट्टी, खडिया पदार्थ होते है, जिनमे घन और आयतन दोनो विद्यमान है। यहाँ घनत्व आदि आदि का सकेत नही किया जाता, किन्तु माध्यम के ये गुण स्वय अनेक सकेतो के मूल हो जाते है। इस प्रकरण में हम घन-माध्यम के उन गुणो पर विचार करेंगे जिनके द्वारा वह कलात्मक सौन्दर्य और रसास्वादन उत्पन्न करने मे समथ होता है।

एक शिला-खण्ड को लीजिये। इसमे शब्द की भाँति अथ का साहित्य नही। हम इसका कोई अर्थ नही निकाल सकते। स्वर की भाँति यह कालिक माध्यम अथवा प्रवाह नही। यह गति-शून्य, स्थिर, स्थानिक पदाथ है। यह रेखा और रङ्ग की भाति सुकुमार और सरल नही, जिसमे केवल क्षेत्र का प्रयोग हो, यह स्थूल, आयतन युक्त घन वस्तु है जिसमे रेखा और रग दोनो विद्यमान तो रहते है, किन्तु इनका कोई सकेतित अभिप्राय प्रतीत नही होता। इस प्रकार यह शिला खण्ड अर्थ-शून्य, स्थिर, स्थूल और अभिप्राय रहित अचेतन अवस्था मे मानो पडा है, जिसमे मूर्तिकार अदमुत चेतना का सचार करता है, अथ शून्य मे अथ की प्रखर अनुभूति, स्थिर मे गति की प्रतीति, स्थूल मे सूक्ष्म भावो का विलास, अभिप्राय-रहित पदाथ मे मूर्ति के अभिप्राय को उत्पन्न करता है। वह शिला खण्ड गति, सगति, सन्तुलन आदि रूप के गुणो से भी शून्य है, इससे केवल भार, गुरुता, विपुलता की अभिव्यक्ति होती है। इस रूप-रहित अव्यक्त वस्तु मे रूप का प्रत्यक्ष दर्शन, 'भार' के स्थान पर भावो की प्रखर अभिव्यञ्जना' उत्पन्न करना मूर्तिकार की कला है, मानो मूर्तिकार सुषुप्ति मे जागृति का, तम मे आलोक का, मृत्यु मे जीवन का, अव्यक्त मे व्यक्त और अरूप मे सुरूप का, सृजन करता है।

ऐसे माध्यम मे कई गुण होते हैं। शब्द, स्वर, रग, रेखा आदि मे स्वय अपना व्यक्तित्व होता है, इसलिए कलाकार की उत्पादक प्रतिभा, जहाँ इनमे कोमलता पाती है, वहाँ अपने अभिप्राय के अनुकुल इनको मोड लेने मे कठिनाई का अनुभव करती है। प्रत्येक शब्द का अपना अथ है, इसकी लम्बाई और अक्षर-विन्यास भी नियत है। इसी प्रकार स्वर आदि का स्वभाव नियत है। किन्तु प्रस्तर खण्ड मे इस प्रकार की नियतता कुछ भी नही है। इसमे केवल अपने गुण हैं भार, गुरुता, आयतन, घन आदि, और कुछ रग, किन्तु जिसका अपने आप मे कोई विशेष महत्त्व नही है। इसमे स्पश भी है, किन्तु इसका कोई शब्द और स्वर की भाँति नियत अथ नही है। सत्य तो यह है कि कला की उत्पादक कल्पना के लिए जो अरूप मे रूप का आविर्भाव करती है, एक पत्थर का टुकडा ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम है क्योकि इसमे अथ की सीमा और सकोच नही है। इसमे अत्यधिक लोच है, अतएव कलाकार इसमे अधिक से अधिक आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना करने मे समथ होता है, इसमे सगीत की गति, साहित्य का अर्थालोक, चित्र की चित्ताकषकता उत्पन्न कर सकता है, और, इन सबसे अधिक, यह घन और आयतन का प्रभाव उत्पन्न कर सकता है जो अन्य कलाओ मे केवल दूर सकेत से प्राप्त होते हैं। पत्थर के समस्त गुणो की समष्टि यदि हम 'विपुलता' को मानें तो कलाकार केवल विपुलता से कला सौन्दर्य का सृजन करता है। वह अथ, स्वर, रग आदि के अधीन नही रहता। अतएव कलाकार इसमें अपनी सृजनशक्ति के लिए सर्वाधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

पत्थर की कठोरता के कारण 'स्वतन्त्रता का अनुभव' सम्भवत विचित्र जान पडे। किन्तु वास्तव मे पत्थर की अव्यक्त, शून्य अवस्था इसे कला के लिये सबसे उपयुक्त माध्यम बनाती है। अव्यक्त मे प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का आविर्भाव ही कला सृजन है। किन्तु हीगेल आदि दाशनिको ने माध्यम के इस गुण पर ध्यान न देकर पत्थर आदि को कला का नीची श्रेणी का माध्यम माना है। इसकी कठोरता यद्यपि मूर्तिकार को लोहे की छेनी और हथौडी के प्रयोग के लिए बाध्य करती है तथापि इसी कठोरता के कारण मूर्ति मे स्थिरता, चिरतनता आदि गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तूलिका, वाद्य और लेखनी का कोमल प्रयोग न होने के कारण, सम्भवत कोमलताप्रिय कला-रसिको ने मूर्तिकार को कलाकार का आदरणीय स्थान नही दिया। उसे केवल शिल्पकार ही माना गया।

(2)

हमारे देश में 'मूर्ति' का स्थान ऊँचा रहा है। हमने इसे धार्मिक पूजा का

अग माना है । इसके लिये शिल्प-शास्त्रो का निर्माण हुआ और कई पुराणो मे मूर्ति-कला के नियमों की विशद विवेचना भी हुई । परन्तु यह समझना भ्रामक होगा कि यहाँ मूर्ति-कला धार्मिक नियत्रण मे ही रही और इसका शुद्ध कला के रूप मे विकास नही हुआ । सत्य तो यह है कि हमारे देश की धार्मिक भावना भी व्यापक रही है । इसका अन्तराल इतना विशाल रहा है कि अन्य स्थानो मे जिसे 'लौकिक कला' (Secular art) कहते हैं वह भी हमारे धम के अन्तगत ही है । उदाहरणार्थ, पशु, पक्षी, जैसे बन्दर, हाथी, सूअर, शुक आदि मे कितना सौन्दर्य और आध्यात्मिकता है ? घोडा तो मूत सौन्दय का आदर्श है । भारतीय धार्मिक व्यापकता मे इन और इनके अतिरिक्त अनेक जीवधारियो का समावेश हुआ है जिनको शिल्प कला द्वारा मूर्तिमान किया गया है । इतना ही नही, धर्म ने कल्पना को शिथिल नही, उसे ऊर्वर और उद्दीप्त ही बनाया है जिसके कारण दिव्य पुरुषो, अप्सराओ, स्वग के सौभाग्य शाली जनो और जीवो का मूर्ति के माध्यम मे सृजन हुआ । कल्पना ने यक्ष, किन्नर, गन्धव, शिव, नन्दी, भैरव, शक्ति, गौरी, लक्ष्मी, सरस्वती, प्रलयकर शिव इत्यादि असख्य दिव्य शक्तियो और भव्य लोको का उत्पादन किया । हमे यहाँ धार्मिक सस्थाओ का मूल्याकन अभीष्ट नही है । किन्तु इसकी विशालता और व्यापक भावना को बिना समझे हम इस देश के पिछले दो सहस्र वर्षों की कला को नही समझ सकेंगे । सारे देश मे हिमालय के मन्दिरो से लेकर रामेश्वर और लङ्का तक भी और पूर्व मे कम्बोडिया, जावा, शाम से लेकर पश्चिम के सुदूर कोने तक अनेकानेक प्रकार की भव्य मूर्तियो का इतना प्रसार है कि हम इस कल्पना की ऊर्वरता और शक्ति को बिना समझे मूर्ति कला के रहस्य को स्पष्ट नही कर सकते ।

मूर्ति-कला के विवेचक शिल्प-शास्त्रो का विधान है कि शिल्पकार मूर्तिनिर्माण के पूर्व तीन दिन तक 'उपवास' करे । 'उपवास' के द्वारा शरीर की धातुओ मे शान्ति और प्राणायाम की शक्ति उत्पन्न होती है । धातु वैषम्य से शरीर मे जडता और मान-सिक चचलता रहती है, जिससे शिल्पकार को मूर्ति बनाने मे बाधा होती है । मूर्ति मे लोच और कोमलता उत्पन्न करने के लिये शिल्पकार स्वय अपने शरीर और इन्द्रियो मे लोच और कोमलता उत्पन्न करता है । 'उपवास' का प्रयोजन शरीर और प्राण मे 'साम्य' और शम' उत्पन्न करने के अतिरिक्त, मन की शुद्धि भी है । वह अपने व्यक्तित्त्व का, अपने सुख-दु ख, पुण्य पाप आदि के भावो का, निराकरण करके, अपने माध्यम, शिला-खड, की भाति ही अपने आप को 'शून्य' बनाता है, जिससे वह स्वय दिव्य भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके । वह ध्यान मे

अपने नेत्र निमीलित करता है जिससे वह 'रूप' का दशन कर सके, वह अपने कानो से शब्द नही सुनता, जिससे वह दिव्य ध्वनियो को सुन सके। इसी प्रकार वह स्पर्श, गन्ध आदि का अनुभव त्याग देता है जिससे वह दिव्य अनुभूति पा सके। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से बहिर्मुखी प्रवाह को सयत करता है, दूर तक, जीवन के गर्भ तक इसे ले जाता है जहाँ 'लय' और गति' है, और फिर वहाँ से इस प्रवाह को ऊवर बना कर अर्थात् जीवन मे 'लय' को भर कर, नेत्रो मे रूप-राशि, कानो मे दिव्य ध्वनियो को भर कर, प्रखर वेग से बहिर्मुख होकर लौटता है कि उसका सम्पूण जीवन अपने माध्यम मे मूर्तिमान होने के लिए विकल हो उठे। वह 'उपवास' द्वारा चेतना के मूल स्वरूप तक पहुँचता है और मूत होने वाले सौन्दय का साक्षात्कार करता है। इस साक्षात्कार करने मे वह ध्यान-मन्त्रो के अर्थों का मनन करता है। ध्यान-मन्त्र पुराणो मे प्रत्येक देव-मूर्ति के लिए नियत हैं। साहित्यकार मुनियो ने इन देवताओ का 'रूप' शब्दाथ के साहित्य से स्थिर किया है, उनके मान, परिमाण, अलङ्कार, भूषा, वस्त्र, वाहन आदि का निश्चय किया है। शिल्पकार इन मन्त्रो के मनन के अनन्तर 'निदिध्यासन' करता है, अर्थात् इनके अर्थों का साक्षात्कार अपने अन्तरालोक मे करता है। इस विधि से वह अव्यक्त, अरूप शिला-खण्ड मे व्यक्त रूप की सृष्टि करता है। मूर्ति-कला मे निर्माण की कठिनता इसलिए है कि उसका माध्यम शून्य है, यही उसका गुण भी है। किन्तु 'शून्य' मे रूप के आविर्भाव के लिए शिल्पकार की उत्पादक भावना को अत्यन्त प्रखर, तीव्र और मूर्त होना आवश्यक होता है। इस कला मे अर्थ का विचार करने वाली बुद्धि को बहुत अवकाश नहीं है। मूर्ति केवल भावना के प्रबल और ऊर्वर वेग से उत्पन्न होती है, और, इसी प्रकार उसका आस्वा-दन भी होता है। यही कारण है कि हमारे देश की मूर्ति-कला को बुद्धि से समझने का प्रयत्न करने वाले पाश्चात्य और अय लोगो ने इसकी कडी समालोचना की है। मूर्ति का आविर्भाव आध्यात्मिक अनुभूति से होने के कारण जहाँ बुद्धि के तर्कों की गति अवरुद्ध होती है, उसका बाह्य जगत् मे सादृश्य खोजने वाले व्यक्ति इसीलिये इसके सौन्दर्य का आस्वादन करने मे असफल होते हैं।

(3)

यदि सौन्दर्य वस्तुत आस्वादन-क्रिया का नाम है तो मूर्ति-कला मे आस्वादन का रूप स्थिर करने से इसके सौन्दर्य का रहस्य समझना पडेगा। प्रेक्षक के मानस मे होने वाली आस्वादन-क्रिया शिल्पकार के सृजन-प्रयत्न की 'पुनरावृत्ति' अथवा 'पुन-र्भव' है, केवल क्रम मे विपर्यय होता है। इस नियम के अनुसार एक 'मूर्ति' का दर्शन

कीजिये। हम पहले एक 'आकार' का प्रत्यक्ष करते हैं। यह आकार निराकार शिला-खण्ड मे से उदय हुआ है। सम्भवत हमारी सव-प्रथम प्रतिक्रिया मूर्ति को देख कर 'आश्चर्य' की होती है, और यदि हम इसे 'अद्भुत' रस का उद्रेक कहे तो अनुपक्त न होगा। आधुनिक मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने कलानुभूति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि रसास्वादन मे 'आश्चय (Wondaı) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो कला के सौन्दर्य आस्वादन मे आश्चय का उद्रेक होता ही है, कारण कि कलाकार मूर्त माध्यम मे जो गति, नियम, भाव, सुकुमारता आदि से या तो शून्य होता है अथवा जिसमे ये गुण स्पष्ट नही होते, गति, सगति, नियम, भाव और सुकुमारता का सचार करता है। यह स्वय आश्चयजनक बात है। सगीत मे ध्वनियो मे अदभुत विन्यास से रूप और मादकता, आरोह-अवरोह का क्रम आदि उदय हो जाते हैं। चित्र मे रेखा और रग मे अद्भुत सकेत-शक्ति आ जाती है। इस प्रकार सभी स्थानो पर सौन्दर्य के आस्वादन मे 'अदभुत' का स्थान है। किन्तु इनमे सबसे अधिक इस भावना का उद्रेक मूर्ति के दशन मे होता है। शिव के 'वृषभ' अथवा पार्वती के वाहन सिंह' तथा 'हस' आदि की मूर्तियो को देखने से निराकार, शून्य शिला खण्ड मे भाव-पूण, जाग्रत, जीवित, सन्तुलित, अनेक रेखाओ के आरोह अवरोह के द्वारा तीव्र बल और सामथ्य के सकेतो की ओर मानस को ले जाने वाले सुन्दर आकार का आविर्भाव वास्तव मे किसको 'चमत्कृत' न करेगा। उस मूर्ति मे पत्थर का बोध ही समाप्त होता मालूम होने लगता है, इसके कठोर स्पश मे कोमलता, भार के स्थान पर भावो का अचूक सकेत होता है। इसके धन और आयतन से जीवन की शक्तियो की ध्वनि, इसके शीतल स्पश मे जीवन का स्पर्श प्रतीत होने लगते हैं। मूर्ति के आकार मे जीवन की प्रतीति स्वय आश्चयकारक होती है।

मूर्तियो मे भी भरत का रस सिद्धान्त लागू होता है। मूर्ति मे विभावो, अनुभावो और सचारी भावो के आविर्भाव से शृङ्गार, करुण, हास्य, भय आदि रसो का अनुभव होता है। हमारे यहाँ की धार्मिक मूर्तियो मे अनेक मूर्तियाँ विभिन्न रसो की प्रतीति के लिये नियत की गई हैं, जैसे विष्णु, कृष्ण आदि की मूर्ति शृगार, राम, बुद्ध, तीथङ्करो की मूर्तियाँ करुण, वराह, हनुमान्, वृषभ, सूय आदि की मूर्तियाँ भयकर, नदी आदि हास्य रसो के लिये बनाई गई है, जिसमे सम्पूण जीवन की भावनाओ का उद्रेक मूर्ति के दशन से हो सके। अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति के कारण किसी मूर्ति के प्रत्यक्ष से उसी मूर्ति के स्वरूप का जागरण प्रेक्षक के हृदय मे होता है। वह स्वय मूर्ति का आकार धारण करने लगता है और मूर्ति बन कर उसके द्वारा अभिव्यक्त भावना के उद्रेक से स्वय भावित हो जाता है। यही कारण है कि

'सिंह की ओजस्विनी मूर्ति को देख कर बल और ओज की अनुभूति जाग्रत होती है। इस भाव के जागरण से पत्थर की मूर्ति मे उसका जड रूप और भी दूर हो जाता है। वह हमारे चेतन-जगत् का पदार्थ बन कर आस्वादन का स्रोत हो जाती है। इस प्रकार प्रेक्षक मूर्ति मे रस का अनुभव करता है। किन्तु इस रसानुभूति मे प्रबलता 'अद्भुत' की रहती है। यह सम्भव भी है, क्योकि यह व्यापक रस है और इसका किसी 'रस' से विरोध भी नही है। मूर्ति के प्रत्यक्ष मे तो इसका प्रबल उद्रेक होता है।

'अद्भुत' के उद्रेक का प्रभाव मनुष्य पर क्या होता है? सबसे प्रथम बुद्धि की 'वास्तविकता' की खोज करने वाली शक्ति पराहत होती है। मूर्ति को देख कर उसमे रेखा और भार, घन तथा आयतन द्वारा सकेतित भावो की 'वास्तविकता' खोजने वाले को वहा भाव नही मिलेंगे, किन्तु रेखा, घन आदि ही मिलेंगे। किन्तु रेखा, घन स्वय निरथक है। तब तो 'वास्तविकता' मे सीमित सत्य खोजने वाले अभागे मनुष्य को मूर्ति मे मूर्ति नही, जड शिला-खण्ड ही दिखाई देगा। मूर्ति का साक्षात्कार 'वास्तविकता' से ऊपर उदात्त 'कल्पना' और वहाँ से आलोकमय 'भावना' के लोक मे ले जाता है। यदि मनुष्य वहाँ जाने को समथ अथवा इच्छुक नहीं तो इसमे मूर्ति का अधिक दोष नही है। मूर्ति के द्वारा कल्पना और भाव मे प्रखर स्फूर्त्ति हो सके, इसी अभिप्राय से इसे 'वास्तविक' से दूर, 'काल्पनिक' के समीप ले जाया गया है। एक मूर्ति जितनी 'वास्तविक' होगी अथवा किसी प्रत्यक्ष पदार्थ की प्रतिकृति होगी, उतनी ही वह 'असुन्दर' होगी, क्योकि वह प्रतिकृति होने से अपने मूल बिम्ब की ओर सकेत करके स्थगित हो जायगी। यह कल्पना को जाग्रत न कर सकेगी। यही कारण है कि भारतीय मूर्ति कला मे 'विचित्र' और 'अ-वास्तविक' का इतना मिश्रण है। पाश्चात्य विचारको ने पशु-मूर्तियो और पच-मुख, त्रिनेत्र, दस-शिर, चतुर्भुज आदि मूर्तियो के समझने का भारी प्रयत्न किया है। मूर्ति-कला के इस सिद्धान्त के अनुसार इनकी 'अलौकिकता' का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। यदि हम इस सिद्धान्त को ध्यान मे रखें तो हमारे युग की कुछ मूर्तियो के महत्त्व, (जैसे भगत की मूर्ति-कला), को समझ सकेंगे जिसमे 'आकार' (Form) को विकृत बना कर अर्थात् केवल उसे 'प्रतिकृति' न रहने देकर, उनमे अ-रूप (Un-form) के सृजन से शक्ति और ओज की प्रबल अभिव्यक्ति हुई है। हम आकार को उसके लोक-सामान्य रूप से जितना ही इधर उधर ले जाते हैं, उसमे 'अद्भुत' उद्रेक की शक्ति अधिकाधिक होती है, उतना ही उसमे लोकोत्तर सौन्दर्य का आस्वादन तीव्र होता है। हम कितनी 'विरूपता' आकार मे उत्पन्न कर सकते हैं? इसका उत्तर हमे भावना की दीप्ति से मिलता है क्योकि हम रसास्वादन मे केवल 'कल्पना' के स्तर

पर नहीं रहना चाहते, इससे भी उदात्त स्तर पर जहाँ हमारी भावनाओ की सच्ची प्रतीति उत्पन्न होती है, जहा 'सत्य का साक्षात्कार' होता है, वहाँ हमे जाना होता है। अतएव हम 'विरूपता'* इतनी ही लाते हैं कि वह हमारे मन मे, प्रेम, शृङ्गार आदि को जाग्रत कर सके। पशु मूर्तियो का भारतीय कला मे प्रयोग, मानव मूर्तियो मे विरूपता का आविष्कार आदि 'अद्भुत' रस की उद्दीप्ति के लिये हुआ है। किन्तु उनमे 'भावना' की सत्यता रहती है, यहा तक कि पशु जैसे सिह, हस, वृषभ आदि की मूर्तियो मे मानव भावना का स्पष्ट आभास रहता है। अशोक स्तम्भ की सिह-मूर्तियो मे यह मानव भावना, मनुष्य के बल, ओज, आत्म-विश्वास, दृढता आदि की स्पष्ट अनुभूति, ही उनकी कलात्मकता का सार है। पशु मे मानवता का आरोप अथवा मानव मे पशुता का आरोप Theomorphism अथवा Anthropomorphism नामक दोष नही है ये मूर्ति कला के सारभूत सिद्धान्त हैं, जिसमे रसास्वादन का स्वरूप 'अदभुत का उद्रेक होता है।

'अद्भुत' के उद्रेक से तर्क का अनुसन्धान करने वाली बुद्धि पराहत होकर कल्पना की ओर चलती है। कल्पना के वेग और उसके आलोक मे वह मूर्ति अपनी जडता को त्याग कर 'चेतन' होना प्रारम्भ करती है, और, प्रेक्षक अब भाव लोक मे प्रवेश करता है। यद्यपि इस भाव लोक मे शृङ्गार, करुण, भय आदि रसो के अन्त स्रोत बहते हैं, तथापि यहाँ प्रेक्षक के मानस मे उस अवस्था की प्रबलता रहती है जिस अवस्था मे पहुच कर, उपवास के अनन्तर, शिल्पकार ने मूर्ति का आविष्कार किया था। यह वह अवस्था है जिसमे शिल्पकार के साधारण व्यक्तित्त्व और उसको सीमित बनाने वाले बन्धन पाप-पुण्य की मीमासा आदि क्षण भर के लिये उपराम को प्राप्त हो जाते हैं और, मनुष्य अपनी मानवता का, उसके वास्तविक उल्लास का, जीवन के तरल प्रवाह का, उसके ओज और सामर्थ्य का अथवा यो कहिये, आत्मा के असीम आलोक और जीवन मे 'स्वतन्त्रता' का अनुभव करता है। हमारे देश के दार्शनिको ने जीवन के विकास की चरम अवस्था का दर्शन' करते समय अनुभव किया था कि इसमे सुख-दु ख, इच्छा, भोग, सकल्प-विकल्प आदि मानस-विकार हैं जिनसे इसका शुद्ध, प्राकृत रूप तिरोहित हो जाता है। कवि दार्शनिक कालिदास के लिये तो 'मरण प्रकृति शरीरिणाम्', जीवधारियो का प्राकृतिक, मूल रूप 'मृत्यु' है और "जीवन विकृतिरुच्यते बुधै" और जीवन जैसा हम इसे साधारण अनुभव में पाते हैं, क्षणिक विकार है। व्यास ने भी जीवन का प्रारम्भ 'अदर्शन', 'अव्यक्त' और इसका अवसान भी 'अदशन' मे माना है ['अदशनादापतित *

---

* महाभारत।

* abstraction.

पुनश्चादर्शन गत ,' अव्यक्तादीनि* भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत, अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ।] आधुनिक मनोविज्ञान भी मृत्यु की इच्छा (Death-wish) को जीवन की इच्छा (Will-to-live) से भी प्रबल मानता है। कुछ भी हो, मृत्यु की शून्यता मे जीवन का परम अवसान और चरम विकास है। मृत्यु ही अनन्त और असीम है, इसमे पहुँच कर जीवन भी अनन्त और असीम हो उठता है। यह जीवन का 'निर्वाण' है। मूर्ति के सौन्दर्यास्वादन का चरम क्षण वह होता है जब प्रेक्षक अपने आत्मा के अनन्त अवकाश मे शिला-खण्ड की शून्यता और अव्यक्त चेतना का अनुभव करता है। हमने शिला खण्ड मे जो मूर्ति का माध्यम है इसकी अमूर्त्तता, अव्यक्तता ओर शून्यता पर बल दिया था। वास्तव मे, इस शून्यता का प्रकृष्ट अनुभव मूर्ति के दर्शन मे रसानुभूति का परमोत्कृष्ट क्षण होता है।

(4)

मूर्ति मे गति का अनुभव कैसे होता है ?

जड प्रतीत होने वाली मूर्ति मे गति का आविष्कार करना मूर्ति-कला की सफलता है। इसके लिये शिल्पकार कौशल का प्रयोग करता है। वह कौशल यह है कि जिस मूर्ति का निर्माण वह करना चाहता है उसे कल्पना से गति प्रदान करता है और उस वस्तु मे 'जीवन का वरदान और प्राणो की स्फूर्त्ति' देकर स्वय स्पन्दन करने देता है। एक 'वृषभ' की मूर्ति को लीजिये। यह शिव का वाहन है। शिव त्रिलोक के सहारक, साक्षात् पशुपति हैं। उनका वाहन भी असाधारण वृषभ होगा। उसकी गति विचित्र होगी। उसके ककुद् सीग, पृष्ठ-भाग, उसका मुख-चालन भी अलौकिक होगा। मानो यह वृषभ चल रहा है। चलते-चलते इस वृषभ की गति मे अद्भुत लय और जीवन का सम्पूर्ण उल्लास, ओज और स्वच्छन्द आनन्द का क्षण प्रकट होता है। बस इस गति के क्षण को शिल्पकार 'स्थिर' कर देता है। हम वृषभ की मूर्ति मे 'पूर्व' और 'पश्चात्' गति के क्षणो का अनुभव नही करते, केवल एक 'क्षण' का अनुभव करते हैं, जिसमे गतिमान् वृषभ सर्वाधिक सजीव हो उठा था। एक 'क्षण' का अनुभव करने के कारण मूर्ति मे हमे रूप' स्थिर और अचल प्रतीत होता है, यद्यपि यह क्षण स्वय क्षणो के प्रवाह मे एक तरङ्ग की भाँति है। यदि हम मूर्ति के 'क्षण' का साक्षात्कार करें तो इसके पूर्वापर क्षणो का प्रबल सकेत प्राप्त होता है और तब हमारी कल्पना स्वय गति के सम्पूर्ण प्रवाह की ओर—पीछे और आगे—चलती है। उस समय वह एकाकी, शून्य मे खडी हुई स्थिर मूर्ति प्रेक्षक को एक

* गीता।

अदभुत कल्पना के लोक मे ले आती है जहाँ उसमे जीवन की तरलता और इसका उत्कृष्ट उल्लास विद्यमान है। मूर्ति के सौन्दय-आस्वादन मे प्रेक्षक के मानस मे मूर्त-वस्तु के सम्पूण जीवन का उदय होता है—उसक अनवरत प्रवाह और स्पन्दन का आविर्भाव होता है जिसका एक क्षण' स्थिर रूप मे शिल्पकार ने प्रस्तुत किया है।

गति अथवा जीवन का वह प्रस्तुत 'क्षण' जो हमारे सम्मुख स्थिर मूर्ति के रूप मे उपस्थित है विशेष क्षण होता है। इसमे 'पूर्वापर' जीवन की सन्धि तो होती ही है, साथ ही, इसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति भी होती है। जीवन की उत्कृष्ट अभि-व्यक्ति का मूत्त क्षण कलाकार की भाषा मे 'मुद्रा' कहलाता है। मूर्तिकला मे मुद्रा' का महत्त्व है, क्योकि शिल्पकार और प्रेक्षक दोनो ही 'मुद्रा' का आविष्कार और प्रेक्षण करते हैं। मुद्रा के द्वारा ही गति का अनुभव स्थिर मूर्ति के द्वारा होता है। मुद्रा जितनी प्रकृष्ट, स्पष्ट, सकेत-शक्ति से युक्त होगी उतना ही इसके द्वारा 'गति' का अनुभव होगा, उतना ही कल्पना को स्फूर्त्ति मिलेगी और इससे रसास्वादन गम्भीर होगा।

भारतीय कला-साहित्य मे शिल्प-शास्त्र हैं जिनमे प्रत्येक मूर्ति के मान, माप आदि के नियम दिये गये है। इनमे मुद्रा-ग्रन्थो का महत्त्व है। मूर्तियो की अनेक मुद्राओ का उल्लेख है, जैसे ध्यान-मुद्रा, करुण-मुद्रा, वीर-मुद्रा इत्यादि। मूर्ति-कार अपनी अभीष्ट मूर्ति के सृजन से पूर्व उचित 'मुद्रा' का ध्यान करता है। इसका अर्थ है कि वह उस मुद्रा मे, कल्पना और भावना के बल से, उस क्षण का आवेश उत्पन्न करता है जिस क्षण के 'स्थिरीकरण' से वह स्वय प्रकट हुई है। बुद्ध, शिव, विष्णु, कृष्ण तथा अन्यान्य दिव्य विभूतियो मे मुद्रा भी दिव्य होती हैं, उनके कृपा, कोप, प्रेम, रसिकता उल्लास, विलास, माधुर्य भी अलौकिक होते हैं। शिल्पकार उनके कृपा, कोप आदि के प्रकृष्ट क्षणो को, जीवन के अनवरत प्रवाह मे, स्थिर करके मुद्रा का आविष्कार करता है। विश्व की विराट् शक्ति के स्फुरण से जो नृत्य प्रारम्भ हो उठता है नटराज की मूर्त्ति उस नृत्य के प्रवाह का एक साकार क्षण है जो हमे उस समय की विकट मुद्रा मे उपस्थित होता है। बुद्ध मूर्तियो मे करुण मुद्रा प्रकृष्ट है। कृष्ण की मूर्तियो मे 'विलास' की अभिव्यक्ति है। उनकी मुद्राओ मे 'भगिमा' और सौन्दर्य की सरसता का प्राधा य रहता है। अनेक भगिमाओ का आविष्कार इसी सरसता को जाग्रत करने के लिये भारतीय मूर्ति कला मे हुआ है।

(5)

यद्यपि मुद्राओ का उल्लेख आचार्यों ने अपने शिल्प-ग्रन्थो मे किया है, तथापि

इनकी सीमा इतने से नही हो जाती। हम ऊपर के सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर भारतीय मूर्ति कला का रहस्य और सौन्दर्य समझ सकते हैं। किन्तु मूर्ति-कला की इति इतने मे ही नही। इसलिये मुद्रा का सिद्धान्त मूर्ति-कला का व्यापक सिद्धान्त मानना चाहिए। पाश्चात्य देशो मे ईसाई सन्तो, मेरी, ईसा-मसीह तथा अन्यान्य लौकिक मूर्तियो का निर्माण भी मुद्रा* सिद्धान्त को पुष्ट करता है। प्रत्येक मूर्ति जीवन की गति का उन्मेष मुद्रा के द्वारा ही करती है। यूनान देश की मूर्ति-कला अवश्य ही इस सिद्धान्त का अपवाद है, कारण कि वहाँ 'अचल' (Absolute) का आदर, प्लेटो के दर्शन के अनुसार, चल जीवन से अधिक है। इसलिये उनकी मूर्तियो मे जीवन स्वय अचल हो गया है। उनमे काल के प्रवाह के स्थान पर इसकी 'चिरन्तनता' की अभिव्यक्ति मिलती है। यूनानी-भावना से प्रभावित गान्धार-कला की बुद्ध-मूर्तियाँ मानो काल के सनातन, स्थाणु, अचल तत्त्व के मूर्त्त प्रतीक हैं। अचल, स्थिर माध्यम मे जीवन-प्रवाह के एक क्षण को स्थिर करना यूनानी-कलाके बुद्धिवाद को स्वीकार नही। इसलिये मूर्तियो मे 'स्थिरता' का अनुभव होना चाहिए। इस बुद्धिवाद की पराकाष्ठा मुसलमानी कला मे पहुचती है जहाँ 'निर्जीव' मे जीवन का उदय व्यर्थ भ्रमोत्पादन है। इसलिये मूर्ति मे सौन्दर्य और जीवन का अनुभव शुद्ध भ्रान्ति है, चाहे उसमे जीवन की गति का अनुभव हो, जैसा मूर्ति-कला मे होता है अथवा जीवन के सनातन तत्त्व की अभिव्यक्ति हो, जैसा यूनानी कला मे हुआ है। इस भ्रान्ति और 'गुमराही' के कारण मूर्ति मे अपने ही उदात्त भावो की पूजा करना, इस दृष्टि-कोण से अक्षम्य अपराध है।

*शास्त्रीय दृष्टि से 'मुद्रा का अर्थ केवल हस्त-मुद्रा है। किन्तु मुद्रा से भावो की अभिव्यक्ति होती है, केवल हाथो को विशेष मुद्रा से पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाये, यह सम्भव नहीं होता। 'मुद्रा' का अर्थ-विस्तार किया जा सकता है, जब इसका तात्पर्य होता है शरीर की विशेष स्थिति से भावों की अभिव्यक्ति। नृत्य-मुद्राओ से भाव-प्रकाशन—यह भारतीय मूर्ति कला का विधान है।

'गति' मे सगति और लय तत्त्व निहित हैं, गति नृत्य का आधार है। इसीलिये, भारतीय दृष्टि से, नृत्य सम्पूर्ण कलाओं का आदि स्रोत माना जाता है।

वास्तु-कला

मनुष्य ने 'काल' का अनुभव दो रूपो मे किया है एक गति प्रवाह, जीवन अथवा परिवर्त्तन के रूप में, दूसरे स्थिर, अचल, चिरन्तन, अनादि और अनन्त तत्त्व के रूप मे। जिन्होने इसके पहले रूप का साक्षात्कार किया है उन्होने जीवन और इसके उल्लास और अवसाद तथा इसकी क्षण-क्षण मे परिवर्त्तनशील अभिव्यक्तियो पर अधिक बल दिया है। काल की इस अनुभूति से जिस कला का जन्म हुआ है उसमे 'जीवन की अभिव्यक्ति' की प्रधानता रही है। जहाँ काल का सनातन तत्त्व के रूप मे अनुभव हुआ है वहाँ कला के द्वारा 'निरपेक्ष' (Absolute) 'अचल', 'स्थिर', तथा जीवन मे 'चिरन्तनता' की अनुभूति को पार्थिव माध्यमो से साकार बनाने का प्रयत्न हुआ है। कला-सृजन की मूल प्रेरणा ही काल के अनवरत प्रवाह को, जीवन की निरन्तर परिवर्त्तनशील अभिव्यक्ति को, पार्थिव और अपेक्षाकृत स्थिर माध्यमो द्वारा साकार और अचल बनाने की कामना है। साहित्य, सगीत, चित्र, मूर्ति आदि के निर्माण से कलाकारों के क्षणस्थायी उदात्त अनुभव 'चिर' हो गये, उन्हे मूर्त स्वरूप और स्थिरता प्राप्त हुई। कला सृजन का आदिम उद्देश्य 'काल' को 'स्थान' मे रूपान्तरित करना, प्रवाह को विस्तार मे, अचिर को चिरन्तन, क्षणिक को सनातन मे, चल को अचल के रूप मे लाना रहा है। मनुष्य अपने आपको इस अनन्त प्रवाह मे पाकर घबराता है, और कला के द्वारा अनियम मे नियम की व्यवस्था करके, असीम को ससीम बना कर, निराकर, अव्यक्त वेदनाओ को मूर्ति का व्यक्त आकार प्रदान कर अद्भुत सुख का अनुभव करता है। कलाकार की विकलता और उसके सृजन के सुख का रहस्य इसी प्रेरणा मे निहित है।

इस उद्देश्य मे कला कहाँ तक सफल हुई है? साहित्य और सगीत स्वय कालिक माध्यम द्वारा व्यक्त होते हैं। ये स्वय प्रवाहरूप हैं, अथवा प्रवाह की साकार अनुभूतियाँ हैं। ये जीवन के अधिक समीप हैं, किन्तु इनमे 'क्षणिकता' और 'गति' की प्रखरता है। दृश्य माध्यमो मे चित्र और मूर्ति का उदय जीवन के गतिशील रूप

की अभिव्यक्ति के लिये होता है। जीवन और उसकी क्षणिक प्रवाह-रूपता इनमे विद्यमान है। ऐसी यदि कोई कला है जहाँ जीवन के क्षण-स्थायी रूप का एक दम निरास सम्भव हो सका है, जहाँ काल का सनातन, निरपेक्ष, अचल रूप हमे प्रत्यक्ष होता है, जहाँ मानव की आकृति अथवा किसी जीवित पदार्थ की आकृति का प्रतिविम्बन और अनुकरण न होकर निरपेक्ष, सनातन ज्यामितिक रूपो और गणित के अकाट्य सत्यो का मूर्ति मे उद्घाटन हुआ है तो वह कला वास्तु-कला अथवा भवन-निर्माण-कला है।

एक देव मन्दिर को लीजिये, अथवा मस्जिद, गिर्जे, स्मारक आदि किसी भवन को लीजिए। इनको दूर से देखिए जहा से इनका सम्पूण रूप प्रकट हो सके। यह एक 'आकार' हैं जिसमे कितना ठोस पदार्थ लगा हुआ है ! यह कितना दृढ है ! इसका गठन इस विचित्र रीति से हुआ है कि इसको देखने से स्थिरता और सुरक्षा का अनुभव होता है। हम इसके प्रत्येक अवयव को देखते हैं, एक अवयव की दूसरे के साथ तुलना करते हैं और फिर सब अवयवों को एक साथ देखते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध ऐसा है कि एक का भार, गुरुता और आयतन दूसरे के भार आदि के साथ सन्तुलित है। यदि पतले, निर्बल आधारो पर भार और आयतन अधिक प्रतीत होता है तो हृदय मे 'भय' का सचार होता है। इससे इनका सन्तुलन नष्ट होने से यह वस्तु 'असुन्दर' प्रतीत होती है। प्रत्येक अवयव गणित के अचल नियमो के अनुसार बनाया गया है। सम्पूर्ण भवन मे एक केन्द्र-बिन्दु अथवा एक या दो मूल रेखाएँ (Axes of reference) प्रतीत होती हैं। सारे अवयवो की योजना, इनका उतार-चढाव, भार और आयतन, गुरुता अथवा लघुता आदि इन्ही मूल रेखाओ और केन्द्र-बिन्दु के सम्बन्ध से निश्चित होते हैं। दृष्टि इसी केन्द्र से जिसे सन्तुलन बिन्दु (Punctum Balance) कहा जाता है इधर उधर, ऊपर-नीचे चलती हैं और इसमे सम्बन्धो की समानता, सापेक्षता आदि पाकर प्रसन्न होती है। अवयवो के परस्पर सम्बन्ध मे गणित के नियमों का पूण रूपेण पालन देखकर बुद्धि को अचल सत्यो का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह है 'भवन' का 'आकार'। आकार दर्शक के हृदय मे दृढ़ता, सुरक्षा और चिरन्तनता का अनुभव उत्पन्न करता है। यह काल के अनवरत प्रवाह के ऊपर दृढ़ता और स्थिरता का मूर्त रूप प्रतीत होता है। यही पूर्ण रूप से कला का वह निर्माण है जिसमे 'काल' का स्पर्श नही है। भवन के व्यक्त आकार मे 'स्थान' की अनुभूति होती है, स्थान के नियमों का पालन होता है। फलत. 'स्थिरता' की प्रखर अनुभूति इससे उत्पन्न होती है।

वास्तु कला की शुद्ध अनुभूति मे 'स्थान' और 'स्थैय' का, सापेक्षा, सन्तुलन, और अवयवो के परस्पर सामञ्जस्य से उत्पन्न ज्यामितिक आकार का तथा गणित के अडिग स यो का, अनुभव सम्मिलित है। हम इस शुद्ध अनुभूति मे धर्म के स्पश से इसे मन्दिर, स्तूप, मस्जिद और गिर्जे आदि का रूप दे सकते हैं। इसमे प्रेम का प्रसाद भर कर 'ताजमहल' बना सकते हैं। किसी महापुरुष के जीवन से सम्बन्ध जोड कर इसे उसके जीवन का गौरव प्रदान करने से यह 'सिकन्दरा' का स्मारक अथवा अन्य कोई समाधि बन सकती है। इसी अनुभूति को किसी के वैभव और विलास का वरदान देकर इसे 'राज महल' बनाया जा सकता है। विजय के हष से इसे रजित करके 'विजय-स्तम्भ' का रूप दिया जा सकता है। सक्षेप मे, वास्तु कला की सामान्य अनुभूति 'स्थान' और 'स्थिरता' के सन्तुलित आकार मे 'सनातन' के साक्षात्कार की अनुभूति है। इसमे गौरव, धर्म, स्मृति, विजय, विलास आदि के सम्पक से विशेषता उत्पन्न हो जाती है, जिससे अनगिनत प्रकार के भवनो का सृजन होता है।

(2)

वास्तु-कला की शुद्ध अनुभूति दूर' से देखने पर उत्पन्न होती है, क्योकि वहाँ से भवन के प्रत्येक अवयव पर पृथक् ध्यान न देकर हम इसके सम्पूण अवयवो के वि यास के उत्पन्न आकार पर ध्यान देते है। यह 'सम्पूर्ण का विन्यास' जिसे फ्रेञ्च लोग let out ensemble कहते है वास्तु-कला मे आनन्दानुभूति का मूल-स्रोत है। यद्यपि आकार की सम्पूर्णता सभी कलाओ का व्यापक गुण है, तथापि यह 'भवन' मे अधिक स्पष्ट होता है। साहित्य और सगीत मे तो रसिक अपनी ही प्रतिभा से चित्र पट के क्रमश चित्रो मे एकता की भाँति आकार की एकता उत्पन्न करता है। वह गत भागो की अनागत भागो मे सम्बद्ध करता जाता है और इस प्रकार क्रमश 'रूप' स्पष्टतर होता है। अन्त मे 'सम्पूर्ण रूप' का उद्घाटन होने से आनन्द का विशेष उद्रेक होता है। साहित्य मे तो रसिक थोडे से अनुभव के अनन्तर 'आगामी' के लिये उत्सुक हो उठता है, जिससे वह 'सम्पूर्ण' का अनुभव कर सके, और, कुशल कलाकार (उपन्यासकार, कहानीकार, लेखक, आदि) 'सम्पूर्ण रूप' के सन्तुलन-बिन्दु को इस प्रकार गुप्त करके रखता है कि रसिक की उत्सुकता अन्त तक बनी रहे और चरमान्त मे ही इसका उद्घाटन हो जहाँ पहुँच कर वह सम्पूर्ण के रहस्य को समझ सके। इसीलिये उत्तम साहित्य मे 'गोपन' (Concealment) और 'आश्चर्य' (Element of Surprise) आदि गुणो को स्वीकार किया गया है। सम्पूण आकार की स्पष्टता सर्वाधिक 'भवन' के निर्माण मे रहती है। यदि हम किसी बिन्दु से

'सम्पूण' को एक साथ नही देख सकते तो निश्चय ही हमने इसके लिये उचित स्थान की छाँट नही की।

तब प्रश्न यह है कि दशक की दृष्टि मे आकषण उत्प न करने के लिये जिससे वह 'दूर' ही से इसे देखकर न चला जाये, शिल्पी भवन के निर्माण मे किस कौशल का प्रयोग करता है? दूसरे शब्दो मे, भवन मे आकषण, रस, आश्चर्य तथा अन्य भावनाओ के उद्रेक का आधार, सम्पूर्ण आकार के अतिरिक्त, क्या है? अथवा, दशक भवन के 'समीप' आकर किस प्रकार प्रभावित होता है? इसके लिये कलाकार कई कौशलो का प्रयोग करता है।

(क) वह प्रत्येक अवयव मे स्वतन्न आकार की सम्पूणता की प्रतीति उत्पन्न करता है। विशाल भवन का प्रत्येक भाग सम्पूण से पृथक और स्वतन्त्र होकर भी, स्वय एक आकार होता है जिसमे अवयवो का सामञ्जस्य, सन्तुलन और सापेक्षा आदि ओत प्रोत रहते हैं। 'दूर' से जिस सन्तुलित, सम्पूर्ण आकार के अनुभव से 'स्थान' के माध्यम मे 'काल' की चिरन्तनता' का अनुभव हुआ था, वह अनुभव समीप मे आकार प्रत्येक अययव मे, प्रत्येक भित्ति और इसके भागो मे, इसके बाहर और भीतर, ऊपर और नीचे, जहाँ दृष्टि पड जाती है, वही और भी अधिक प्रखर होता जाता है। दशक अपने आपको आकार की सवतोमुखी मूर्त्त अनुभूति से घिरा पाकर क्षण-क्षण मे दृष्टि द्वारा मानो सौन्दर्य का पान करता है। वह इस अनुभूति को अपने जीवन की गति और प्राणो का उच्छ्वास देकर इसमे सगीत की सगति उत्पन्न करता है, और, इस प्रकार अन्तरिक्ष के अवकाश मे स्थिर भवन भी शुद्ध सगीत का प्रभाव उत्पन्न करने मे समथ होता है। एक भवन जिसमे दूर से 'सम्पूण' का अनुभव उत्पन्न होता है, किन्तु जिसका प्रत्येक भाग भी अपनी विशाल भित्ति, मीनार, गुम्बद, शिखर आदि से, समीप मे भी, उसी अनुभव को उद्दीप्त करने मे सफल होता है, वह अवश्य ही वास्तु-कला का आदर्श है।

(ख) दर्शक की दृष्टि अभी तक भवन के प्रत्येक भाग मे आकार के सन्तुलित प्रभाव को पीने मे उलझी हुई है। वह कहाँ तक उसे पिये, क्योकि वह तो प्रत्येक अवयव मे और सम्पूर्ण अवयवी मे विद्यमान है। किन्तु कलाकार इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। वह तो दर्शक की दृष्टि को प्रत्येक इच पर रोक कर उसे आनन्द से आप्लावित करना चाहता है। इसके लिये वह 'बारीकी' का प्रयोग करता है। प्रत्येक स्थान में रेखा, बक, वृत्तो के द्वारा 'डिजाइन' बनाता है। उसमे रेखा की गति से गति और ओज, बको से बाकापन, सुकुमारता, वृत्तो के प्रयोग से रूप की पूर्णता,

उत्पन्न करता है। यद्यपि इनका प्रयोग वास्तु कला के क्षेत्र से बाहर है, तथापि वह अपने निर्माण मे चित्र-कला का सौन्दर्य लाकर उसे और भी आकर्षक बना देता है। फारसी कला मे डिजाइन की बारीकियाँ, उनका सन्तुलन, कोमलता और सवाद शुद्ध सगीत का आनन्द प्रदान करने मे समथ है। बहुत से भवनो मे शिल्पी ने इसी कला के प्रयोग से भवन के सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है। इसके एक पद और आगे चलकर, फूल, पत्तियो और पखुरियो के आलेखन से भवन के सौन्दय मे वृद्धि हुई है। इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा उन भवनो मे हुई है जहा की भित्तियो पर चित्र-कला अपने सम्पूण वैभव के साथ अवतीण हुई है।

(ग) भवन का निर्माता शिल्पी अपनी कला मे 'रूप' के साथ 'भोग' का सौन्दर्य भी उत्पन्न करता है। इसके लिये वह रग-बिरगे शिला खण्डो का प्रयोग करता है। श्वेत, बिल्लौरी कृष्ण, रक्त पत्थरो के मेल से विभिन्न प्रभाव उत्पन्न होते हैं। कही केवल नियमित रूप से एक ही प्रकार के रग का उपयोग करके वह हमारे अनुभव को बृहत बनाता है। मूल्यवान पत्थरो से उसमे आभा उत्पन्न करता है। इस प्रकार भवन का प्रत्येक अवयव और उसका सम्पूर्ण कलेवर रूप का ही अनुभव नही, रग का भोग भी प्रदान करता है।

(घ) सुन्दर भवन की विशालता और भव्यता भी वास्तु कला का व्यापक गुण हैं। मन्दिर, मस्जिद आदि यदि छोटे भवन ही बनाये जायें तो पूजा सम्भव हो सकती है, स्मारक आदि भी विस्तृत, किन्तु ह्रस्व आकार के बनाये जाने सम्भव थे। फिर ससार के सुन्दर भवनो मे इनकी विशालता और भव्यता पर क्यो इतना बल दिया गया है? वस्तुत, भवन की विशालता इसके सौन्दर्य का आवश्यक अग है। प्रथमत, हम भवन के समीप पहुँचकर उससे अपने आपको नापते हैं। ऊपर को दृष्टि डाल कर इसकी गगन-चुम्बी अट्टालिका, शिखर आदि को देखने से हमें उदात्त भय अथवा पवित्र आतक (Holy terror) का अनुभव होता है। यह अनुभव स्वयं अदभुत सुख का जनक है। इसके विस्तार को देख कर स्थान के विस्तार का अनुभव होता है। द्वितीयत, विशाल और विस्तृत भवन के साक्षात्कार से अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति के जग जाने के कारण हमारा लघु व्यक्तित्व भवन की विशालता का अनुभव करने लगता है, जिसे हमारे देश के विचारको ने 'चित्त विस्तार' कहा है और पाश्चात्य दाशनिको ने 'विशालता की भावना' (Oceanic feeling) कहा है। भवन की ऊँची मीनारो और आकाश चुम्बी शिखरो को देखने मे दर्शक की आँखें जिन रेखाओ का आधार पाकर 'अवरोह' करती हैं, उन रेखाओ मे कभी-कभी जीवन

की तरलता और भव्यता का इतना स्पष्ट अनुभव उत्पन्न होता है कि जीवन स्वय भव्य हो उठता है। हम भवन के खर्व आकार मे सौन्दय के इस अनुभव को नही पा सकते।

(ड) हम सुदर भवन के 'अवयव' के सौन्दय और 'सम्पूण' की भव्यता का अनुभव करके लौट रहे हैं। पर यदि हम इसको पीछे फिर कर देखने को उत्सुक नही, यदि हमारी दृष्टि अब वहाँ रिकने को तैयार नही है, तो शिल्पकार की कला को धिक्कार है। शिल्पकार मानो दशक की इस भावना को समझ कर पहले ही से उसकी दृष्टि-प्रसाद के लिये भवन के परिमण्डल की कल्पना करता है। सुदर भवन विस्तृत मैदान मे अन्तरिक्ष के अन्तराल मे एक अकस्मात, असम्बद्ध, एकाकी किसी विक्षिप्त की सृष्टि नही है, वरन् इसका सम्बन्ध-कलात्मक सम्बन्ध—अपने सम्पूण परिमण्डल से है। आकाश, सूयप्रभा, ज्योत्स्ना, बादल, विद्युत् की चमचमाहट, चारो ओर के हरे मैदान, वन, समीप मे बहते हुए जल-प्रवाह और उसके वर्ण, सरोवर, पर्वत-रेखाओ आदि सभी का प्रभाव भवन के सौन्दय के प्रभाव मे सम्मिलित रहता है। इन प्रभावो से अर्थात् आकाश आदि के रग, रूप और समीप के सरित्-सरोवर, विपिन के आकार और वण आदि के प्रभावो से भवन के सौन्दर्य को पृथक् नही कर सकते। यदि हमें भवन के सौन्दय द्वारा 'ललित' और 'सुकुमार' की ध्वनि उत्पन्न करना अभीष्ट है तो उसके परिमण्डल के प्रभावो मे भी सुकुमारता और लालित्य होना चाहिए। यदि उसमें वीर की कठोरता, शासन-प्रियता, दृढता उत्पन्न करनी है तो उसके परिमण्डल मे चट्टानो की रूक्षता, वृक्षो मे वट, पीपल, प्लाक्षा आदि की गुरुता आदि की ध्वनि होनी चाहिए। यदि उसमे प्रेम की विकल उत्कण्ठा, उसकी गम्भीरता, स्वच्छता, उदारता और त्याग तथा कोमलता के प्रभाव को स्पष्ट बनाना है तो उसमे चाहिए कोमल, लघु पत्तियो वाले वृक्ष, स्वच्छ कणो की निरन्तर वर्षा करके शीतलता का सचार करने वाले धारा-यत्रो की श्रेणियाँ, प्रेम का मूल्य समझने वाली चल शफरी के विलास से उल्लसित लघु-लघु सलिलाशय, जीवन मे शान्ति को भर देने वाले हरित दूर्वा के समतल केदार, और, अन्त मे, प्रेम के उन्माद से नित्य तरगित यमुना का रस-सिक्त सिकतामय तट!

प्रेक्षक लौटते समय इसी परिमण्डल के प्रभाव मे हरी पत्तियो मे स्पष्ट दिखते हुए पुष्प के रूप की भाँति, भवन के रूप का ध्यान करता है।

(3)

हमने ऊपर सुन्दर भवन के 'सौन्दर्य' को समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु मनुष्य इसके शुद्ध सौन्दर्य अथवा 'रूप' से सन्तुष्ट न होकर इसके द्वारा

आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना भी करना चाहता है। वह इसके बाह्य कलेवर को 'अथ' देना चाहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह शब्द मे अथ का आरोप करता है। उस अवस्था में 'भवन' के सौन्दय मे 'साहित्य' उत्पन्न होता है, उसके अग, प्रत्यग, अलकार, चित्र, वण, बक, आकार आदि से मिलकर काव्य की ध्वनि निकलती है। इनके विशेष विन्यास और सज्जा से कहीं शृगार, कही वीर, कही हास्य आदि रसो की अनुभूति होती है। इस प्रकार रूप के सौन्दय मे रस के समावेश से उस भवन मे काव्यात्मकता स्वय मूर्तिमती हो उठती है। इतना ही नही, कभी कभी गम्भीर दाशनिक विचार और धार्मिक सिद्धान्त, प्रेम, प्रणय, भक्ति आदि की भावना भी, भवन के आकार द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। गोथिक शैली मे बने हुए मध्यकालीन गिर्जे को 'प्रस्तर मे व्यक्त अध्यात्म सिद्धान्त' (Transcendentalism in stone) कहा गया है। मस्जिद के चतुरस्र विन्यास, उसकी उच्च मीनार और एक बिन्दु की ओर झुकने वाली रेखाओ से निर्मित मेहराब (arch) द्वारा इस्लाम की व्यापकता, उच्चता और 'वहदत' (ईश्वर की एकता) का बोध होता है। भारतवष मे शिव, विष्णु राम और कृष्ण के मन्दिर भक्ति और पवित्रता के भवन की भाषा मे लिखे गये मूर्त काव्य हैं।

भवन के आकार मे 'अच' का उदय किस प्रकार होता है और क्यो होता है ? किसी भी भवन के निर्माण मे तीन भाग होने है एक, आधार, दूसरा, मध्यगोल, तीसरा शिखर। बहुधा आधार चतुरस्र, वर्गाकार अथवा आयताकार होता है जो अपने सम्पूण शरीर से पृथ्वी का स्पर्श करता है। यदि कोई अन्य आकार भी आधार को दिया जाता है तो वह भी पृथ्वी को पूणरूपेण स्पर्श करता है। इसका फल यह होता है कि इससे भवन मे दृढता, स्थिरता और पृथ्वी के सामीप्य की प्रतीति होती है। वर्ग के आकार से स्वच्छता और पूर्णता की भी ध्वनि उत्पन्न होती है, क्योकि सरल रेखाओ से बने हुए आकारो में 'वग' ही पूर्ण आकार है। यद्यपि आधार मे षट कोण, अष्ट कोण या अधिक कोणो का भी प्रयोग किया जाता है, तथापि सरलता और पूणता की जो स्पष्ट अभिव्यक्ति 'वग' से होती है वह अन्य किसी आकार से सम्भव नही। पृथ्वी से स्पर्श करने के कारण इससे स्थिरता का बोध इसलिये अधिक होता है क्योकि गोलाकार का स्पर्श पृथ्वी से केवल एक ही बिन्दु पर होता है जिससे वह किसी भी दिशा मे चल सकता है, नालिका का स्पर्श पृथ्वी से एक रेखा मे होता है जिससे वह एक ही दिशा मे घूम सकती है। केवल वर्ग, आयत अथवा वृत्त ही अपने सम्पूर्ण अगो से पृथ्वी का स्पर्श करता है। इसीलिये बहुधा भवनो का आधार इन्ही मे से कोई होता है।

मध्य-गोल (Cupola) बहुधा घण्टा, अण्डा आदि के आकार मे बनाया जाता है। 'गोल' आकार का सम्बन्ध पृथ्वी से केवल एक बिन्दु म रहता है, किन्तु इसमे 'गति' की सवतोमुखी सम्भावना रहती है, इमसे इसमे 'व्यापकता' की ध्वनि होती है। साथ ही, बक रेखाओ से बने आकारो मे गोलाकार ही 'पूर्ण' है। इसके सभी भाग एक केन्द्र बिन्दु से समान दूर पर होते हैं, जिससे इसमें 'मर्यादा' की भावना रहती हैं। सुन्दर भवनो का मध्य-भाग इस गोले के आकार का बनाया जाता है जिससे पूर्णता, विशालता, व्यापक मर्यादा की ध्वनि हो सके।

शिखर-भाग बहुधा वेदिका के रूप मे होता है जिस पर कही अमृत-कलश, कही आमलक और कही नुकीला आकाश की ओर सकेत करता हुआ भाग होता है। इस आकार से अतीन्द्रिय, सासारिक मर्यादा से मुक्त, निरीह, स्वच्छन्द, तत्त्व की प्रतीति होती है। बहुधा इस भाग को कई 'भूमियो' मे विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक भूमि 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की ओर अग्रसर होती है दिखाई पडती है और अन्तिम भूमि के अनन्तर आकाश की अनन्त शून्यता का प्रारम्भ होता है। यह मुक्ति की निर्बन्ध शून्यता है जहा सुख दु ख, पुण्य-पाप और धम-अधर्म की मीमासा समाप्त होकर 'शून्य' हो जाती है। 'अमृत-कलश' इसी अमृत और अनन्त अवस्था का प्रतीक है जो किन्ही मन्दिरो के शिखर पर रखा जाता है।

भारतवष मे वास्तु कला का विकास चैत्य से प्रारम्भ मानते हैं। चैत्य की उत्पत्ति स्मशान-भूमि मे ध्यान के लिये बनाये गये सरल, गोलाकार छोटे भवन स मानी जाती है। वैराग्य प्रधान जैनधर्म मे चैत्य का प्रारम्भ हुआ। बौद्ध धर्म ने चैत्य को स्तूप का रूप दिया। बौद्ध-धर्म का प्रथम रूप सरल और ससार के सुख-दु ख की मीमासा करने के कारण पृथ्वी के समीप था। अतएव वे स्तूप जो विकास के प्रारम्भिक काल मे बनाये गये अतीव सरल है, और इनमे 'आधार' भाग को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध-धर्म का विकास ज्यो ज्यो व्यापक होता गया इसमे सरलता के स्थान पर जटिलता आई और मर्यादा, नियम, दार्शनिक गम्भीरता आदि का समावेश हुआ। इस विकास के साथ स्तूप के अन्य अगो का विकास हुआ, इसमें भी जटिलता आई। आधार के स्थान पर मध्य गोल और शिखर की ओर ध्यान दिया गया। इन भागो की सजावट, सूक्ष्म अवयवो मे विभाजन, प्रत्येक अवयव का अलङ्करण आदि किया गया। इस प्रकार एशिया के कोने-कोने मे बिखरे हुए स्तूपो का निर्माण हुआ। बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ ही हिन्दू धर्म का उदय और विकास हुआ। किन्तु स्तूप की भव्यता को यह देश न भुला सका और इन्हें 'मन्दिर'

का रूप देकर स्वीकार किया। मन्दिर के तीन भागो मे 'आधार' को 'ब्रह्मा' का प्रतीक, मध्य-गोल को 'विष्णु' का प्रतीक और शिखर को 'शिव' का प्रतीक स्वीकार करके उनमे 'त्रिदेव' का आरोप कर लिया गया। इस प्रकार मन्दिर स्वय हिन्दुत्व का प्रतीक बन गया। इसमे देवी, देवताओ की प्रतिष्ठा की गई और गुप्त-काल की नवीन जागृति ने सम्पूण जन समाज को इसी नवीन प्रेरणा से प्लावित कर दिया।

हम इस विकास-क्रम को स्वीकार करें या न करें, किन्तु हमे यह मानना होगा कि मन्दिर के सौन्दय का 'अर्थ' हिन्दू-धम की धार्मिक और आध्यात्मिक भावना से अलग करके समझना कठिन है। वास्तु-कला मुख्यत धार्मिक कला रही है। अतएव चैत्य, स्तूप, मन्दिर, गिर्जा, मस्जिद आदि का अथ, यदि अर्थ समझना इनके सौन्दर्य के लिये आवश्यक समझा जाये तो, इनसे सम्बन्ध रखने वाले धर्मों के सिद्धान्तो से अवश्य ही जुडा हुआ मानना चाहिए। जिस प्रकार मन्दिर हिन्दू-धर्म की आध्यात्मिक भावना की मूत्त अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार मस्जिद इस्लाम धम, इसकी उच्चता, व्यापकता, सरलता आदि भावनाओ की व्यक्त मूर्ति है और गिर्जा अपने सरल, आकाश चुम्बी शिखरो द्वारा ईसाई धर्म मे बलिदान के महत्त्व और प्रेम के पवित्र सिद्धान्त की घोषणा करते हैं। इन सब निर्माणो मे अभिव्यक्ति का आधार वर्ग, आयत, गोल, मेहराब, नलिका, गुम्बद आदि के ज्यामितिक आकार हैं।

प्रत्येक ज्यामितिक आकार जैसे रेखा, वृत्त, गोल, आयत, त्रिकोण आदि केवल रेखाओ का वि यास मात्र ही नही है, कि तु मनुष्य इन आकारो को अपनी भावना से प्राणित कर देता है, इसलिये ये उसके लिये आध्यात्मिक अनुभूतियो के प्रतीक हो जाते हैं। उदाहरणाथ, जैसा हमने ऊपर कहा है, वग से स्थिरता और पूर्णता, गोल से व्यापकता और मर्यादा, नालिकाकार शिखर से अनन्तता, उन्मुक्तता आदि की प्रतीति उत्पन्न होती है। इन साधारण आकारो को मनुष्य क्यो प्रतीक के रूप मे परिणत कर देता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह अपने साधारण अनुभव को 'महत्त्व' देने के लिये स्वभाव से विवश है। यदि एक पुष्प केवल प्रकृति का साधारण पदार्थ ही मनुष्य के लिये बना रहे तो इसमे उसे आनन्द का अनुभव न होगा। किन्तु इसे निष्पाप सौन्दर्य और आनन्द का प्रतीक मानकर मनुष्य इससे प्रेम करता है। वह अपने साधारण अनुभव को आध्यात्मिक भावनाओ से प्राणित और जाग्रत करके उनको महत्त्व प्रदान करता है और साथ ही अपने ससार को गम्भीर, सुन्दर और रसमय बना लेता है। ह्वाइटटैड नामक अग्रेज दार्शनिक के

अनुसार, यदि मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के कारण वस्तुओं को आध्यात्मिक महत्त्व प्रदान न करे तो उसका प्रत्यक्ष अनुभव निष्प्राण, क्षीण और अस्पष्ट ही रहेगा। अनुभूति की प्रखरता के लिये साधारण वस्तुओ को गम्भीर अर्थों का प्रतीक बना देना मनुष्य के लिये स्वभाव सिद्ध है। भवन की सौन्दर्यानुभूति प्रखर होती है, इसका कारण यह है कि वह, उसका प्रत्येक अवयव, आधार से लेकर शिखर तक, आध्यात्मिक अनुभूतियो का प्रतीक होता है।

हमारे युग की प्रवृत्तियाँ

इतिहास साक्षी है कि कला कभी स्वतत्र नही रही। कला जिस सौन्दय को उत्पन्न करती है, उसमे प्रबल रोचकता और आकर्षण रहते हैं। अतएव प्रत्येक युग की प्रबल भावना ने कला की शक्ति का उपयोग करने के लिये इसे अपने अधीन रखा। आदिम काल मे सगीत, चित्र, नृत्य आदि का आयोजन देवताओ को प्रसन्न करने के लिये किया जाता था। धर्म प्रधान युग मे धर्म ने कला का उपयोग अपनी भावना को दृढ बनाने के लिये किया। प्रार्थनाओ मे सगीत के स्वर-माधुर्य का समावेश हुआ। मन्दिर, मस्जिद आदि वास्तु कला के सुन्दरतम निर्माण हुए। इनकी भित्तियो पर चित्रो का वैभव उतारा गया। धम ने कला को उचित सामग्री प्रदान की और कला ने धर्म को सरस बनाया। वीरता के काल मे सगीत ने वीर-भावना को पुष्ट किया। मध्य-कालीन विलासिता और वैभव-प्रधान युग मे कला का शुद्ध सौन्दर्य कुछ स्पष्ट हुआ, किन्तु शीघ्र ही मनोविनोद और भोग की इच्छा ने इसके रूप को फिर छिपा दिया। नृत्य, सगीत आदि या तो साधारण भोग के साधन बने गये या इनका प्रयोग धनिको मे कामुकता को उद्दीप्त करने के लिये होने लगा। हमारे युग के प्रारम्भ तक कला को स्वत्व प्राप्त न हो सका। अतएव इसके अध्ययन के लिये भी अन्य शास्त्रो की भाँति स्वतन्त्र शास्त्र की रचना नही हुई। बहुत समय तक इसे साहित्य का अथवा दर्शन शास्त्र का अग समझा गया। सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति को वैज्ञानिक रीति से समझने का प्रयत्न हमारे युग के उदय के साथ ही प्रारम्भ हुआ है।

पश्चिमी देशो मे कलानुभूति का स्वतत्र रूप से अध्ययन प्रारम्भ करने का श्रेय जमन दाशनिक काण्ट* को प्राप्त है। उसने दार्शनिक दृष्टिकोण से 'सौन्दर्य के प्रश्न पर विचार किया। हीगेल, फिक्टे, शैलिंग, शोपेनहावर, बोसांके आदि विचारको

---

*पश्चिम मे Aesthetics—इस शब्द का आविष्कारक Baumgarten माना जाता है। अवश्य ही, कला का क्षेत्र इससे स्फुट हुआ है।

ने इसी दृष्टि से सौन्दर्य के स्वरूप का निश्चय किया है। इस समय क्रोचे नामक इटली के दार्शनिक ने भी इसी शैली का अनुसरण किया है, फ्रेंच दार्शनिक वर्गसो के लिये तो सौन्दय सिद्धान्त उसके दर्शन का अभिन्न अग है। इस दृष्टिकोण की विशेषता है कि यह विश्व जीवन मे कला को उचित स्थान देता है एव मनुष्य के सम्पूण अनुभव मे कलानुभूति के स्थान का निश्चय करता है। सौन्दर्य का सम्बन्ध 'सत्य' और 'शिव' मे भी है। इसका स्पष्टीकरण सौन्दर्य दर्शन द्वारा हुआ है। किन्तु इस विचार-प्रणाली मे दोष यह है कि हम सान्दर्य के सामान्य रूप को समझ कर भी सुन्दर वस्तु—चित्र, नृत्य, सगीत आदि—के वास्तविक अनुभव का यथोचित नही समझ पाते। आकाश, समुद्र अथवा किसी कलाकृति मे सौन्दर्यानुभूति के अवसर पर मन की क्या अवस्था होती है, इसके रसास्वादन का क्या स्वरूप है, इत्यादि प्रश्नो का उत्तर दार्शनिक दृष्टिकोण से मिलना कठिन है।

हमारे समय मे 'सौन्दय' की अनुभूति को समझने के लिये मनोविज्ञान का प्रयत्न सराहनीय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रारम्भ भी जर्मन देशो के मनोवैज्ञानिक फैकनर द्वारा हुआ। इसके अनन्तर लिप्स, डैसोइर, वुण्ट तथा सली आदि ने इस विशेष अनुभूति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया। इस शैली मे विश्लेषण की प्रधानता रहती है। हम अपनी ही सौन्दर्यानुभूति को छोटे से छोटे अवयवो मे बाँटते हैं ओर अनेक इसी प्रकार की अनुभूतियो के विश्लेषण के अनन्तर सौन्दय के स्वरूप का निश्चय करते हैं। इस शैली के ग्रहण करने से मनुष्य के भावना जीवन के सम्बन्ध मे पर्याप्त गवेषणा हुई है और इसके सम्बन्ध मे कई नियमो का निश्चय हुआ है। फैकनर ने हमें किन वस्तुओ के अनुभव से अधिकतम आनन्द प्राप्त होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कई सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है जिनमे से कुछ ये हैं
1 **अनुभूति के बलोदय का नियम** (The Law of Aesthetic Threshold), इसका अर्थ है कि कोई भी अनुभव सुख अथवा दु ख की वेदना उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त रूप से 'बलवान्' होना चाहिए। चित्र मे रेखा आर रगो की, सगीत मे स्वर लय आदि की कमी या अधिकता एक सीमा के अन्दर ही होनी चाहिए। उस सीमा से कम या अधिक होने पर किसी प्रकार की वेदना उदित नही हो सकती।
2 **अनुभूति का सहयोग सिद्धान्त** (The Law of Aesthetic Reinforcement) इसका अर्थ है कि आनन्ददायक स्वर, वर्ण आदि के सहयोग अर्थात् एक साथ मिलने से अधिक आनन्द उत्पन्न होता है जितना आनन्द इनके अलग अलग रहने से उत्पन्न नही होता, जैसे कविता मे लय, अर्थ, छन्द आदि के सहयोग से अधिक

आनन्द प्राप्त होता है जितना केवल एक-एक से सम्भव नही है। इस प्रकार अनुभूति मे सम्वाद सिद्धान्त (The Law of uniform connection within a manifold), स्पष्टता-सिद्धान्त (Clarity), आदि अनेक नियम हैं जिनसे सौन्दर्य के अनुभव को समझने का प्रयत्न हुआ है।

मनोविज्ञान की एक अन्य शाखा ने प्रायोगिक सौन्दय-विज्ञान की नीव डाली हैं। इसका जन्मदाता भी फैकनर है, किन्तु एक्सनर, कल्पे, काल्किन्स, पफर, मैक्डूगल, मार्टिन, शूल्जे आदि महानुभावो ने विविध प्रकार के प्रयोगो द्वारा सौन्दर्य और इसकी अनुभूति का विश्लेषण किया है। प्रयोग की विधियाँ भी विविध रही हैं। जैसे, **सस्कार या प्रभाव विधि** (The Method of Impression) जिसके अनुसार प्रयोक्ता किसी व्यक्ति के सम्मुख एक साथ अथवा एक के बाद अनेक वस्तुएँ, चित्रादि उपस्थित करता है और वह व्यक्ति अपने ऊपर उस वस्तु के आनन्द-दायक अथवा विपरीत प्रभावो का मानसिक विश्लेषण करके प्रयोक्ता को बताता है। इससे सुन्दर और असुन्दर वस्तुओ का अनन्तर स्पष्ट हो जाता है। **वर्णन-विधि** (The Method of Description) एक अन्य प्रयोग है जिसको वर्नोन ली ने अपनाया है। इसके अनुसार रसिक व्यक्ति के सम्मुख कई वस्तुएँ प्रस्तुत की जाती हैं और वह व्यक्ति अपने अनुभवो की तुलना करके उनके आनन्ददायक प्रभावो का वणन करता है। अथवा, प्रयोक्ता उस व्यक्ति से सुन्दर वस्तु के विषय मे कई प्रश्न पूछता है जिनके उत्तर से उसके प्रभाव का निश्चय किया जा सके। इसी प्रकार अनेक विधियो के द्वारा सौन्दर्य-आस्वादन के अवसर पर रसिक के शरीर, हृदय, रुधिर-सचरण, श्वासोच्छ्वास तथा मानसिक प्रभावो का अध्ययन किया गया है। प्रयोग पद्धति से यद्यपि दार्शनिक दृष्टिकोण की भाँति गम्भीर विचार तो नही हो सका है तथापि इसके द्वारा मानसिक विश्लेषण और विश्वसनीय हुआ है।

आधुनिक मनोविज्ञान मे मनोविश्लेषण सिद्धान्त ने दर्शन की गम्भीरता उत्पन्न की है। फ्रॉयड, यूग आदि पण्डितो ने जहाँ भ्रम, विक्षिप्तता, रहस्य आदि अनेक अनुभवो का विश्लेषण किया है वहाँ कलानुभूति पर भी विशेष प्रकाश डाला है। हमने यथास्थान इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यद्यपि मनोविश्लेषण सिद्धान्त कला के दृश्य कलेबर को समझाने मे विफल रहा है, तथापि कला की मूल-भावना का स्वरूप, कला सृजन के पीछे क्रियाशील शक्तियाँ अभिव्यक्ति के लिए प्रेरणा आदि को इसने हमारे लिये स्पष्ट किया है। सौन्दर्य शास्त्र इस विचार-धारा का इसलिए भी आभारी है कि इसने 'सौन्दर्य' को मनोविज्ञान के लिए अध्ययन का महत्त्वपूर्ण विषय घोषित किया है।

(2)

जहाँ एक ओर आधुनिक विचार परम्परा ने सौन्दय का अध्ययन दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणो से आगे बढाया है वहाँ शुद्ध कला की दृष्टि से भी सौन्दर्य के ऊपर पर्याप्त विचार किया गया है। इस धारा मे लिप्स, मोमान, फोल्केल्ट तथा वर्नोन ली आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लोगो ने आस्वादन की क्रिया के विशेष अध्ययन द्वारा यह निश्चय किया है कि वह क्रिया जिसमे प्रत्यक्ष अनुभव, बिना किसी प्रवृत्ति को तृप्त किये भी बिना किसी उपयोगिता के विचार के भी, हमारे मन मे अद्भुत आनन्द उत्पन्न करने मे समर्थ हो वह कोई असाधारण क्रिया नही है, किन्तु अत्यन्त साधारण है। इस क्रिया का नाम 'आइनफ्यूलुग' अथवा 'अन्तर्भावना' है। हमने इसके स्वरूप की व्याख्या पहले की है। यहाँ इतना कहना और शेष है कि यह हमारे भावना-जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि हम किसी भी दृश्य अथवा श्रव्य अनुभूति मे वस्तु का आकार ग्रहण किये बिना उसे हृदयगम नही कर सकते। बहती हुई तरल जल धारा, सिहरते हुए फूल और पत्ते, आकाश मे दाडते हुए घने बादल, लय और ताल युक्त सगीत, सूरदास के पद आदि की बात तो दूर रही, हमारे अत्यन्त साधारण अनुभव मे वस्तु का आकार, उसके वर्ण आदि हमे अपने आकषण से तदाकार बनाते हैं जितना भी कोई वस्तु अपने सन्तुलन आदि गुणो के प्रभाव से दर्शक के व्यक्तित्त्व को भुलाकर उसको स्वीकार समर्पित करने मे समर्थ होती है अर्थात् जितनी अधिक उसमे 'मनोरमता', 'रमणीयता', 'मनोहारिता' अथवा 'आकषण' होता है वह वस्तु उतनी ही सुदर कहलाती है। न केवल व्यक्तित्त्व को भुला देकर ही किंतु साथ ही दर्शक के हृदय मे नवीन चेतना की स्फूर्ति के द्वारा भी सोन्दर्य आनन्द का सचार करता है, क्योकि आत्मा के विषय मे भ्रान्ति अथवा विस्मृति तो नशे मे भी सम्भव होती है। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि सुन्दर वस्तु का आकर्षण दो दिशाओ से होता है एक तो सुन्दर वस्तु रूप और भोग के प्रकृष्ट गुणो से सयुक्त होती है जिसके कारण वह दर्शक के साधारण अनुभव मे भावना के प्रबल उद्रेक द्वारा सजीवता उत्पन्न करती है, दूसरे इसका सम्बन्ध अनेक ऐसी प्रतीतियो से हो जाता है जिनको इसका अनुभव जाग्रत करने मे समर्थ होता है। उदाहरणार्थ चन्द्रमा, गगा का प्रवाह, हिमालय के शिखर, तथा कला-कृतियो जैसे देव मूर्तियाँ, मन्दिर, विशेष नृत्य, सगीत आदि न केवल विभा, रेखा, तरलता अथवा ध्वनि के विशेष विन्यास के कारण हमे चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, वरन् हमारे व्यक्तिगत, जातीय, राष्ट्रीय अथवा धार्मिक भावनाओ के कारण भी ये वस्तुएं अनेक गम्भीर भावो का उद्रेक करने लगती हैं। अतएव अन्तर्भावना दोनो स्तरो पर 'चमत्कार' का आस्वादन उत्पन्न करती है।

हमने माना है कि सोन्दय-चेतना हमारी चेतना का एक विशेष रूप है जिसका महत्त्व हमारे लिए धार्मिक, वैज्ञानिक, नैतिक आदि चेतना से कम नही है। इससे रस का सचार होता है और जीवन को अधिक स्फूर्त्ति प्राप्त होती है। जीवन की वे शक्तियाँ जो नित्य की चिन्ता और व्यग्रता के कारण कुठित और क्षीण होती रहती हैं सौन्दर्यास्वादन के क्षणो मे नवीन हो उठती हैं। यह सौन्दर्य-चेतना मानसिक जगत् की वास्तविक घटना है जिसमे एक ओर रसास्वादन के लिये उत्सुक और समथ प्रेक्षक स्वय है ओर दूसरी ओर सुन्दर वस्तु और उसका वैभव रहते हैं। हम केवल प्रेक्षक अथवा वस्तु के गुणो का विश्लेषण करके सौन्दर्य-चेतना के वास्तविक रहस्य को नही समझ सकते। अतएव आस्वादन मे दोनो का सहयोग रहता है। आस्वादन के लिये प्रेक्षक और वस्तु की विशेष परिस्थितियो का विश्लेषण करते हुए फोल्केल्ट महाशय चार नियमो का उल्लेख करते हैं।

क सौन्दर्यास्वादन के लिए आवश्यक है कि रसिक का हृदय रस चर्वणा के लिये प्रस्तुत और भावना-प्रवण (Contemplative attitude saturated by feeling) हो। यदि प्रेक्षक चिन्ता से व्याकुल अथवा किसी प्रवृत्ति की तृप्ति के लिये आतुर अथवा नैतिक, वैज्ञानिक आदि किसी अन्य दृष्टिकोण मे इतना तल्लीन हो कि वह अपने सकुचित व्यक्तित्त्व को भुलाने मे असमर्थ है तो वह आस्वादन के लिये भी असमर्थ होगा। सुन्दर वस्तु के लिये नियम है कि उसमे रूप, भोग और अभिव्यक्ति का सामञ्जस्य हो अर्थात् वह वस्तु रूप अर्थात अवयवो के सुदर विन्यास ओर भोग के वैभव बिना केवल भावो की अभिव्यक्ति का साधन मात्र न हो और वह, साथ ही बिना आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना के केवल रूप ही न हो।

ख रसिक मे चवणा की क्रिया का प्रकृष्ट जागरण होना भी आवश्यक है जिससे उसकी दृष्टि सुन्दर वस्तु के भिन्न भिन्न अवयवो और उनके परस्पर सम्बन्ध, विन्यास, आरोह-अवरोह गति, सन्तुलन आदि गुणो का भावना-प्रवण होकर अवगाहन कर सके। हमने माना है कि वस्तुत सौन्दर्य का आध्यात्मिक रूप आनन्द है और आनन्द आस्वादन की क्रिया से भिन्न कोई स्थिर तत्त्व नही है। रसिक मे आस्वादन की क्रिया सजग होनी चाहिये। साथ ही, वस्तु मे 'रूप' का स्पष्ट आभास होना चाहिए। इसका अर्थ है कि अवयव विन्यास जिससे 'रूप' का उदय होता है रसानुभूति के लिये आवश्यक है।

ग इस नियम के अनुसार प्रेक्षक के हृदय मे वास्तविकता' अथवा 'यथार्थता' की भावना निर्बल और क्षीण हो जानी चाहिए (An attenuation of

feeling for reality), दैनिक जीवन की स्वार्थमय प्रवृत्तियो का, अस्थायी ही रूप मे, निर्वासन होना चाहिए (A temporary banishment of the egotistical impulses that dominate his everyday life) एव क्षण भर के लिये वैज्ञानिक, धार्मिक तथा विचारात्मक प्रयत्न स्थगित हो जाने चाहिए (A momentary exile even of his earnest striving in the sphere of speculative, moral and religious values) । इस दृष्टिकोण के उदय होने पर सम्पूर्ण अनुभव का जगत्, सम्पूर्ण कला और प्रकृति का लोक, सुन्दरता के काल्पनिक लोक मे रूपान्तरित हो जाता है (An attitude that suddenly transforms the eternal world, the entire realm of art and nature, into a world of pure perceptual appearance)*

घ चोथे नियम के अनुसार सुन्दर वस्तु अपने रूप द्वारा किसी भी ऐसे तत्त्व का उद्घाटन करती है जिसका मनुष्य के लिये मूल्य हो। वह वस्तु किसी तुच्छ, गौण अथवा आकस्मिक घटना का चित्रण मात्र नहीं है, अपितु ऐसे पदार्थ का भव्य और मनोहर निरूपण है जिसका मानव जीवन के लिये महत्त्व है, जिसका अकन दशन, विज्ञान, शास्त्रो आदि द्वारा किया जाने योग्य है। तात्पर्य यह है कि कला का विषय भी दर्शन आदि की भाँति ही गम्भीर होता है। केवल कला उस विषय के लिये सौन्दय का माध्यम प्रदान करती है।

(3)

कला-चेतना का प्रभाव अपने तक ही सीमित नही रहता। आनन्द की अनुभूति जो इस चेतना का केन्द्र है किरणो की भाँति चारो ओर फैलती है और ऐसे अनेक पदार्थों को सुन्दर' बना देती है जो वस्तुत 'सुन्दर' की परिभाषा के बाहर हैं। हमने पिछले अध्यायो मे इस 'आनन्दानुभूति' को समझने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम एक अन्य दृष्टिकोण से इसी का विश्लेषण, सक्षेप मे, करके उस विधि का अध्ययन करेंगे जिससे यह अन्य पदार्थों को 'सुन्दर' बनाने में समर्थ होती है। अन्य पदार्थों को जो परिभाषा के अनुसार 'सुन्दर' नही हैं अपने प्रभाव से 'सुन्दर' बनाने की प्रक्रिया को हम सौन्दर्य-विसरण (Aesthetic irradiation) कहेंगे।

'सौन्दर्य की अनुभूति एक सम्पूर्ण क्रिया है जिसके दो अन्तिम पक्ष हैं।

* A Critical History of Modern Aesthetics—Earl of Listowel P 80

एक, पार्थिव स्तर पर, सुदर वस्तु और दूसरा, आध्यात्मिक स्तर पर, रसिक की आत्मा । इन दोनो पक्षो के बीच मे भी कई स्तर हैं । सुदर वस्तु से लेकर आत्मा तक आस्वादन की क्रिया होती है, जिसके कारण इसका प्रभाव व्यापक और मार्मिक होता है । इस क्रिया को विच्छिन्न करके किसी एक स्तर पर 'आनन्द' का अध्ययन करना उसे अवास्तविक बना देता है । कला के सम्बन्ध मे अनेक मत और दशन इस सम्पूर्ण क्रिया का अध्ययन न करके केवल एक ही स्तर पर ध्यान को केन्द्रित करने से उदित हो गये हैं ।

पार्थिव स्तर पर आनन्दानुभूति का रूप 'सुदर वस्तु' स्वय है । वस्तु को सान्दर्य प्रदान करने वाले गुणो का हमने उल्लेख किया है । ये गुण सापेक्षा, सन्तुलन, सगति आदि है तथा माध्यम के गुण जैसे रगो की रोचकता, रेखा की गति, पत्थर आदि की अव्यक्त अवस्था, ध्वनि का माधुर्य आदि हैं जो रसिक के लिये 'चमत्कार' उत्पन्न करने मे समथ होते हैं । 'सुन्दर वस्तु' अपने इन गुणो से रसिक के शरीर, मन और इससे भी गम्भीर स्तरो पर प्रभाव डालती है जिसके कारण वह केवल पार्थिव पदार्थ ही नही रह जाती, किन्तु आध्यात्मिक' रूप धारण करती है । केवल वस्तु मे ही सौन्दर्य की सत्ता मानने वाले अनेक मत हैं जिन्हे वस्तु सत्तात्मक मत (Objective theories of beauty) कहा गया है ।

शरीर के स्तर पर 'सौन्दर्य' का प्रभाव होता है जिसमे न केवल इन्द्रियाँ ही विशेष 'विश्रान्ति का अनुभव करती हैं, अपितु हृदय, रुधिर चक्र, मस्तिष्क, पाचन-यन्त्र, श्वासोच्छ्वास क्रिया, तथा अन्य जीवन ग्रन्थियाँ भी अद्भुत 'आनन्द' मे आप्लावित हो जाती हैं । सगीत, चित्र, नृत्य आदि के शारीरिक प्रभावो का अध्ययन रोगो की चिकित्सा के सम्बन्ध मे किया जा रहा है । सुन्दर वस्तु के देखने से असुन्दर वस्तु को देखने की अपेक्षा कम श्रम होता है । सुन्दर वस्तु मे विन्यास का विधान रहता है, इन्द्रियो की गति इस विन्यास को ग्रहण करने मे सन्तुलित रहती है । यह सन्तुलन असुन्दर वस्तु के साक्षात्कार मे विछिन्न हो जाता है जैसा कि उस सगीत के सुनने मे होता है जिसमे ताल, लय, ध्वनि माधुय, आरोह-अवरोह का बन्धन नही है । शरीर विज्ञान के पण्डितो ने प्रयोगो से सिद्ध किया है कि सुन्दर वस्तु के देखने और सुनने से शारीरिक और स्नायविक शक्ति का अपव्यय नही होता और व्यय इस प्रकार होता है कि इससे विशेष स्फूर्त्ति प्राप्त हो, न कि शक्तियो का ह्रास हो जैसा कि आवेगो की अवस्था मे हुआ करता है । कामुकता और शृङ्गार रस के अनुभवो मे, शारीरिक स्तर पर, वही अन्तर है कि एक मे स्नायविक शक्ति का अपव्यय और ह्रास होता है, दूसरे मे इसका सवर्द्धन और स्फुरण । ऐसे भी सौन्दय-

शास्त्र मे अनेक मत हैं जो इस 'शारीरिक-विश्रान्ति' को ही जो सम्पूर्ण सौन्दर्यानुभूति का अग है सौन्दर्य का रहस्य मानते है। इन सिद्धान्ता को सौन्दर्य के शारीरिक सिद्धान्त (Physiological theories of beauty) कहा जाता है।

शरीर के अनन्तर सौन्दर्य का प्रभाव मन पर विशेष होता है। सौन्दर्य के मानसिक प्रभावो मे मुख्य विधानात्मक प्रभाव (Positive effect) चित्त-स्फूर्त्ति है जिसका तात्पर्य है कि रसिक के मन मे अनेक भावनाओ का उद्रेक होता है, नवीन विचारो, कल्पनाओ, वेदनाओ आदि का उदय होता है, तथा प्रेक्षक का अवधान वस्तु से अन्तर की ओर (अन्तमुखी) और अन्तर से वस्तु की ओर (बहिर्मुखी) द्रुत गति से बहने लगता है। अवधान का यह अन्तमुखी और बहिमुखी प्रवाह (Centripetal and centrifugal flow) अथवा आकर्षण विकषण स्वय एक आह्लादक चित्त-क्रिया है। इसके साथ ही, एक निषेधात्मक प्रभाव (Negative effect) भी आवश्यक रूप से होता है। वह यह कि सौन्दर्यानुभूति के अवसर पर रसिक मे व्यवहारात्मक, क्रियात्मक तथा विज्ञानात्मक प्रवृत्तियाँ स्थगित हो जाती हैं। काम आदि स्वाभाविक प्रवृत्तियों के उपराम हो जाने से आवेग और उदवेग भी शान्त समुद्र मे लहरो की भाँति सो जाते हैं। जीवन की अतृप्तियाँ वासनाएँ और प्रेरणाएँ विरत हो जाने से अद्भुत मानसिक उल्लास का अनुभव होता है। इस प्रकार सौन्दर्य का सुख इन अनेक मानसिक घटनाओ की समष्टि का सुख है। अनेक मतो के अनुसार यह सुख ही सौन्दर्य है। ये मत सौन्दय का अस्तित्व ही मानसिक मानते हैं। इन्हे हम मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक (Psychological or subjective theories of beauty) सिद्धान्त कह सकते हैं।

मानसिक स्तर से भी गम्भीर प्रभाव आध्यात्मिक स्तर पर होता है। इस स्तर पर आत्मा का 'अहम्' और 'मम' भाव नष्ट हो जाता है एव इसका केन्द्र 'स्व' से हट कर 'वस्तु' हो जाता है। यह आत्म-विस्मृति स्वय अलौकिक सुख है। भारतीय दर्शन तो सौन्दर्य के अनुभव से 'चिदावरण भग' अर्थात चिदानन्दमय आत्मा के परम स्वरूप को तिरोहित करने वाले आवरणों का नष्ट हो जाना रसास्वादन का फल मानता है। पाश्चात्य विद्वानो ने भी अनेक प्रकार से सौन्दर्य सुख को आत्मानन्द माना है, जिसमे मनुष्य अपनी शुद्ध, मूल मानवता का अनुभव करता है। जीवन और जन्म की आकस्मिक सम्पदा और विपदाओ से दूर इसकी मूल-भावना का अनुभव सौन्दर्य के आस्वादन से होता है। इससे आत्मा मे 'विस्तार' अथवा ब्रह्मता की भावना का उदय होता है। केवल इसी को सौन्दर्य का सार मानते

वाले सिद्धान्त दाशनिक (Philosophical theories of beauty) कहे जा सकते है ।

हमे स्मरण रहना चाहिए कि सौन्दर्य के सम्पूण और वास्तविक अनुभव को हम पृथक् पृथक् विश्लेषण करके नष्ट नही कर सकते । यह सच है कि एक किसी स्थल पर विशेष बल देकर हम किसी 'वाद' का प्रतिपादन कर सकते हैं, किन्तु सत्य के परीक्षक को इन वादो के विवाद से ऊपर उठना चाहिए । सौन्दर्य एक वास्तविक अनुभव है जिसमे वस्तु से लेकर आत्मा के प्रभाव तक एक लम्बी प्रक्रिया होती है । इस प्रक्रिया को यथावत् समझना सौन्दर्य शास्त्र का कर्त्तव्य है ।

(4)

जिस प्रकार नमक की खान मे पड कर सभी वस्तुएँ नमक बन जाती हैं, उसी प्रकार सौन्दय-चेतना स्वय ही आनन्दमय नही होती, वह हमारे अनेक भावो और अन्य अनुभवो को जो स्वय आनन्ददायक नही है आनन्दमय बना देती है । यदि हमे सौन्दर्य-चेतना के ऊपर बताए हुए तत्त्व मान्य हैं तो निश्चय है कि इसके प्रभाव से दु ख, विपत्ति, क्रोध, काम, भय, विषाद आदि भी सुख के स्रोत बन जाते हैं । यही कारण है कि कला के माध्यम मे ढल कर हमारा सम्पूर्ण जीवन और जगत्, इसके महान् और तुच्छ इसके उत्थान और पतन, सभी पदाथ रूपान्तरित हो जाते हैं । सौन्दर्य की अनुभूति मे शरीर, मन और आत्मा मे जो स्फुरण उत्पन्न होता है उसके प्रभाव से अनेक भावो और पदार्थों का 'सुन्दर' बन जाना ही 'सौन्दय विसरण' (Aesthetic irradiation) है ।

प्रत्येक युग मे व्यक्ति और समाज के जीवन का एक केन्द्र-विन्दु अवश्य होता है । जिस प्रकार प्राचीन युगो मे धर्म, राज शक्ति, वैभव आदि जीवन के लिये 'सर्वस्व' होकर रहे हैं और कला ने अपने सम्पूण चमत्कार का इसी 'सर्वस्व' को सुन्दर बनाने के लिये उपयोग किया हैं, उसी प्रकार हमारे युग मे जीवन का केन्द्र-विन्दु 'क्रान्ति' रहा है और कला ने अनेक प्रकार से इसी को अपने सौन्दय का वरदान दिया है । फलत चित्र, सगीत, मूर्ति तथा साहित्य मे 'श्रीमान्' लोगो के जीवन, उनके विलास आदि को त्याग कर दीन, साधारण जीवन को 'सौन्दय' का विषय बनाया है । वैसे तो कला और साहित्य के विषयो को लेकर कई वादो का जन्म हुआ है, किन्तु इनमे 'यथार्थवाद' (Realism) आधुनिक युग की प्रेरणा है ।

कला मे यथार्थवाद का क्या अर्थ है ?

'प्राचीन' कहलाने वाली कला मे सौन्दय का सृजन समाज के 'श्रीमान्' वर्ग को ध्यान मे रखकर होता था मानो इसी वग को सौन्दर्य आम्वादन का अधिकार है। अतएव कला का विषय भी इसी वर्ग का जीवन, इसी की समस्याएँ, इसी के विलास और शोक आदि होता था। समाज का एक विशाल अग अर्थात् दीन वग, किसान, मजदूर आदि के लोक को इस कला मे कोई स्थान नही मिला। श्रीमान् लोगो की कला मे कलाकार कल्पना के बल से ऐश्वय के लोको का चित्रण करता जिनका जन-जीवन से कोई सम्बन्ध नही था। इसलिये आधुनिक कलाकार को वह कला जिसमे काल्पनिक ऐश्वर्य का चित्रण धनी वर्ग के मनोरजन के लिये किया गया हो 'अ-यथाथ' प्रतीत हुई। अतएव आधुनिक कला जन जीवन को अपना विषय बनाती है उसी के विनोद और उत्ताप, दुख और सतोष आदि का चित्रण करना उसका प्रधान उद्देश्य रहता है। यह यथाथवाद का उद्गम है।

यथाथवाद की मूल-भूमि हमारी वैज्ञानिक प्रवृत्ति है। विज्ञान के लिए हमारा साधारणतम अनुभव, जिसमे इन्द्रियो का उपयोग होता है, सत्य का स्रोत है। सत्य कल्पना पर नही, प्रत्यक्षीकरण पर आश्रित है। सत्य ही प्रिय होता है अथवा होना चाहिए। सम्पूर्ण वैज्ञानिक सत्य का आधार हमारा साधारण अनुभव है। अतएव कला तभी सत्य होती है जब वह जीवन और अनुभव के निकट रहकर उसकी अभिव्यञ्जना के लिये सौन्दय का माध्यम स्वीकार करती है। जन-जीवन से जितनी दूर कला होती है उतनी ही वह असत्य और अप्रिय होगी। सत्य कला जीवन का 'यथावत्' चित्रण करती है। इस वैज्ञानिक तथ्य मे यदि हम अपने युग की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियो को और जोड दे तो कला के पीछे रहने वाली प्रेरक शक्ति को हम समझ सकेगे। इन परिस्थितियो के कारण जीवन अत्यन्त विस्तृत, जटिल और गतिशील हो उठा है। आत्मा की सम्पूण शक्ति, बुद्धि का सम्पूण बल और जीवन की सम्पूण प्रेरणा इसी जटिल परिस्थिति को सुलझाने मे लगे हैं। अतएव कोई कला अथवा साहित्य जो युग के जीवन केन्द्र से हट कर, जन जीवन की मूल प्रेरणाओ की अवहेलना करके, सौदय का सृजन करने को उन्मुख है तो वह निश्चय 'बेसुरा' सौन्दर्य होगा। यथार्थवाद कला के लिए आधुनिक युग का मुख्य स्वर है।

जीवन के विस्तार के साथ यथार्थवाद के भी कई स्तर और रूप हो गये हैं। एक तो पूजीवाद, सामन्तवाद आदि मध्यकालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना जन-जीवन की यथार्थ भावना है। इसमे क्रोध

विनाश, क्रान्ति, विद्रोह आदि के भाव प्रबल रहते हैं। साहित्य का काफी भाग इसी भावना से भावित है।

दूसरे, सम्पूर्ण जीवन मे मध्यकालीन धार्मिक एव राजनैतिक भावना और परिस्थितियो के कारण कुछ अशो का दमन हुआ था। उस समय समाज मे स्त्री-पुरुष, मालिक-नौकर, राजा प्रजा आदि के अनेक नैतिक आदर्श उपस्थित किये गये थे जो उस काल के लिए उपयुक्त होते हुए भी अब असामयिक प्रतीत होते हैं। न केवल असामयिक ही, प्रत्युत वे आदश जीवन के विकास को और उसकी विकासशील शक्तियो को सकुचित करते प्रतीत होते हैं। यथाथवादी कला मे मध्यकालीन नैतिक आदर्शों के खोखलेपन का उदघाटन भी किया जाता है।

यथाथवाद का तीसरा रूप वह है जिसमे आधुनिक जीवन के सघर्ष का दिग्दशन मिलता है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र की समस्याओ का यथावत् चित्रण और उनका स्पष्टीकरण आधुनिक कला का एक आदर्श है। यह कला मनोवैज्ञानिक होती है, क्योकि इसमे कलाकार जन-जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करके उनके मानसिक अनुभवो और उत्तापो का अवगम करता है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप जनता के लिए समझने योग्य, सरल, रोचक साहित्य और कला का सृजन हो रहा है। लोक-गीत जिसमे मानो जनता के प्राणो की पीडा पुलकित होती है आज हमे अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते हैं। जन भाषा और मुहाविरो का प्रयोग भी इसी प्रवृत्ति की उपज है।

केवल अतीत अथवा वर्त्तमान से सन्तुष्ट न होकर कला का रुख अब भविष्यत् के निर्माण की ओर हो चला है। एक नवीन युग की कल्पना ने जिसमे सच्ची मानवता का उदय होगा तथा जीवन भ्रामक धम और नीति के बन्धनो से मुक्त होकर आगे बढेगा, कला को नवीन शक्ति और प्रेरणा प्रदान की है तथा कला सजन के लिए अनन्त अन्तराल खोल दिये है। वैज्ञानिक अनुसन्धानो ने एक ओर जहाँ अनेक प्राचीन भ्रमो को स्पष्ट किया है वहाँ विश्व के वैचित्य को और भी बढा दिया है, क्योकि आज का मनुष्य जीवन के विस्तार की सीमा पृथ्वी तक ही नही मानता। वह अनन्त विश्व मे विहार करने वाला प्राणी है। इससे कल्पना को अवकाश मिला है। वैज्ञानिक आविष्कारो ने, दूसरी ओर, आर्थिक और राजनैतिक जीवन मे भारी क्रान्ति उत्पन्न की है, अपने अनुसन्धानो के बल से नवीन आशा को जन्म दिया है। इस प्रकार सब मिलाकर विज्ञान ने कला का दमन नही किया, प्रत्युत एक नवीन शक्ति और क्षेत्र प्रदान किया है। वस्तुत यथाथवाद की यही प्रगतिवादी शाखा है जो

आदर्शवाद से दूर नही है। यद्यपि हमारे देश का 'प्रगतिवादी' कहलाने वाला साहित्य प्राचीन रूढियो के प्रति विद्वेष, वत्तमान पूँजीवाद और सरकार के प्रति विद्रोह की भावना से प्रभावित है, तथापि यह मानना होगा कि सच्चे प्रगतिवाद मे 'आशा-वाद', अतीत के ऊपर विजय पाने का उल्लास तथा भविष्यत् के निर्माण के लिए दृढ विश्वास, अदम्य उत्साह तथा आनन्द के भाव होने चाहिए। सच्चा आदशवाद भी यही है जो सच्चे यथाथवाद से भिन्न नही कहा जा सकता।

आदशवाद की पलायनवाद भी एक शाखा है। जीवन की जटिल समस्याओ से घबरा कर सरल जीवन की कल्पना करना ही इसका उद्देश्य है। सकल्प की दुर्बलता जहाँ इस प्रवत्ति का दोष है वहा कल्पना के लिये विशेष क्षेत्र का आविष्कार इसका गुण है। हम जटिल जीवन से भाग कर जीवन की सरल सरणि की खोज मे कभी 'अतीत' मे जाते हैं, कभी आदिम काल मे, कभी सुदूर भावी की कल्पना करते हैं। मानना होगा कि बुद्ध के वैराग्य की भाँति ही पलायन प्रवृत्ति ने कला के एक भाग को समृद्ध बनाया है।

नैतिक बन्धनो से मुक्त होने की इच्छा ने यथाथवाद के नाम से कुरुचिपूर्ण कला के सृजन को भी प्रोत्साहन दिया है जिसके फलस्वरूप हमे 'सनीमे की कला' प्राप्त हुई है। 'सनीमे की कला' और उसके कलाकारो' के विषय मे हम इतना ही कहेगे कि यद्यपि अच्छे बने हुए घर मे जहाँ सुदर कमरे, रसोईघर आदि होते हैं वहाँ यथाथ यह भी है कि उस घर मे शौचालय और मूत्र-गृह भी होता है, तथापि हम दशक अतिथि को घर मे इन बाद वाले स्थानो का दूर से सकेत करके अच्छे स्थानो मे ले जाते हैं। 'सनीमे की कला' यथार्थवाद के नाम से जीवन के शौचालयो और पेशाबघरो तथा भद्दी और कुरुचिपूण प्रवृत्तियो—और इससे भी बढ़ कर नैतिक आदर्शों से पतित 'वीरो' और नायको' के चित्रण—आदि का उदघाटन करना अपना परम ध्येय समझे हुए हैं। 'सनीमे की कला' को जो हम आज देखते हैं, कला कहना कला का भारी अपमान है।

(5)

कला के कई वादो मे प्रभाववाद (Impressionism) प्रसिद्ध है। जब हम फोटो देने के लिये केमरे के सामने उपस्थित होते हैं तो हम एक ऐसा रूप धारण करते हैं तथा ऐसी मुख-मुद्रा और भाव भगिमा स्वीकार करते हैं जो हमारे स्वाभाविक रूप से पृथक होती है। इसके स्थान पर यदि हम बोलते हुए, बैठे या अन्य किसी काय मे स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त किसी क्षण मे केमरे के द्वारा, हमारे बिना जाने ही,

चित्रित हो जाये तो वह हमारा वास्तविक रूप होगा, किन्तु यह अवश्य ही कुछ अदभुत प्रतीत होगा क्योकि बोलते समय कभी होठ खुले रहते हैं तथा कभी बडी विचित्र मुद्रा बन जाती है। क्षण-क्षण मे बदलने वाली मुख-मुद्रा पर ध्यान न देकर हम एक स्थिर चित्र ही अपने सामने रखते है। प्रभाववाद के अनुसार कला के लिये जीवन के किसी क्षण मे जो उसका रूप उदय होना है उसका सृजन करना ही परम श्रेय है। इस क्षणिक किन्तु सत्य 'प्रभाव' (Impression) का मूर्त्त माध्यमो द्वारा उद्घाटन करना कला का लक्ष्य है। न केवल मानव-आकृति मे, प्रकृति के किसी भी क्षेत्र मे कलाकार वस्तु के स्थिर रूप का दर्शन न करके उसके क्षणिक रूप को हृदयगम करता है। यह रूप अवश्य ही हमारी 'स्थिरता' को खोजने वाली आखो के लिये अदभुत प्रतीत होगा।

कला जगत् की बहुत ही आधुनिक उपज प्रयथार्थवाद (Super-realism) है। इसका कथन है कि हमारे जीवन का वह अश जो स्पष्ट और शब्दो मे व्यक्त करने योग्य है बहुत थोडा है। विचार के द्वारा हम जीवन के स्पष्ट अगो को समझते हैं अथवा उन अगो को स्पष्ट बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न का फल विज्ञान है किन्तु जीवन का बहुत बडा अश या तो गम्भीर वेदनाओ और भावनाओ मे अव्यक्त रहता है जिसे शब्दो से व्यक्त नही किया जा सकता या केवल छाया मात्र का आभास उत्पन्न किया जाता है, अथवा, वह चेतन भाग के नीचे अचेतन और अर्द्ध-चेतन अवस्था मे रहता है, जहाँ उसे यद्यपि व्यक्त होने का साधन प्राप्त नही होता तथापि उसमे व्यक्त होने की प्रेरणा निरन्तर बनी रहती है। इस अव्यक्त, अस्पष्ट, अचेतन किन्तु मानव व्यक्तित्व के अधिकाश भाग को चित्र, मूर्ति, काव्य, सगीत आदि के द्वारा मूर्त्त बनाना कला का प्रमुख कर्त्तव्य है। इसी कारण कला का जीवन से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसी से वह एक ऐसी कमी को पूरा करती है जिसके लिये विज्ञान असमर्थ है। कलाकार इस अस्पष्ट भाग को मूर्त्त माध्यम द्वारा सौन्दर्य के उपकरणो से सजा कर हमारे लिये प्रस्तुत करता है। किन्तु इसके लिये मूर्त्त माध्यम क्या हो सकता है? हम अपने ही अन्तर मे ऊर्मिल वेदनाओ और आकाक्षाओ का प्रत्यक्ष दर्शन नही कर सकते। अतएव भाति भाति के प्रतीको (Symbols) का उपयोग कला मे किया जाता है। उदाहरणार्थ अगारक ब्रह्मचारी गोविन्द की कला का एक नमूना लीजिये। इसमे गोल, चक्राकार, नालिकाकार, पिरेमिडाकार आदि अनेक ज्यामितिक ठोस आकारो का इस प्रकार विन्यास किया जाता है कि दर्शक मे कभी 'अनन्त' का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कभी 'मोक्ष', कभी 'रहस्य', कभी 'ब्रह्म' का अनुभव होता

है। इसी प्रकार अन्य कलाओ मे भी जीवन की गम्भीर किन्तु अस्पष्ट वेदनाओ को मूर्त्त करने के लिये अनेक प्रतीको का उपयोग किया जाता है।

प्रयथाथवाद वस्तुत कला के आदिम आदश का पुनर्जागरण है। यह रहस्यवाद है जिसका स्थान साहित्य और कला मे इसीलिये निश्चित है कि यह जीवन के अनन्त अवकाशो और अनिवचनीय किन्तु अप्रतिषेध्यनीय अशो को समूर्त्त करती है। यह कला उस आदिम मनुष्य की तत्री के नाद मे मिलती है जिसको सुनने से अव्यक्त और अकथनीय वेदना का अब भी उदय हो जाता है। ग्राम्य गीतो मे तथा लोक मे अब भी प्रचलित नृत्यो मे तथा उनकी कुछ ध्वनियो मे अब भी अद्‌भुत 'अवसाद' का अनुभव किया जा सकता है। जनकाव्य मे इसी कला की गहरी छाप है। इसी कला के सस्कृत नमूने वेद, उपनिषद्, गीता तथा हमारे युग मे कबीर और रबीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतो मे मिलते है। किन्तु इस कलानुभूति की प्रकृष्टता जन-काव्य और जन-गीतो मे जितनी है उतनी 'सस्कृत' कहलाने वाली कला मे नहीं है।

हमे उचित है कि कला के उच्च आदर्शों की रक्षा के लिये सस्कृति और सभ्यता के प्रभावो से जन-कला को बचायें और वैज्ञानिक साधनो से उसकी सुरक्षा करें। जन-गीतो का सग्रह तथा पिछडी हुई कहलाने वाली जातियो के सगीत, नृत्य, चित्र आदि का अध्ययन और सरक्षण प्रत्येक सभ्य देश इस समय कर रहा है। लोओनार्ड आदम नामक जर्मन विद्वान् ने 'प्रिमिटिव आर्ट' पुस्तक मे आदिम कहलाने वाली अनेक जातियो की कला का अध्ययन किया है। कला के मूल तत्त्वो को समझने वाले विद्वानो का यह निष्कर्ष है कि सभ्य और सस्कृत कहलाने वाली कला की अपेक्षा आदिम कला मे कलात्मकता अधिक है। भारतीय ग्राम-गीतो मे सरल स्वर और शब्द-विन्यास के द्वारा जन जीवन की वह आर्द्र और द्रावक झाँकी मिलती है जिसे हमारे 'सस्कृत' काव्य नही पा सके हैं। विवाह, कन्या की विदा, अनेक माङ्गलिक और धार्मिक अवसर हमारे जीवन मे आते हैं जब जीवन की मूल प्रेरणाएँ, आत्मा की आदिम और प्रखर अनुभूतियाँ, मानसिक उद्वेलन और हार्दिक पीडाएँ, सब जग उठती हैं। हम 'सभ्यता के नाम से इनको छिपाते हैं, किन्तु हमारे ग्रामो के सरल जीवन मे इनके उद्रेक के लिये पर्याप्त अवकाश अभी प्राप्त है। अतएव ग्राम-गीतो और नृत्य मे हमे शुद्ध आनन्दमय कला के ऊँचे से ऊँचे आदर्श मिल सकते हैं। सच्चा यथार्थवाद और प्रगतिवाद भी इसी जन-कला मे विद्यमान है।

उपसंहार

मनुष्य ने आदिम अवस्था से अपने आप को उठाने के लिये जो प्रयत्न किये हैं उनकी दो दिशाए रही हैं। एक तो जीवन के लिये उपयोगी बाह्य साधनो का अधिकाधिक विकास किया है। हम इस विकास को 'सभ्यता' कहते हैं। दूसरे, मनुष्य ने अनेक शक्तियो का विकास करके अपने आत्मिक वैभव मे वृद्धि की है जिसके फलस्वरूप विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला आदि मानवी सम्पत्ति का विस्तार हुआ है। विकास के इस अग को हम 'सस्कृति' कह सकते हैं। कला से सस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये इनका विशेष स्वरूप निरूपण करना होगा।

आदिम अवस्था से लेकर अब तक हमारे रहन सहन, खान-पान, यातायात के साधनो और प्रकारो मे बहुत अन्तर हो गया है। आज जिस ससार मे मनुष्य रहता है उसमे पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और अग्नि इन पाँच मूलतत्त्वो को छोड़कर सभी कुछ उसी का आविष्कार किया और बनाया हुआ है। वर्त्तमान वैज्ञानिक अनुसधानो ने तो अनेक प्राकृतिक कार्यों को अपना लिया है जिससे अब कृत्रिम वायु अथवा अनेक प्रकार के पेय जल और गर्मी पाने के अनगिन साधन उसे प्राप्त हैं। यान की गति का तो ठिकाना ही क्या? आत्मरक्षा और आक्रमण के साधनो का आविष्कार तो इस सीमा को पहुँच चुका है कि मनुष्य को अपने से ही भय उत्पन्न हो गया है। उसी प्रकार हमारे समाज की व्यवस्था भी उत्तरोत्तर जटिल होती गई है और अब तो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्याएँ इतनी विकट हो गई हैं कि इनको सुलझाने के लिये चरम बुद्धिमत्ता की अपेक्षा प्रतीत होती है। जीवन के बाह्य साधनो की वृद्धि और विकास जिसका लक्ष्य इसे अधिक समर्थ और सुखी बनाना हो हम 'सभ्यता' कहते हैं।

हम निश्चय ही आदिम मनुष्य की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं।

भय और असुविधाओ से मुक्त होने पर, मनुष्य मे आन्तरिक सुख की प्रेरणा

उत्पन्न होती है । वह बुद्धि की तृप्ति के लिये गवेषणा करता है और प्रकृति के अनेक क्षेत्रो मे व्यापक तत्त्वो और नियमो का अनुसधान करके 'विज्ञानो' का निर्माण करता है । उसके सामने 'उचित' और 'अनुचित' के नैतिक प्रश्न उपस्थित होते हैं। व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तो की खोज की जाती है। मानव जीवन के आदर्शों का पता लगाया जाता है। जीवन के परम सत्यो के ऊपर दार्शनिक विवेचन प्रारम्भ होता है जिसके फलस्वरूप न केवल व्यक्तिगत जीवन मे, अपितु सामूहिक जीवन मे शान्ति, प्रेम, सौहाद, वैराग्य, सत्य के प्रति दृढ विश्वास की भावना, विचारो का मूल्य, व्यवहार शालीनता, भद्रता और कुशलता आदि दैवी गुणो का उदय होता है । यह मनुष्य की सस्कृति है ।

सभ्यता और सस्कृति मे निकट अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध नही है, क्योकि कोई मनुष्य अथवा समाज सभ्यता की चरम उन्नति पर पहुच कर भी आवश्यक रूप से सस्कृत नही होता, जैसा कि हमारे युग मे हुआ है। इसी प्रकार सस्कृति का चरम शिखर सभ्यता को अधिक स्पर्श किये बिना भी खडा रह सकता है जैसा कि दशन, कला और धर्म-प्रधान प्राचीन युग मे था । एक भारतीय साधु को लीजिए जो सच्चे अथ मे साधु हैं । वह सस्कृत तो अवश्य है क्योकि उसमे मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास हो चुका है । उसमे दार्शनिक गाम्भीय उदारता, क्षमता आदि गुण विद्यमान हैं । परन्तु मान लीजिए वह साधु वन मे रहता है और साइकिल, मोटर से न चल कर पैदल चलता है , दो-एक सादे कपडे पहन कर, भीख माँग कर, जीवन यापन करता है तो आज का मनुष्य उसे 'सभ्य' कहने मे सकोच करेगा । दूसरी ओर, आज का फैशनेबिल युवक सभ्य दिखते हुए भी 'सस्कृत' तो अवश्य ही नही है ।

स्वस्थ जीवन मे सभ्यता और सस्कृति दोनो का सामञ्जस्य उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार आन्तरिक' और 'बाह्य' का, शारीरिक और आध्यात्मिक का सामञ्जस्य, आवश्यक है। कला इन दोनो के मध्य मे मिलन-बिन्दु है, क्योंकि यह दोनो से ही प्रेरणा और शक्ति पाती है और दोनो को ही ऊवरता, समृद्धि और सौन्दर्य प्रदान करती है । कला कृति जैसे चित्र, मूर्ति' काव्य आदि को लीजिये । इनमे मूत्त अथवा पार्थिव माध्यमो के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वो की स्पष्ट अभिव्यञ्जना होती है । सभ्यता के विकास से मूत्त माध्यमो का विकास और आविष्कार होता है । यदि आदिम मनुष्य ने पत्थर के औजारो से गेरू की सहायता से गुफा की भित्तियो पर जगली जानवरो के भावमय चित्र बनाये थे तो गुप्तकाल मे जो भारतीय सभ्यता का सुवर्ण-काल था सुन्दर पत्थरो और गुहाओ को काट कर बने हुए मन्दिरो मे अनेक वर्णों की सहायता से बौद्ध-चित्रो का निर्माण हुआ था । कला मे

'कौशल' नामक पदाथ सभ्यता के विकास से ही प्राप्त होता है और इससे भी बढ़-कर, कला का सम्पूण बाह्य कलेवर, उसका वैभव सभ्यता की ही देन होती है।

कला भी सभ्यता को सौन्दय प्रदान करती है, उसे रुचिकर और 'मानवीय' बनाती है। कला मे रूप, भोग और अभिव्यञ्जना के तत्त्व रहते हैं, इसमे सन्तुलन, सापेक्षता, लय आदि सिद्धान्तो का निरूपण होता है। सभ्यता का विकास जिन भवन, गृह, सभालय आदि अनेक निर्माणो को प्रोत्साहन देता है उनमे कला के समावेश से सौदर्य का आविर्भाव होता है। हम शुद्ध 'उपयोगिता' से सन्तुष्ट नही होते। सभ्यता के विकास के साथ जिन नित्य नवीन उपयोगी वस्तुओ का निर्माण होता है उनमे कला के सौन्दर्य-सिद्धान्तो का अधिकाधिक समावेश होने से 'उपयोगिता' मे आनन्द और रस का सचार होता है।

यदि कला केवल 'वस्तु' ही नही है तो उसका प्राण अवश्य ही सस्कृति के विस्तार और विकास की अपेक्षा रखता है। प्रत्येक युग की कला उस युग के सास्कृतिक विकास से अभिव्यञ्जना की सामग्री पाती है। चित्र, मूर्ति अथवा साहित्य मे जिन, दया, क्षमा, वीरता आदि के आदर्शों का उद्घाटन किया जाता है वे किसी समाज की सस्कृत रुचियो के परिचायक होते हैं। कलाकार की आत्मा मे समाज के स्पष्ट और अस्पष्ट चेतन और अचेतन भावो का उदय होता है। ज्यो-ज्यो समाज की रुचियाँ, विचार और भाव अधिकाधिक स्पष्ट और सस्कृत होते जाते हैं, कला मे भी उन्ही की ध्वनि, उन्ही का अनुरणन होता है। सस्कृति ही कला की उत्पत्ति के लिये मूल भूमि है।

कला सस्कृति को सरसता और सौन्दय प्रदान करती है। यदि जीवन के नैतिक, धार्मिक और सामाजिक आदर्श कला से कोई सम्बन्ध न रक्खें तो इनकी नीरसता अवश्य ही इनको अरुचिकर बना देगी। सभी देशो मे दशन और कला, धर्म और कला, नीति और कला का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अपने अपने विषयो में रोचकता लाने के लिये इन्होने कला के सौन्दर्य-सिद्धान्तो का उपयोग किया है। बुद्ध का वैराग्य कबीर का रहस्यवाद तुलसी का भक्ति दर्शन, चित्रकारो, मूर्तिकारो और कवियो के हाथो मे पड कर न केवल सुन्दर ही हुए, इनके सत्य की प्रतीति भी अधिक दीप्त हो उठी।

कला का समाज पर व्यापक प्रभाव होता है। अतएव समाज के लिये उचित है कि वह सस्कृति अर्थात् दार्शनिक विचारो नैतिक आदर्शों आदि के विकास से कला के लिये उचित सामग्री उपस्थित करे, और, सभ्यता के विकास द्वारा उसे

पर्याप्त उपकरण और साधन उपलब्ध करे। सस्कृति और सभ्यता के विकास से अवश्य ही कला का वैभव बढेगा। कला के विकास से उस समाज में जन-रुचि का आविर्भाव और सस्कार होगा। कला अपने सरस स्पर्श से सत्य को सत्यतम और शिव को शिवतम बनाकर मानव मन मे अधिक प्रतीति उत्पन्न करेगी। हम जिन आदर्शों को भी अपनायेंगे, जिन व्यवहारो को उचित, जिन भावो को मूल्यवान् समझेंगे, कला अपनी शक्ति से उनको स्पष्ट बनायेगी। कला की इस व्यापक शक्ति को समाज के विचारक नेता अपने अधीन रखें तो कल्याण की आशा की जा सकती है। यदि यही कला लालची, दुष्ट मनुष्यो के हाथ मे पड जाती है अथवा समाज ही कला के लिये अनुचित उदाहरण उपस्थित करता है तो निश्चय ही कला की शक्ति उस समाज को नष्ट करने लगती है। यद्यपि यह सत्य है कि कला की स्वतन्त्रता का अपहरण न होना चाहिए, उसके लिये सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक बन्धन हानिकारक सिद्ध होगे, तथापि कला की अनियन्त्रित शक्ति, विशेषत उन परिस्थिति मे जब कि उससे सामाजिक आदर्शों मे हानि होती है, अवश्य ही उचित प्रतीत नहीं होती। यदि कलाकार की सौन्दर्य-भावना उसे सृजन के लिये प्रेरित करती है तो निश्चय है कि वह भावना 'मगल' की विनाशक नही होगी, विधायक ही हो सकती है। कला के आदर्श लोक मगल का विरोध कर हमे मान्य नही हो सकते। वास्तविक कला लोक के लिये सौन्दर्य का सृजन करती है जो स्वय परम मगल का रूप है।

कला हमे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के लिये भी आदर्श प्रदान करती है। सौन्दर्य वस्तुत 'अनेक' के सामञ्जस्य, सन्तुलन और समता का नाम है। सामाजिक व्यवस्था जिसमे अनेक वर्गों अथवा व्यक्तियो का सामञ्जस्य नही है, जिसम विषमता है अथवा एक वर्ग दूसरे का अपघात करता है वह न केवल अन्यायपूर्ण है, वरन्, असुन्दर भी है। इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन मे भी अनेक भावो, विचारो, आकाक्षाओं और प्रवृत्तियों का समावेश रहता है। यदि इनमे विषमता और दमन रहता है, यदि इसके विभिन्न अङ्गो मे सन्तुलन और सापेक्षता का अभाव है तो वह मनुष्य अवश्य ही अस्वस्थ होगा। सुन्दरता का सर्वोत्तम उदाहरण 'पुष्प' है जिसकी पखडियाँ अलग-अलग होती हुई भी कोमल तन्तुओ से जुडी रहती हैं, एक दूसरे से समभाव मे श्लिष्ट रहती है, रग, रूप और गन्ध मे सामञ्जस्य रहता है। स्मरण रहे अन्ततोगत्वा सौन्दर्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त 'सन्तुलन' मे आकर परिसमाप्त होते हैं। यह सन्तुलन ही 'सत्य' है, यही 'शिव' है, यही 'स्वास्थ्य' है और यही न्याय भी है। इस सिद्धान्त की अवहेलना से कला मे असुन्दर का आविर्भाव होता है, विज्ञान

मे 'असत्य', समाज मे अकल्याण तथा जाति और व्यक्ति के जीवन मे अस्वास्थ्य उत्पन्न होता है । हम जिसे अन्याय कहते हैं वह सन्तुलन का अभाव है । सौन्दय की अवहेलना न केवल पाप है, भयावह भी है, क्योकि समता और सन्तुलन के अभाव से समाज मे जो असन्तोष फैलता है उसका उपचार एक मात्र क्रान्ति है । हो सकता है न्यूक्त क्रान्ति ।

विद्रोह, महायुद्ध सौन्दर्य के सिद्धान्तो के अपमान का फल है । केवल व्यापक क्रान्ति ही जीवन मे सौन्दर्य की पुन प्रतिष्ठा कर सकती है ।

पश्चिम में सौन्दर्य-शास्त्रीय चिन्तन

रूप-रेखा

(1)

प्रवृत्तिया और प्रेरणाएँ

जैसे हमारे देश मे वेद से सब चिन्तन प्रारम्भ करने की परम्परा है, वैसे ही पश्चिम मे यूनान से, यद्यपि हमारी सस्कृति और कला, यहाँ तक कि धर्म और दशन मे भी अनेक तत्त्व अ वैदिक और प्राक् वैदिक हैं, और पश्चिम मे भी प्राचीन मिस्री*, सुमेरी एव फरहात दजला घाटी की सस्कृतियो के विकास को समझना आवश्यक हो गया है। इतिहास महाकाल की धारा है, और इसमें उस विन्दु का पता लगाना कठिन है जहाँ से विकास मूल उद्गम देखा जा सके। इससे भी कठिन है, 'पश्चिम' की परिभाषा करना । 'पूव और 'भारतीय' क्या है और वह किस अक्षाश से प्रारम्भ होता है ? बताना कठिन है। हम दो प्रवृत्तियो को ले सकते हैं, जिन्हे बिना काल और स्थान से विभाजित किये, हम परिभाषित कर सकते हैं। इनमें से एक प्रवृत्ति का नाम 'पश्चिम' और दूसरी का नाम 'भारतीय' 'कहा जा सकता है, किन्तु कोई भौगोलिक महत्त्व इनको देना उचित नही।

पश्चिम' उस प्रवृत्ति को कहते हैं जिसमे प्रेरणा का मूल स्रोत आत्मा से दूर कही बाह्य बिन्दु है, और इसके विपरीत, 'भारतीय' वह प्रवृत्ति है जो अपनी अन्तस्थ आत्मा से प्रेरणा व स्वरूप ग्रहण करती है। हम इस कथन को यहाँ प्रमाणित करने का प्रयत्न न करेंगे, किन्तु जो कुछ आगे पश्चिमी कला के विषय मे कहा जायगा, वह इसकी पुष्टि करेगा।

सुकरात-पूव यूनान मे, बहुत पहले, जब सम्भवत वे अपने आयपूर्वजो के

*मिस्री कला ने 'भारीपन' 'चिरन्तन' पर बल दिया, और सुमेरी कला ने 'अति-मानव' व दिव्य को उभारा। क्लासिकल यूनान ने सन्तुलन के द्वारा सचमुच सौष्ठव व सौन्दय की सृष्टि की थी सच्चा मानव-सौन्दर्य।

समीप थे, यूनानी महर्षियो एव दिव्य दृष्टाओ ने, भारतीय वैदिक महर्षियो की भाँति, सनातन और अनन्त के दर्शन किये थे। बल्कान के कटे बँटे प्रायद्वीप मे आकर यह दार्शनिक अनुभव दो भागो मे बँट गया एक उत्तरी भाग, मेसेडोनिया का, जिसका प्रतिनिधित्व अरस्तू करते है, दूसरा दक्षिणी भाग, एथेन्स का, जो सुकरात और प्लेटो के दर्शन में प्रकट हुआ। अरस्तू ने सनातन को नित्य परिवर्त्तन (Becoming) के रूप मे देखा, और प्लेटो ने अविचल सत्ता (Being) के रूप मे। वेद की भाषा मे ये क्रमश 'ऋत' और 'सत्य' है, और भारत की सग्राहक, समन्वयवादी दृष्टि ने "ऋत च सत्य च" दोनो को ही स्वीकार किया था एक को 'गति' और दूसरे को 'स्थिति' के रूप मे। पश्चिम मे ऐसा नही हुआ। उसकी आत्मा द्विधा विभक्त हो गई, और आज भी है। विज्ञान और धर्म दोनो मे वहाँ विरोध हुआ, और आज भी है, जब कि भारतीय आत्मा ने 'ज्ञान विज्ञान* सहित' विज्ञान को स्वीकार किया जिसको जानने से मनुष्य 'अशुभ' से मुक्त हो जाता है। किन्तु द्विधा विभक्त होकर भी पश्चिमी कला मे 'एक' ही प्रवत्ति दिखाई देती है। सच यह है कि समूचे कटे-बँटे पश्चिम मे और वहाँ की सस्कृति मे कला ने ही एकता का सूत्र दिया है। इसका कारण है वही प्रवृत्ति जो 'बाहर' से प्रेरणा पाकर प्रसन्न और पुष्ट होती है।

वह कला दृष्टि जो भीतर झाकती ही नही, वरन् बाहर से ही पनपती है, किस प्रकार का 'सौन्दय देखती है? प्लेटो के लिए प्रकृति मे जो सौन्दय है वह सब किसी इन्द्रियातीत विश्व के सौन्दय की परछाई है, अनुकृति है। इन्द्रिय-बोध से ऊपर जहाँ केवल विवेक पहुँच सकता है। एक अविचल सनातन रूपो का विश्व है, पूण और निर्दोष, विकारो से मुक्त और आनन्दप्रद। हमारा दृश्य जगत् उसी का प्रतिबिम्ब है, चचल और विकारी, अपूर्ण और क्षण क्षण परिवर्त्तनशील। कलाकार अपनी तूलिका और टाँकी से उस सनातन की झाँकी प्रस्तुत न करके, वरन् अनुकृति का अनुकरण करके, अलकारो से दर्शक मे सम्मोहन पैदा करता है। नाटक, नृत्य और सगीत अपने कृत्रिम आकर्षण से, मिथ्या के द्वारा सत्य को छिपा कर, मनुष्य की भावनाओ मे व्यर्थ उद्वेग उठाते हैं। अतएव प्लेटो का निष्कष था सौन्दय का स्वरूप अनुकृति है, कला मात्र अनकरण (Mimesis) है इसका प्रभाव प्रबल होकर भी शुभ और स्वस्थ नही होता।

अरस्तू हकीम था और यूनानी दार्शनिक। उसके लिये भी कला अनुकरण है,

*इद ते गुह्यतम प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञान सहित यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ गीता ९।१।

किन्तु वह 'दृश्य' का ही अनुकरण करती है, अदृश्य और अतीत का नही। सफल अनुकरण अथवा अनुकृति कृति के समीपतम होती है, जैसे, घोडे का चित्र घोडे के समीप और सदृश होता है। हाँ, घोडे का चित्र घोडा, या कोई विशिष्ट घोडा नहीं होता। अरस्तू ने अनुकरण सिद्धान्त की कठिनाई को देखा था। घोडे के चित्र अथवा मूर्ति को घोडा बनाना न तो सम्भव है, न सार्थक। घोडे के सदृश ? किन्तु किस घोडे के सदृश ? इस या उस ? यहाँ दार्शनिक अरस्तू का उत्तर था सामान्य घोडे के सदृश, जो न यह है न वह है, किन्तु जो यह और वह, और वह, सब कुछ है, सामान्यीकृत घोडा, जिसे मन अपनी आँखो से देखता और प्रसन्न होता है, क्योकि ऐसा सामान्यीकृत घोडा कहीं भी ससार में नही मिल सकता। कला का कृतित्व इसी सामान्यीकृत घोडे की अनुकृति मे निहित है। यही सौन्दय का सृजन है।

इस समय तक होमर का इलियड ही नही, वरन् उस पर आधृत सोफोक्लस आदि की महानतम त्रासदियाँ भी लिखी जा चुकी थी। इनका प्रभाव यूनानी जीवन और मन पर गहरा और अचूक था। त्रासदी के स्वरूप के विषय मे हम आगे भी लिखेंगे। किन्तु इनमे सबसे अधिक सशक्त तत्त्व थे, नियति और मानव का टकराव, पाप की प्रचण्डता, रक्तपात जो अश्रुपात से भी अधिक है, दुर्दमनीय काम, क्रूरता और अमानुष कर्म, जैसे अमानुष रूप, शौर्य, धैर्य, और, युद्ध की हृदयद्रावक विभीषिकाए। हृदय पर पडने वाले इनके दुष्प्रभाव की प्लेटो ने निन्दा की थी। हकीम अरस्तू 'जुल्लाब' (Catharsis) के फायदे जानता था। उसने कहा ठीक है, भावनाओ के उद्रेक से उनका रेचन हो जाता है। पाप की भावना के कलात्मक उन्मेष से पाप बह कर निकल जाता है, और मन निर्मल, हल्का हो जाता है। अरस्तू की यह बात सच हो या न हो, पश्चिम मे त्रासदी का कला-रूप वहाँ के मानस ने स्वीकार किया। भारतीय साहित्य मे, वहाँ के कुछ चिन्तकों के अनुसार, त्रासदी की कमी से यहाँ की काव्य-कला निर्बल और फीकी मालूम पडती है।

दार्शनिक चिन्तन से बाहर और इससे पहले, यूनान मे मूर्ति और वास्तु कला अपना रूप ले चुकी थी। विचारो का प्रभाव इस पर था किन्तु कम। यूनानी वीर अपने आप को देवो की सन्तान मानते थे। यूनानी पुरा-कथाएँ ईश्वर के साथ पृथ्वी के विवाह की चर्चा से भरी पडी हैं। वस्तुत सुमेरी सभ्यता मे अनेक देव-देवियाँ पैदा हुई, मिस्र मे पहुँच कर वे दिव्य हो गईं, किन्तु मिनोआ, माइसीनिया के मार्ग से चल कर और एशिया माइनर को लाँघ कर जब यह समूचा देव-देवियो का दल यूनान पहुँचा तो यूनानी कल्पना ने उन्हे सौन्दर्य व शक्ति से मण्डित कर दिया।

इनके देव शारीरिक शक्ति, अलौकिक सामथ्य, कृपा और कोप करने वाले, मनोबल स युक्त थे और इनकी देवियाँ, सुकुमारी नाजनिया तो नही किन्तु देह की नवल सुषमा से प्रदीप्त थी। यूनानी सौन्दय-कल्पना जितनी उडान भर सकती थी उतनी उडान उसने अपने युग मे भरी, और चारो ओर वनो और पवत शिखरो, मेघो और बिजलियो, नदी और सरोवरो, पुष्पो और पादपो मे, इन कल्पनाप्रसूत देव-देवियो को प्रतिष्ठापित कर दिया। ये देवता उनके जीवन से दूर नही थे, बल्कि अभिन्न अग थे। इनके लिये कविताएँ रची गईं, विकट बलि-प्रधान याज्ञिक अनुष्ठान हुए। कलाकारो ने इनके सौन्दय को मूर्त्तियो मे उभारा और भव्य मन्दिरो मे उन्हे प्रतिष्ठित किया। क्या था इसके सौन्दर्य का स्वरूप ?

शरीर का सौष्ठव, मासल और मनोहर, स्वस्थ और सुषमा—यह है आदर्श यूनानी मूर्त्ति-सौन्दय। अरस्तू और यूनानी चि तन मे गठन पर बल दिया गया है। गठन मे अवयवो का यथातथ विन्यास होता है, और विन्यास मे स तुलन, सवाद, समन्वय, सगति, भारसाम्य, सापेक्षा आदि रूप के गुण उजागर होते है। यूनानी जीवन मे शरीर के अग प्रत्यग के स्वस्थ विकास का बहुत महत्त्व था, उतना ही जितना नैतिक मूल्यो का। स्पार्टा मे तो आत्मा के बल की नाप ही शरीर की सहिष्णुता और शक्ति से की जाती थी। सच यह है कि भारतीय चिन्तन मे हम जिसे आत्म-तत्त्व अथवा अध्यात्म कहते हैं, वह उन्हे ज्ञात ही नही था। इसीलिए यूनानी कल्पना में उनके देव और देवी शरीर से स्वस्थ और अग प्रत्यग मे भरपूर होते थे, जो यूनानी वीर-वीरागनाओ के लिये पूर्णता के 'आदश' थे। 'सुषमा' अर्थात अगो का अगी के साथ सब प्रकार उचित समन्वय, सवाद और सन्तुलन इस सौन्दय का सार है। एपोलो, जीयस, जूपीटर आदि देव मूर्त्तियो और डियाना, एफ्रोडाइट इत्यादि देवी-मूर्त्तियाँ शरीर-सौष्ठव और सुषमा के आज भी पूर्ण आदश माने जाते है। इनसे बढ कर मानव मूर्त्तियाँ आज तक भी नहीं गढी जा सकी है।

अन्तरात्मा, अध्यात्म अथवा मन की विभूतियाँ जिनकी अभिव्यजना पर भारतीय कला का सवस्व निभर है, अथवा जीवन की तरल, श्वासोच्छ्वास करती हुई स्फूर्त्तियाँ जो पूर्व की कला (चीनी, हिन्द-चीनी, श्रीलका, भारत इत्यादि) मे प्राण के समान जगमगाती हैं, यूनानी कला मे लगभग निषिद्ध है, किन्तु बाह्य सौन्दर्य और सुषमा-सौष्ठव तथा छटा छवि मे इनकी तुलना नही की जा सकती। ऐफ्रोडाइट (रति) देवी की नग्न मूर्ति यूनानी नगर के चौराहे पर किसी मूर्त्तिकार ने बनाकर खडी की थी, जिसकी छटा से मुग्ध होकर स्वय देवी चौंक कर बोली थी इस मूर्त्तिकार ने मुझे नग्न अवस्था मे कैसे और कब देख लिया !

कलाकार का गन्तव्य था यथातथ, जैसा का-तैसा, हू-ब-हू, नक्शा और नक्श उतार देना, छवि प्रस्तुत करना। इसके पीछे दार्शनिक प्रेरणा थी देखे हुए रूप का निरूपण और चित्रण, अनुकृति जिसे सौन्दर्य शास्त्र की भाषा मे Representationism कहा जाता है, और जो Presentationism का विपरीत सिद्धान्त है। निरूपण-सिद्धन्त के अनुसार जो वस्तु 'है' (Present), कला उसी को दूसरे माध्यम मे पुन प्रस्तुत (Re-present) अथवा निरूपित करती है। सैकडो वर्षों तक, और अशत आज भी, इस निरूपणात्मक प्रवृत्ति ने पश्चिम के मानस को नही छोडा, यद्यपि कलाकार उस समय भी समझने लगा था, और आज तो वह विद्रोह कर बैठा है, कि सौन्दर्य का सृजन अनुकरण चित्रण, निरूपण, वणन नही हो सकता। इसके लिये स्रष्टा-कलाकार को अपने ही मानस के सरस और सुरभित अन्तराल मे, समाहित स्थिति मे, सौन्दर्य का सृजन करना होगा, जो किसी भी 'है' वस्तु की प्रतिकृति, अनुकृति या पर परछाईं हो, आवश्यक नही है। कौशल तो अभ्यास से प्राप्त होता है, किन्तु सृजन केवल कारयित्री प्रतिभा से ही सम्भव है। निरूपणात्मक प्रवृत्ति का चरम विकास एक ओर मुख-छवियो के चित्रण (Portraiture) मे हुआ, और दूसरी ओर छवि-यन्त्रो (camera) के आविष्कार मे। फोटोग्राफी की कला इसी विकास का चरम बिन्दु है। चित्रण इससे आगे नही जा सकता। अतएव पूणता को प्राप्त कर फोटोग्राफी मे निरूपणात्मक प्रवृत्ति का अवसान भी प्राय हो चुका है।

यूनान ने कला की एक अन्य प्रवृत्ति को जन्म दिया ज्यामितिक आकृतियो का सौन्दय और रहस्य। प्राटेगोरस, यूक्लिड, पाइथेगोरस आदि यूनानी सस्कृति के गणितज्ञों ने सख्या और वृत्त, वर्ग, रेखा तथा इनसे बने हुए अनन्त आकारो में अविचल व निर्विकार सत्य को देखा था। सख्याओ मे परस्पर सनातन सम्बन्ध हैं। एकत्व स्वय बडा आश्चर्य है। कोण और रेखाओं मे निर्मित आकृतियाँ अद्भुत अनुभूति पैदा करती हैं। वृत्त और वर्ग जैसा पूर्ण कुछ भी ससार मे नही। समान्तर रेखाएं कभी मिल ही नही सकतीं। दो ऋजु रेखाओ का मिलन बिन्दु केवल एक हो सकता है। त्रिभुज के तीनो कोणो का योग दो समकोण से कम या अधिक हो ही नही सकता। ये नियम कितने अकाट्य, निर्विकार और शाश्वत हैं! गणित के इस चमत्कार से दार्शनिक तो चकित थे ही, यूनानी कलाकार ने इसी चमत्कार को लेकर भवनो का निर्माण किया, और अगो व आकृतियो के आश्चय को स्तम्भो, छतो और विशाल मन्दिरो मे उतार दिया। जीवन के विकारो से दूर यह शुद्ध ज्यामितिक कला थी। सम्भवत, इस कला का मूल प्रेरणा-स्रोत मिस्र और अरब प्रदेशों की सामी सस्कृति रही हो जहाँ जीवन और उसकी मूर्त्तिमती अभिव्यक्ति को अच्छा नही समझा

गया था। जो हो, इस प्रवृत्ति का विकास, बाद मे आकर, इस्लाम के प्रभाव से सामी देशो मे हुआ, ईरान ओर भारतवर्ष तक इससे अछूते नही रहे। ज्यामितिक आकृति-प्रधान वास्तु का सर्वोत्कृष्ट नमूना स्वय ताजमहल है।

प्राचीन यूनान [ई० पू० 9वी शती से लेकर दूसरी तीसरी शती तक] सचमुच, सृजन की दृष्टि से अभूतपूर्व रूप से ऊर्वर रहा है। मनीषी, दार्शनिक, सत, कवि, गायक, कलाकार और वैज्ञानिक—इतनी बडी सख्या मे एक ही देश में इतने थोडे समय मे पैदा हुए हो, और उन्होने इतने प्रबल विचार, प्रेरणा और प्रवृत्तियो को जन्म दिया हो, ऐसा इतिहास मे स्यात ही कभी, कही घटा हो जैसा यूनान में घटा। सम्भवत इसकी तुलना वेदो के उत्तर काल से की जा सकती है जब एक विकट मानस-मन्थन के फलस्वरूप उपनिषदो और अनेक वेदागो का आविर्भाव हुआ था। जो हो, योरोप की सास्कृतिक सम्पदा जिन मूल आधारो पर टिकी है, वे आधार उसे यूनान से प्राप्त हुए। पश्चिमी सौन्दय-चिन्तन की प्रवृत्तियाँ और प्रेरणाएँ यूनान की देन है। आज पश्चिम इन सबको किसी एक ही विराट् सिद्धान्त के अन्तर्गत एक सूत्रित करने का प्रयत्न कर रहा है जिसे वाल्टर एबेल जैसे विचारक Toward A Unified Field in Aesthetics कहते हैं। इसके ऊपर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु इतना स्पष्ट है। कि यूनान का वह मानस कितना विशाल रहा होगा जिसमे इतनी प्रवृत्तियाँ एक साथ पल और पनप सकी।

(2)

मध्ययुग और पुनर्जागरण

रोम की शस्त्र-विजय के साथ यूनान का पतन हुआ। किन्तु रोम सभ्य अधिक था, सस्कृत कम, और सर्जक बिल्कुल नही। यूनानी सास्कृतिक प्रभाव दो भागो मे विभक्त हो गया एक, जिसका केन्द्र रोम नगर था, दूसरा जिसका केन्द्र बैजन्टियम या कान्स्टेन्टीनोपिल, एक भाग जो रोम-सम्राज्य का पूर्वी, और दूसरा, जो उसका केन्द्रीय पार्श्व था। पूर्व मे 'बेजेन्टाइन' अथवा 'हेलेनिक' नाम से यूनानी सस्कृति की परम्पराएँ पाँव पीटती रही। यह बेजेन्टाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रसार और प्रभाव गान्धार देश तक हुआ। नये अन्वेषणो के अनुसार मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, मध्य-पूर्व इससे लाभान्वित हुए। तीसरी, चौथी शती तक बौद्ध कला मूलत गान्धार कला रही। इसमे 'नया' कुछ नही हुआ, तरुण यूनानी प्रेरणा जिसने सुषमा और सौष्ठव को देव देवियो के कलेवर मे उतारा था, जड, ठडा और शिथिल पड गया।

उधर सभ्य रोम ने यूनानी सस्कृति को दबा कर क्या पाया ? यूनान ने जिस सहज सौन्दय का मूर्त्तियो मे उन्मीलन किया था, उसे रोमन लिबास से ढक दिया, रोमन वीरो की फौजी पोशाक पहना दी गई, और इनके हाथो मे लम्ब भाले थमा दिये गये। प्रबुद्ध चेतना के अवतार यूनानी एपोलो रोमन योद्धा के रूप मे मूर्त्तित हुए और देविया एमेजन जैमी वीराङ्गनाओ के वेष मे प्रकट हुईं। दूसरी ओर, तीसरी-चौथी शताब्दी से हूण, यूची, बबर जातियो की मार ने शनै शनै रोम साम्राज्य को जजर और खण्डित कर दिया, और यह क्रम विश्व के इतिहास मे १२ वी—१३ वी शती तक चलता रहा। इन बबर जातियो के आक्रमण ने भारत मे गुप्त साम्राज्य को आघात पहूँचाया, चीनियो को दीवाल बनाने के लिये विवश किया, बगदाद की खिलाफत को छिन्न-भिन्न कर दिया, और रोम साम्राज्य की धज्जियाँ उडा दी। यह मध्य-युग था जब सृजन सो गया था, प्रतिभा कुण्ठित थी, कला मूर्च्छा मे थी।

मध्य-युग 'अन्धकार का युग' कहलाता है। किन्तु इसी युग मे योरोप की आत्मा को सान्त्वना और जीने के लिये आशा व साहस दने के लिये प्रेम और करुणा का सन्देश लेकर ईसाई धर्म आया। चौथी शताब्दी के पहले भाग मे रोमन सम्राट् कोन्स्टेन्टाइन द्वारा इसे राज्याश्रय मिला। इससे पूर्व ईसाई धर्म दीन हीन लोगो का धम था, और एलेक्जेन्ड्रिया, मेम्फिस, एथेन्स आदि बडे नगरो की गन्दी बस्तियो मे फलता और पलता था। राज्याश्रय मिलने के पश्चात् इसका तेजी म प्रचार प्रसार हुआ, और पश्चिम को, इतिहास मे पहली ही बार, पूव क अध्यात्म का सुखद स्पश मिला। सुखद, इसलिये कि ईसाई धम के अध्यात्म मे जीवन के लिये शान्ति, आशा और करुणा का सन्देश था। इससे योरोप की सभ्यता व सस्कृति मे कई आयाम जुड गये। एक ओर ईसाई-सन्तो की परम्परा बन गई, और ये सन्त धम का सन्देश लेकर चारो ओर फैल गये। इनके सामने फाँसी पर लटके हुए ईसा की करुण मूर्त्ति थी और गिर्जे का पवित्र स्थान, जहाँ ईसा के भक्तो के लिये सरस, स्निग्ध और सौहार्द-पूण मिलन, प्रार्थना, घुटने टेक कर विनय का अवसर मिलता था। वे आँख बन्द करके, हाथ जोड प्रार्थना करते थे। इस सबका महत्त्व इसलिये है कि योरोप को इन बातो के लिये यह पहला ही अवसर था, जिससे उसके गवर्चवित अहकार को सान्त्वना मिली होगी, उसके हृदय ने कोमल, करुण भावनाओ का अनुभव किया होगा, और 'भौतिक सीमाओ क बन्धन स दूर किसी अध्यात्म-तत्त्व की झाँकी पायी होगी। ईसाई-धर्म के द्वारा पश्चिम का आध्यात्मीकरण—यही मध्य युग का महत्त्व है।

अन्धकार-युग का महत्त्व ! आश्चय मालूम पडे, किन्तु सत्य है, क्योकि इस अनुभव से पश्चिम का मन कुछ अन्तर्मुखी हुआ, करुणा आशा, शान्ति स्नेह, सेवा-समपण के सुकुमार भाव जाग्रत हुए, और सन्तो की अनुभूतियो ने इन्द्रियो से परे किसी अतीन्द्रिय अध्यात्म की झलक प्रस्तुत की। इससे पुन सृजन के लिये प्रेरणा और प्रतिभा जग उठी। निश्चित है कि इस आध्यात्मीकरण के न होने से योरोप की धार्मिक कला-चेतना का आविर्भाव न होता जिसने इटली तथा अन्य देशो मे गोथिक गिर्जाघरो और उनमे प्रतिष्ठापित मूत्तियो व चित्रो को जन्म दिया था। वैसे, इतिहासकार पुनर्जागरण (Raissance) को बहुत महत्त्व देते हैं। यूनान का समूचा ज्ञान और प्रेरणा इस्लाम के शक्ति केन्द्रो मे अरबी के माध्यम से उन देशो मे पहुँच था, और इसकी विजय के साथ मिस्र, लिबिया, मोरक्को, स्पेन आदि होता हुआ इटली तक यह प्रभाव फैल गया था। इटली के विद्वान, जैसे सेन्ट अक्वीनास जो अरबी और लेटिन के ज्ञाता थे, इस पुनर्जागरण के अगुआ बने। इसका अथ है कि यूनान मानो बगदाद, काहिरा, दमिश्क, मोरक्को आदि का चक्कर लगा कर पुन रोम पहुचा ! मुझे लगता है कि रोम पहले से ही यूनान से परिचित था। वर्जिल, दाँन्ते आदि कवि-दाशनिको के काव्य इस बात के प्रमाण हैं। सम्भवत पुनर्जागरण के पीछे इस चक्र-भ्रमण की भी शक्ति रही हो, किन्तु योरोप की अन्तरात्मा को गहराई तक छूने वाला प्रभाव ईसाइयत की अध्यात्मवाद से प्राणित मानवता की नवीन अनुभूति थी, जिसने मध्य काल मे सृजन के लिये स्फूत्ति व प्रेरणा प्रदान की।

जो हो, इतना स्पष्ट है कि मध्य-युग की योरोपीय सौन्दय-सकल्पना अन्त मुंखी है उसमे जितना बल बाह्य सौष्ठव, सुषमा और गठन की मनोहारिता पर है उतना ही महत्त्व उसमे 'अध्यात्म' और आभ्यन्तरिक आयाम को दिया है। गोथिक गिर्जाघर को मूत्तिमान् अध्यात्म कहा गया है, अथवा पत्थर की भाषा मे लिखा गया 'रहस्य' और 'इन्द्रियातीत की गोचर, प्रकट, प्रत्यक्ष अनुभूति।' मालूम यह होता है। कि गिर्जे की प्रकट मूर्त्ति में यूनानी आकार का ज्यामितिक सौन्दर्य है, इसके विशाल गठन मे भव्यता और उदात्त का अनुभव होता है, इसके लम्बे बरामदो, गोलाइयो और बको मे ईसाइयत के प्रतीकात्मक अर्थों का बोध होता है, और, अन्त मे आकाश की ओर उठती, विलीन होती, मीनारो मे रहस्य और निराकार स्वय बोलता है। गिर्जा अपने रूप और गठन मे ईसाई धम का प्रकट प्रतीक है, बोलता हुआ सौन्दय है, जो आँखो के लिये ही नही है, वरन् मन की गहराइयो तक प्रेक्षक को छूता है।

इस युग मे सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति इटली के अनेक मूत्तिकारो,

चित्रकारो और वम्तुकारो ने की, जो सचमुच आश्चयजनक है, इसलिए कि थोडे ही समय मे सौन्दय की इतनी विपुल आर उत्कृष्ट सृष्टियाँ हुई जिनकी दिव्गता व भव्यता तक पहुँचना आज तक भी सम्भव नही हो सका है। लियानार्दो द विंची, माइकेल एन्जेलो आदि इस कला के अग्रणी थे। अधिकाश मे इनके विषय बायबिल से सम्बन्धित हैं। मूर्त्तियो और दीवाल पर बनी भव्य आकृतिया मे अदभुत अभिव्यञ्जकला, आध्यात्मिकता, भाव निनिवेश के साथ साथ रेखाओ की गति रंगों का समायोजन प्रकाश-छाया के विधान, प्ररिप्रेक्ष्य व 'फोरशोर्टनिग' जैसे तक्नीकी नियमा का पालन, सभी कुछ एक साथ प्रकट हो उठे हैं। और, इन सब से बढ कर है यथाथवाद और निरूपण की सत्यता। भारतीय कला मे आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना पर विशेष बल देने के लिए उसे यथाथ से दूर रखने (abstraction) का प्रयास किया गया है। अन्यत्र भी कही-कही तकनीक और कलात्मक सौन्दय अलग आर विच्छिन्न हो गये है। अनेक तत्त्वो व प्रवृत्तियो को एक मे समन्वित करना परिपक्व प्रतिभा ही कर सकती है, जो इन्हे अपनी आत्मा की अग्नि मे गला कर सात्म्य करने मे समथ हो। इटली के इन उस्तादो (Masters) की कला परिपक्व प्रतिभा की उपज है।

मेडोना और क्राइस्ट की मूर्त्तिया व चित्र सब प्रकार से 'पूण है। सौन्दय के अनेक तत्त्व जिनको हमने ऊपर इगित किया है इनमे मिलते हैं। करुणा और स्नेह से ये मूर्त्तियाँ आप्लावित है। किन्तु मुझे इनकी एक विशिष्टता प्रतीत होती है वह यह कि 'घटना जिससे मूर्त्ति सम्बद्ध है, वह अपने पूण प्रभाव से मुख छवि मे उतर आई है, जब कि भारतीय मूर्त्तियाँ, सामान्यत, सनातन के ध्यान मे निमग्न, दिशा काल-कारण के चक्र से दूर दिखाई पडती है। उदाहरण के लिये सूली पर चढते हुए और वहाँ से उतरते समय, माता मेरी तथा अन्य प्रेक्षको की मुख छवियाँ घोर भय और विषाद की ही मूर्तिया हैं। कब्र से उठ कर स्वर्गारोहण (Resurrection) के समय आश्चय और आह्लाद ही मूर्त्तिमान् हो उठे हैं। स्वग से दण्डित किये जाने पर आदम और हौवा की छवियाँ अपराध-भावना, क्षमा याचना, सकल्प, दीन विनय आदि भावो से भर उठी हैं। किन्तु मन के इन भावो को मूर्त्तियों के अवयव, पेशी सस्थान, स्थिति, प्रकाश छाया, आदि तक्नीको के साहाय्य से चित्रित किया गया है, रेखाओ अथवा रूप के कुशल निरूपण से नही जैसा कि भारतीय कला में होता रहा है।

मूर्त्ति की मुख-छवि मे घटना को पूणतया उतार लेना—उसे घटना का कलात्मक 'रेकड' बनाना—और वह भी मासपेशियों की विशिष्ट स्थापना के द्वारा—

यह यथायवादी कला का ही मूल विधान है। सच यह है कि मध्ययुगीन इटली की श्रेष्ठतम कला भी अपनी मूल प्रवृत्ति और प्रेरणा से इन्च भर भी नही हटी है। द विंची ने कला को 'वैज्ञानिक' बनाने का भी प्रयत्न किया था उसने नाप-जोख, परिप्रेक्ष्य, दूरी-पास, प्रकाश-छाया, रगो के प्रभाव, शरीर-रचना से सम्बन्धित (Anatomical) प्रश्न भी उठाये थे, और घोषणा की थी सुन्दर को सुन्दर होने के लिये सही होना चाहिये। इस घोषणा ने समूची पश्चिमी कला और सौन्दर्य चिन्तन को आधुनिकता की ओर मोड दिया।

(3)

आधुनिकता की ओर

इटली के 'उस्तादो' की कला सारे योरोप मे, विशेषत हालैण्ड, फ्रास, स्विटजरलैण्ड, मे फैल गई, और लहर की भाति, अपनी ऊँचाई को छूकर लौटने लगी। इस समय के सौन्दय मे रीतिबद्धता' (Mannerism) स्वाभाविक थी, क्योकि 'क्लासीकल' युग की कला की समस्त सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी थी। यह काल बहुत कुछ, हमारे देश के रीति काल का समसामयिक प्रतीत होता है। इस समय योरोप का सम्पक पूव की कलाओ से हो चुका था जिसमे रूप, रग, आकृति, सभी को आध्यात्मिक अभिव्यजना के अधीन कर दिया गया है। वह रग रूप, परिप्रेक्ष्य आदि के वैज्ञानिक विधानो से परिचित था। आदिम सौन्दय की कृतियाँ जो गिरि गुहाओ मे मिली, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका, रेड इन्डियन आदि असस्कृत व अद्धसस्कृत जातियो की सशक्त कलात्मक सृष्टियाँ,—ये सब पश्चिम कृतिकार समझने लगा था। उसका दृष्टिकोण अब सचमुच 'राष्ट्रीय' न रह कर 'सार्वजनीन' हो चला था। पश्चिम के राजनीतिज्ञो, अथवेत्ताओ और मनोवेत्ताओ से भी पहले विश्वजनीन दृष्टि का विकास कलाकारो, कवियो और साहित्य-स्रष्टाओ मे होने लगा था, और रूसा, मोन्ताएँ, रस्किन आदि ने आने वाली क्रान्ति' की कल्पना ससार के समक्ष प्रस्तुत की थी,—ऐसी कल्पना जिसमे मानव-मन बन्धनो से मुक्त होकर सृजन के लिए समथ हो सके। विज्ञान के, विशेषत मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, विज्ञानसम्मत राजनीति, अथनीति के, अभूतपूव विकास ने मुक्ति को प्रचण्ड आन्दोलन का रूप दे दिया। प्रश्न है इस नये परिवेश मे कलात्मक चिन्तन और कृतित्व ने क्या दिशा स्वीकार की ? सौन्दर्य की क्या परिभाषा की ? सृजन के लिये क्या विधान निश्चित किये ?

सौन्दर्य के क्षेत्र मे नये वादो और विचारो की स्पष्ट व्याख्या करने वालो मे इटली का दार्शनिक क्रोचे प्रमुख है। वह सौन्दर्य के क्षेत्र मे 'मुक्ति' आन्दोलन

का अग्रणी था। उसने कहा हमारा प्रौढ और युवा मन उचित-अनुचित, लाभ-हानि, सत्य-असत्य की मीमासा मे उलझ कर विभक्त हो गया है। सामान्यतया, वह इस मीमासा के भार से इतना लद चुका है कि उसे अविभक्त सत्य की झलक मिलती ही नही जो इन भेदो, विरोधो और विवादो से ऊपर है। हाँ, अबोध शिशु उसको अवश्य देखता है, प्रौढ उसे अपनी प्रौढ आँखो से देख ही नही सकता। कभी-कभी जब वह भेद विरोध-विवाद के जाल से ऊपर उठता है तो उसे झाँकी मिल जाती है। कलाकार उस क्षणिक झलक को जब प्रस्तुत करता है तो सत्य का उद्घाटन होता है, और यही कलात्मक सौन्दय है। शिशु की आँखो से देखे गये सत्य को ही हम सौन्दय कहते हैं जो हमारे दैनन्दिन सौन्दय से अलग और भिन्न होता है।

इसे हम यो भी कह सकते हैं अन्धेरी, घुप्प रात मे कुछ भी दिखाई नही देता, किन्तु यदि एक क्षण के लिये बिजली कौध उठे, और तब उस क्षण मे सारा दृश्य,—वनाली, नगर पवत, नदी, पुष्प, पुरुष और स्त्री—आँखो के सामने प्रकट हो जाये, एक क्षण के लिये एक साथ, तो वह उसका सच्चा रूप होगा जिसको मनुष्य की मानसिक क्रियाओ ने विकृत नही किया है। यह अविकृत, अविकल, क्षणिक झलक सौन्दय है।

स्पष्ट ही, क्रोचे के सौन्दय-चिन्तन मे मन के उन्मोचन पर पर्याप्त बल दिया गया है। अपने ही सस्कारो मे आबद्ध मन सौन्दय का अवगाहन, अवगम और आस्वादन नही कर सकता। वह कला के आन्दोलन मे प्रभाववाद (Impressionism) का प्रवर्तक माना जाता है। सौन्दर्य एक प्रभाव (Impression) अथवा झलक है जिसे मीमासा से मुक्त मन देखता और देख कर आह्लादित होता है। प्रभाववाद की एक अधिकृत परिभाषा इस प्रकार की गई है

"Impressionism proclaims the end of everything that is not painting of nature The painter **shakes himself free**[1] **from the literary or sentimental heritage** of Romanticism and takes a **fresh**[2] **look** at the spectacle of people and things He re discovers the **spontaneous**[3] **genius** of the 16th century in the sketch and bases his aesthatic on a hedonic ethic—on the **douceur**[4] **de vivre**

The Loom of Art Germain Bazin

उपर्युक्त परिभाषा मे अङ्कित चार बिन्दु विशेष ध्यान के योग्य हैं एक,

साहित्यिक और भावनात्मक सस्कारो से मन का मोचन, दो, जडीभूत अथवा सामान्यीकृत अनुभवो को छोड कर मनुष्यो और वस्तुओ को देखने के लिए ताजा, अछूती, दृष्टि, तीन, प्रतिभा का सहज, अविकृत और अविकल व्यापार, चार, जीवन का सहज मिठास। इनमे से चौथे विन्दु से पाठक चौके नही क्योकि क्रोचे आनन्दवाद का प्रवत्तक नही है, जैसा कि अग्रेजी के 'hedonic' शब्द से सकेतित होता है। वस्तुत फ्रेंच शब्द--douceur--अधिक समथ है, जिसकी ध्वनि है । माधुय, सुरभि, सौकुमाय, मादव आदि। क्रोचे का अभिप्राय है कि मानव की सहज कामना उस अविभक्त, अविकृत, अविकल, सम्पूण, यद्यपि क्षणस्थायी, सत्य की देखने के लिये होती है जो उसके सस्कारमुक्त, अप्रतिबद्ध, मन को ही मिल सकती है, और इसकी झलक पाकर वह सहज ही आनन्द का अनुभव करता है। इस 'आनन्द' की मीमासा आनन्दवादी सिद्धान्त (Hedonism) को सामने रख कर नही की जानी चाहिये।

मन और मानव के मुक्ति-आन्दोलन ने कला के क्षेत्र मे थोडे-थोडे समय तक चलने वाले अनेक वादो को जन्म दिया जैसे क्यूबिज्म, अतियथाथवाद, अभिव्यक्तिवाद, मानवतावाद, प्रयोग और प्रगतिवाद, और अन्त मे अमूर्त्त कला एव अस्तित्ववादी कला। अमूर्त्तकला मे भी भीतरी अनेक अवान्तर भेद हैं। यदि इन सब को किन्ही वर्गो मे व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया जाये तो चार वग बनाये जा सकते हैं एक, जिसमे विशुद्ध कलात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता है, दो, जो मनोविज्ञान की मा यताओ की शपथ खाकर विचार करता है, तीन, जो सामाजिक सिद्धान्तो को सिर पर लाद कर कला और सौन्दय को माक्सवाद के प्रति प्रतिबद्ध कर देता है, और चार, दाशनिक सौन्दर्य सिद्धान्त। ये चारो धाराएँ अलग-अलग बह कर भी अपने उद्गम मे एक है, और वह उद्गम है आधुनिकता। आधुनिकता से हमारा तात्पय उस जटिल जीवन के परिवेश से है जिसका सकेत हमने प्रारम्भ मे ही दिया है। परिवेश-सम्बद्ध, परिवेश से प्रेरित और उत्प्राणित, परिवेश के प्रति प्रतिबद्ध, विचार ही आधुनिक है जो पीछे मुड कर अतीत की ओर नही, भविष्यत् की ओर देखता है। 'आधुनिक' की यह परिभाषा हमारे लिए पर्याप्त है।

(4)

अमूर्त्त कला-विधाएँ

चित्रण और निरूपण (Representation) प्रधान पश्चिमी कला-चिन्तन के लिए 'मूर्त्त' को छोडकर 'अमूर्त्त को स्वीकार करना मन को प्राक्तन के सस्कारो से उन्मुक्त करने का अपूर्व क्षण था, विजय का क्षण, क्योकि, जैसा हम देख चुके हैं,

योरोप का प्रेरणा-स्रोत, यूनान, अपने विचार मे अनुकरण (Mimesis) और यथार्थवाद (Realism) से कभी नही उबर सका था। किसी न किसी रूप मे, आधुनिकता के प्रारम्भ तक, वहाँ 'कृति' को नही, अनुकृति को महत्व दिया गया था, और अधिकाश चित्रण व मूर्त्तन या तो वर्णनात्मक, चित्रात्मक (फोटोग्राफिक), निरूपणात्मक रहा अथवा वह रूप के नियमो मे बँध कर सही होने के प्रयत्नो मे उलझ गया और अशक्त हो गया। रूप की सीमाओ मे सिमटा कलात्मक सौ दय मनुष्य की उस आकाक्षा को पूरा करने मे असमथ था जो मुक्त होकर निस्सीम, निमर्याद हाने को छटपटा रही थी। अमूर्त्त कला ने, सचमुच, इस आकाक्षा को पूरा किया।

अमूर्त्त कला को अनैतिहासिक अथवा इतिहास विरुद्ध अथवा अकस्मात, अनहोनी घटना नही माना जा सकता। द विंची ने कहा था "देखो, चित्रण से पहले देखो, नापो, जाँचो कि तुम वही चित्रित कर रहे हो जो तुमने आँखो से प्रत्यक्ष देखा है। पुरुष और स्त्री को प्रस्तुत करते समय प्रत्यक नस और नाडी, मासपेशी और मोड, घुमाव, वक, बनावट, सारे शरीर पर पडने वाले प्रकाश और छाया के प्रभाव को परखो, दृष्टिक्षेप और फोरशोर्टनिग के नियमो का पालन करो। बस यही सही चित्र अथवा मूर्ति 'सुन्दर' हो सकते हैं।" अमूर्त्त कला ने कहा "यह तो फोटोग्राफ है, और कोई भी चित्रकार केमरे से बढ कर चित्रण नही कर सकता। कला यदि कलाकार के अनुभव की भाषा है तो उसे बोलना चाहिये, मुखर होना चाहिये। इसलिये हम पुरुष अथवा स्त्री के शरीर को अथवा उसके किसी अग को, अगो को, भगिमा को, उसकी असलियत से छुडा कर (to abstract)) ही चित्र के उद्देश्य मे सफल हो सकते है। Abstraction अथवा यथाथ को अपने रूप से विच्युत करने की कोई सीमा नही है, यदि अभिव्यजना की सामर्थ्य ऐसा करने से बढती है। आदमी को सिंह, घोडा, मुर्गा, चील, या बाज, बघेरा या भेडिया, साँप या बीछू, गधा या खरगोश, किसी भी रूप मे अथवा विकृत करके प्रस्तुत किया जो सकता है, यदि ऐसा करने से उसकी भयकरता, विवशता, क्रूरता, स्तब्धता, प्रवञ्चकता, लुब्धता, हीनता, मुग्धता आदि किसी भी भाव को प्रस्तुत किया जा सके। रूप अभिव्यक्ति को सीमित करता है। निस्सीम होने के लिए रूप से ऊपर उठना आवश्यक है।" यह अमूर्त्त कला की पहली दलील है।

उधर, विज्ञान ने बताया कि कोई भी वस्तु जैसे, कमल, वास्तव मे सूर्य की प्रत्यावर्त्तित किरणें हैं। हम उसे बुद्धि के प्रयत्न से आकार और व्यवस्था देते हैं, उसका नाम, रूप, पहचान के लिये निश्चित करते हैं जिससे साधारण व्यवहार सम्भव हो सके। किन्तु कला तो व्यवहार के लिये नही, आस्वादन के लिये और वस्तु के

'वास्तविक' रूप का उदघाटन करने के लिये है, जिसे आख तो सहज रूप मे देखती है, किन्तु जिसके ऊपर मन रूप का लदान लाद देता है। केमरा भी वहा तक नही पहुँच सकता। कलाकार का कृतित्व इसी मे है कि वह मन के व्यापार को स्थगित कर आखो से वस्तु के अस्ली रूप को देखे और प्रस्तुत करे। प्रेक्षक भी उसे देखने के लिये वैसा ही करने को बाध्य होगा। ऐसी कला-कृति मे किसी भी वस्तु को उसके ज्ञात और विख्यात रूप मे पहचाना ही नही जा सकता, यद्यपि यही इसका विशुद्ध तम स्वरूप है, मन के व्यापारो से दूर और अविकृत। सचमुच, यह लियोनार्दो द विंची के विधान का ही चरमान्त है। यदि आखो से देखना ही अनिवाय है तो मन को अलग करके आँखो से देखिये। पहचानना सम्भव न होने पर भी, किरणो के आवत्तन-प्रत्यावत्तन से चित्र सजीव हो उठा है। प्रकाश की रग बिरगी किरणो से निर्मित अमूर्त्त कला प्रेक्षक को जीवन का माधुय—douceur de vivre—देने मे समथ हो सकती है।

अमूर्त्त कला की एक विधा नि+रूपण को किसी भी रूप मे सहने को तैयार नही है। रगो, रेखाओ और आकृतियो मे अपना चमत्कार और आनन्द है जिसे हम रूप अथवा वर्णन के अधीन करके खो देते है। नीले रग को लीजिये, अथवा वग, आयत या वृत्त का, अथवा रेखा और इसमे निहित गति को। परम्परा से बँधी कला मे इनका उपयोग किसी चित्र को उभारने या कहानी कहने के लिये किया जाता है, किन्तु विशुद्ध प्रत्यक्ष का स्वाद जो Aesthetics का मौलिक अथ था, इससे तिरोहित हो जाता है। कलाकार एक ही रग और उसकी अनन्त छायाओ को, अथवा अनेक रगो एव उनके अवान्तर वर्णों को फलक पर इस प्रकार बिखेर देता है कि किसी बिन्यास, रूप अथवा निरूपण के सकेत न रहते हुए भी प्रेक्षक की आँखो को वहा आस्वादन के लिये पर्याप्त आकर्षण मिल जाता है। सारे फलक पर एक ही रग, या एक ही आकृति विभिन्न परिस्थितियो मे, या रेखा की लहर, उतार-चढाव,—जिसमे न कोई विचार, भाव या भावना, भाषा का सकेत है—ऐसी कला अमूर्त्त कला की चरम परिणति है, जिससे आगे सम्भवत वह नही जा सकती। इससे आगे यदि कोई चित्र बनाया जा सकता है तो वह कारा कागज ही होगा जिसका शीषक है घोडा और घास, जिस चित्र मे घास इसलिये नही है कि वह खाई जा चुकी है, और घोडा इसलिये नही हैं कि वह, सहज ही घास खाकर वहाँ से चला जायेगा।

उन्मुक्त कल्पना की क्रीडा और विलास से भी अमूर्त्त कला का उदय होता है। आकाश के बादलो मे कोई 'रूप' नही, किन्तु मानव कल्पना उनमे प्रवेश कर मोद मानती है। एक ओर कतारो मे सजी क्यारियाँ और फुलवारियाँ हैं तो दूसरी

और क्रमहीन, अछोर वनालियाँ और फूलो से भरी घाटियाँ है। प्रकृति की सौन्दर्य-सम्पदा इन रूप, क्रम, अथ से रहित, विन्यासहीन विस्तारो मे कम नही होती। कागज पर कुछ ऐसे धब्बे बनाये जा सकते हैं, और रेखाओ का बिखराव, रगो का योजनाहीन फैलाव कि पख खोल कर उडने वाली मानव-कल्पना उनमे मनचाहा सृजन करके सुख का अनुभव करती है। ध्वनियो मे भी ऐसा ही करके नया सगीत पैदा हो गया है ।

नूतन मनोविज्ञान ने अमूर्त कला को कुछ वैज्ञानिक आधार भी दिये हैं। एक, हमारा चेतन मन गहरा नही है। वह व्यवहार की आवश्यकताओ मे बधा, है, और सकुचित है। यद्यपि स्पष्ट विचार, शब्द, अवधारणाएँ इसी के लक्षण है तथापि इनकी 'अपील' गहराई तक न पहुचने के कारण मार्मिक नही होती, और न चेतन हमारे गम्भीर अनुभवो को कहने की ही क्षमता रखता है जा अचेतन के गभ मे पलते हैं। अचेतन की अपनी प्रतीकात्मक भाषा है, जैसे, वहाँ हाथी, साप, सरोवर, तैरना, खाना-पीना, भय-प्रेम आदि अचेतन की घटनाओ के प्रतीक हैं जो साधारण अथ से भिन्न हैं। अचेतन मे कोई क्रम भी नहीं, न समय दिशा काल, कार्य-कारण आदि के बन्धन हैं। वह सब प्रकार की मीमासाओ से भी परे हैं। कला मे अचेतन की अभिव्यक्ति जाने-पहचाने प्रतीको के माध्यम से नही, इसके अपने प्रतीको से ही हो- सकती है। इस दृष्टिकोण से कला मे अति-यथार्थवाद का आविर्भाव हुआ जिसकी परिभाषा Surrealism के रूप मे निम्नवत् की गई है —

"Inspired by Freud's psycho analytical doctrines, Sur realism is a kind of **conscious exercise**[1] in **a-logical relations** stemming from **subliminal**[2] **depths** It displays the **struggle**[3] between the **Life-impulse**[4] **and the death-impulse,** which between them dominate the life of the self" p 302 The Loom of Art G Bazin

ऊपर की परिभाषा मे मनोविश्लेषणवाद और अति यथार्थवाद दोनो का सार सन्निहित है, जैसे, (1) सगति चेतन जीवन का विधान है, किन्तु अचेतन का विशाल प्रदेश असगतियो से भरपूर है। कला इनको अ-रूप, अमूर्त माध्यमो मे प्रस्तुत करती है। (2) ये असगतियाँ और विसगतियाँ हमारी ही गहराइयो से निकलती हैं जहाँ हमारी पहुँच नही है। (3) इस कला मे 'सघष' तत्त्व की प्रधानता है, जो सगति और असगति के बीच चलता है। (4) जीवन सगति का सिद्धान्त है, जिसम सीमाएँ और मर्यादाएँ हैं, किन्तु मृत्यु इनसे परे और पार है।

दो, वस्तुत, जीवन और मृत्यु के सघर्ष की कला का आविर्भाव प्रथम महायुद्ध

के प्रारम्भ मे हुआ, जब मानव समुदाय जीने के लिये मरने-मारने, मिटने-मिटाने को तैयार हो गया था। युद्ध से बढ कर विभीषिका ही नही, विडम्बना और विसगति भी नही हो सकती एक ओर जिजीविषा और दूसरी ओर मुमूर्षा = Life impulse and Death-impulse ! इससे बढ कर विषाद की कल्पना नही की जा सकती। इस विषाद को रूप देना आसान नही ! अभिव्यक्तिवाद (Expressionism) ने यही करने का प्रयास किया था

"Developing in the Germanic countries and stimulated in Paris by the contributions of Slav, Balkar and Jewish artists, Expressionism gives **romantic and tragic utterance** to the **deep disquiet** tormenting humanity on the eve of the First World War" p 300 Ibid

एक ही कला मे romantic = रोमास पैदा करने वाले, और tragic = रोगटे खडे कर देने वाले तत्वो का समावेश—यह अन्तर्विरोध अभिव्यक्तिवाद मे सम्भव हो सका, क्योकि मानव का मानस जीवन और मृत्यु की कामनाओ से द्विधा विभक्त है। यह 'विषाद' इतना गहरा है = deep disquiet, कि इसे सगति के नियमो मे बँधा चेतन मन समझ ही नही सकता, और न कला अपने परम्परागत रूप-विधान और मूत्तन के माध्यम से इसको प्रकट ही कर सकती है।

सच यह है कि 'आधुनिक' युग विज्ञान की अति बौद्धिकता के विरुद्ध विद्रोह करता है। विज्ञान जीवन के सत्य तक नही पहुँचता, न पहुँच ही सकता है। सच यह भी है कि अति वैज्ञानिकता जो चेतन का शासन करती है, हमे अति-चेतन तक पहुँचने मे बाधक होती है। चेतन की व्यवस्था को भग करके ही अति-चेतन तक पहुँचा जा सकता है। ध्यान, उपासना से यह सम्भव है, किन्तु कला भी अपने प्रबल सकेतो से चेतन के विन्यास और व्यवस्था को, क्षणिक ही सही, तोड कर अचेतन के अन्तराल मे ऊर्मिल, तेजस्वी सत्य तक हमे ले जा सकती है। अमूर्त्त कला की यह भी एक युक्ति है, क्योकि रूढिबद्ध मूर्त्त कला केवल धरातलीय वृत्ति तक मानस को छूती है जो कृत्रिम, व्यावहारिक और असत्य है। अमूर्त्त, अति रूप कला-विधाएँ अचेतन के अनन्त और गम्भीर सत्य तक पहुचने की कलात्मक विधाएँ हैं।

(3)

मनोविज्ञान, दर्शन और कला

मनोविज्ञान आधुनिक विचार का वादी स्वर है। कला को इसकी दो बडी देन हैं एक, मनोविश्लेषणवाद और, दूसरी, गेस्टाल्ट अथवा आकृति-मनोविज्ञान।

मनोविश्लेपण सिद्धा त का निर्णय है कि कृतिकार अपनी कृति मे, जाने-अनजाने, विद्यमान रहता है, और वह जितना अधिक विद्यमान रहता है, उसकी कृति उतनी ही सच्ची, गम्भीर और मार्मिक होती है। चाहे वह गीत-सगीत हो काव्य या मूर्ति हो, चित्र या कोई भी अन्य मानव अभिव्यक्ति हो, अपनी कृति म कृतिकार ही प्रवेश करता है और अपने जीवन की ज्योति व ज्वाला से उसे अभिसिंचित करता है। कृति और कृतित्व की यही माप है, और यही मापदण्ड है कलात्मक सौन्दर्य का।

फ्रायड की काम सकल्पना प्रसिद्ध है। काम जीवन और मन की मूल ऊर्जा है। वह सृष्टि का बीज और सृजन की प्रेरणा है। अपने अविकृत और अविकल रूप मे, काम रहस्य है, मृत्यु है, निर्विकल्प निद्रा है, दिक-काल कारण की सीमाओ से परे, अनन्त ऊर्जा का सुषुप्त सिन्धु। ससार की रहस्यात्मक कलाएँ, ध्वनि-सगीत ध्यान और समाहित स्थिति, उपासना, सूफी सन्तो का वसाले-सनम' अर्थात् प्रिय-मिलन का क्षण ये सब मानव को अपने मूल की ओर ले जाते हैं जहाँ वह अपने मे सब कुछसमेटने वाली 'माता' और मृत्यु' के आनन्द का अनुभव करता है। फ्रायड इस प्रवृत्ति को मन की अस्वस्थ प्रवृत्ति मानता था, किन्तु यूग इसे जीवन के महासिन्धु मे डुबकी लगाना मानता है जहाँ से मानव मन अपने व्यष्टि व्यक्तित्व की सीमाओ से मुक्त होकर पुन ऊर्जा ग्रहण करता है, मानो विद्युद् धारा से 'री-चाज' अथवा विभव-सम्पन्न होता है। कलाओ मे सगीत और काव्य का सौन्दर्य व्यक्ति को उसके मूल से जोड कर ऊर्जस्वित् करता है, और अन्य कलाएँ उसी सीमा तक कलात्मक हैं जिस सीमा तक वे सगीत अथवा उदात्त काव्य के समीप पहुँचती अथवा पहुँच सकती हैं। कलात्मक सौदर्य उन मौलिक सकेतो (Primordial Symbols) का विन्यास है जिनका सचय और सृजन हमारा समष्टि मन युगो के अनुभव के सहारे करता है। वह 'युग पुरुष' प्रत्येक व्यष्टि के मनो गम मे वास करता है। अतएव कलात्मक सौन्दर्य का अनुभव हमे युगो के पार, अतीत और अनागत मे, दिशाओ से दूर, निस्सीम और मुक्त, हमारे ही गर्भ-स्थित काल-पुरुष की झलक हमे देता है। यह सच है कि यूग के सिद्धान्त ने सौन्दय मे निहित 'रहस्य' तत्त्व की सफल मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है।

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि मनोविज्ञान ने कला के सौन्दर्य सिद्धान्त को भी समझने मे किस प्रकार सहायता की है।

गेस्टाल्ट का मनोविज्ञान वस्तुत आकृति का मनोविज्ञान है। आकृति अथवा आकार रेखाओ और अवयवो का आकस्मिक सयोग नही है। एक वर्ग या वृत्त को लीजिये वग मे चार समान रेखाएँ, एक ही धरातल पर, इस प्रकार सम्बद्ध होती हैं

कि व परस्पर समकोण बनावें। समकोण दो ऋजु रेखाओ के जोड पर बनता है जिनमे से यदि एक बिल्कुल पडी (क्षैतिज) लकीर है तो दूसरी बिल्कुल खडी (ऊर्ध्वाधर)। ऊध्व रेखा के इधर-उधर होने से तनाव बढता है। अतएव समकोण की स्थिति विराम और विश्राम की चरम स्थिति है। ऐसी चार समकोणिक रेखाओ से निर्मित वग का आकार स्थिरता, विराम और विश्रान्ति की चरम सीमा है। मानव के मस्तिष्क मे स्नायु इतने सवेदनशील हैं कि वे इस बात को मानो 'समझते' हैं। जहाँ कही चरम विराम की अनुभूति अपेक्षित हो, वहाँ वग और, इसी प्रकार, जहाँ सतत 'गति' की अपेक्षा हो, वहाँ वृत्त, के आकार को मस्तिष्क का स्नायु-तन्त्र स्वय बनाने को प्रवृत्त होता है। यदि हम वग अथवा वृत्त को अधूरा ही बनावें तो मस्तिष्क मे यह प्रवृत्ति बनी रहेगी कि इसे पूरा किया जावे। सब मिला कर, गेस्टाल्ट सिद्धान्त का मत है कि मन 'अधूरे' को नही सह सकता, वह 'अधूरे' को 'पूरा' करने की ओर सहज ही चलता है।

कला के लिये सिद्धान्त का महत्त्व है कि यदि सौन्दय के द्वारा हम मन को विराम, चैन और विश्रान्ति का अनुभव श्रोता और प्रेक्षक को देना चाहते हैं तो आकार 'पूण' होना चाहिये, अपूर्ण, अधूरा नही। सौन्दय के लिये पूणता का नियम अनिवार्य है। अपूण असुन्दर होता है। समस्त 'कृति' ही नही, उसके अवयवो मे भी पूर्णता का अनुभव होना चाहिये। कालिदास ने पूणता को गौरव के लिये (पूर्णता गौरवाय) स्वीकार किया था। मनोविज्ञान इसे विश्रान्ति के अनुभव के लिये (पूर्णता हि सुखाय, अथवा पूणता विश्रमाय) मन की प्रवृत्ति मानता है। सस्कृत साहित्य मे "निराकाक्षत्व पूणत्वम्" अर्थात, पूर्णता वह है जिसके अनुभव के अनन्तर आकाक्षा न रहे। वाक्य निराकाक्ष होता है, किन्तु उसका अलग-अलग पद साकाक्ष होता है। इसी प्रकार सौन्दर्य पूण होना चाहिये, और पूण को निराकाक्ष। तृप्ति यदि पूर्ण नही तो कुछ नहीं; वह *अतृप्ति है।

यो तो प्रारम्भ से ही दर्शन ने कला और सौंदर्य की मीमासा करने का प्रयत्न किया है, और अरस्तू, प्लेटो से लेकर कान्ट, हेगेल आदि न जाने कितने विचारको से सौदर्य-मीमासा का नाम सम्बद्ध है, तथापि हमारे समय मे यह विचारणा इतनी गम्भीर हो गई है कि इसे मात्र सौंदर्य दशन का नाम देना उचित नही जान पडता। सौदर्य केवल विचार' अथवा धरातलीय अनुभव नही है। वह व्यापक, मौलिक,

---

*यदि कोई कलाकार अतृप्ति—tension and excitement—को ही लक्ष्य बनावे, तो वह सब कुछ अपूर्ण और साकाक्ष रक्खे।

जीवन के सदृश ही जीवन्त सत्य है, ज्वलन्त प्रभाव है, जिसमे बनाने और बिगाडने की समान सामर्थ्य हैं। कला हमे हमारे सत्य तक ले जाती है, और वहाँ हमारे अस्तित्व का दर्शन कराती है। अस्तित्ववादी* दर्शन का मत है कि भाषा का मूलोद्गम काव्य है, और सारी कलाओ का सार काव्य है, और काव्य का सार तत्व स्वय, साक्षात् सत्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि अस्तित्व-बोध के लिये कला और सौन्दर्य के प्रभाव को पहचाना गया है। विज्ञान केवल धरातलीय ही नही है, वह परिकल्पनाओ के वितान से हमारे अस्तित्व को हमारी आँखों से ओझल कर देता है। विज्ञान अपने ही अनुशासन मे बँध कर केवल विचारों का जाल बुन सकता है, किन्तु सत्य का, सम्पूण सत्य का, उद्घाटन नहीं करता। आज का दर्शन स्वीकार करता है कि सौन्दर्य भ्रम नही, सत्य है, कला जादूगरी और चमत्कार नहीं, वरन् मानव-मन की मौलिक प्रक्रिया है जो हमारे सत्य का साक्षात्कार हमे कराती है।

निष्कर्ष

इस समय सौन्दर्य-चिन्तन का क्षेत्र न केवल विस्तृत अपितु समृद्ध भी हो रहा हैं, नये प्रश्न पूछे जा रहे हैं और नये क्षितिज व दिशाएं खुल रही हैं। सौन्दर्य एक मूल्य है, स्वास्थ्य, नैतिकता अथवा सस्कृति की भाँति और कला का सामाजिक दायित्व (Social function of art,) सास्कृतिक दायित्व (cultural function) अथवा चेतना के समृद्धीकरण का दायित्व है जिसमे मन को आध्यात्मिक सम्पत्ति व साधन प्राप्त होते हैं। इनके बिना वह सब कुछ होते हुए भी 'दरिद्र' है और आपत्ति व आघात मे बिखर सकता है। अध्यात्म का वैसे अपने आप में अर्थ कुछ भी न हो, किन्तु सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्व का यह आभ्यन्तरिक आयाम है जिसके न रहने से वह अधूरा होता है। कलात्मक व्यापार (art-activity) का सम्बन्ध इसी मानव-अस्तित्व के आयाम से है।

चिन्तन के विस्तार का पहला परिणाम यह हुआ कि साहित्य का, विशेषत काव्य का, स्थान कलाओ मे सुरक्षित हो गया है, और समूचा कला-विधान तथा सौन्दय दृष्टि काव्य व इसके अगो को समझने में लग गये हैं। काव्य में रूप, छन्द, अलकार, शैली, गुण व प्रभाव की पुन व्याख्या की जा रही है। मिडिल्टन मरे ने

*Heidegger and the Work of Art The origin of language is poetry Therefore all art is poetic or, the essence of art is poetry And, the essence of poetry is the foundation of truth." quoted p 425 Aesthetics Today morris Philpson

प्रतिपादन किया है कि आत्मा के गम्भीर अन्तराल के अवगाहन व अवगम के लिए रूपक के अतिरिक्त अ य कोई साधन नही है, और उसने कीट्स* के इस अनुभव को सिद्ध कर दिया है कि "मानव आत्मा के रहस्यो से पूर्ण अन्धकार मे जहाँ विवेक (Reason) खो जाता है, एक वृहत विचार (A vast idea) मेरे सामने उभर आता है और मुझे मुक्त कर देता है।" रेने वेलेक और वारेन ने तो जो आज विश्व के महान्तम साहित्य-समीक्षक हैं समीक्षा मे कलात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है।

कला को कला के रूप मे देखने और विचार करने का श्रेय सर हरबर्ट रीड को है जिसने कला चिन्तन को दशन, मनोविज्ञान, अथवा अन्य विचार विधाओ से मुक्त किया है। इसने स्वय समीक्षा की है, और कलात्मक सौन्दय को समझने के लिये अनेक परिकल्पनाए और शब्द कोश दिये हैं। आदिम और लोक-कलाओ के महत्त्व को इसने उभारा है। मानव चेतना† के विकास के लिये सर रीड कला को अनिवाय मानता है।

आज अनेक कला-चिन्तक यहा तक भी जाने को तैयार हैं कि जिस प्रकार जीवन के लिये मन का मौलिक सकल्प (Will to-live) है, उसी प्रकार सौदय के लिये (Will-to-beauty Kanovitch) और कला के लिये भी (Will-to art Germain Bazin) है। बाजी मानता है कि मनुष्य मे तर्क और विवेक शक्ति का विकास औजारो व उपकरणो के विकास के कारण और साथ-साथ हुआ है, और उनकी उपयोगिता को निरन्तर बढाने के प्रयत्न से उसके कौशल व कारीगरी** विकसित हुए हैं।

मन की गहराइयो और प्रक्रियाओ मे कला का मूल खोजने के उद्देश्य से

*Though no great minist'ing reason sorts out of the dark mysteries of human souls to clear conceiving, yet there ever rolls a vast idea before me, and I gleantherefrom my liberty

Sleep and Poetry Keats

† The function of Art in the Development of Human Consciousness तथा अन्य पुस्तकें Sir, Herdert Read

**" ceaselessly to improve not only practical fitness but also the quality of their workmanship Hence the will to art"

P 21 The Loom of Art.

'कला* का मनोविज्ञान' अथवा "कला-मनोविज्ञान की ओर" जैसे प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। "मनुष्य की सर्जनात्मक ऊर्जा' के स्वरूप का निश्चय करने के प्रयत्न मे आज विज्ञान यह मानने लगा है कि मानसिक प्रक्रियाओ का स्वरूप जैविक प्रक्रियाओ का ही सततीकरण है, और कला अथवा काव्य मे सृजन का व्यापार—नूतन रूपों व गठनो का उन्मेष—सभी स्तरो पर समान है। [देखें A Scientific View of the 'Creative Energy" of Man Lancelot Law Whyte -P-356]

कला के सामाजिक एव सास्कृतिक दायित्व को समझने का प्रयत्न हुआ है। कला इतिहास के प्रचण्ड बोध, युग बोध, मूल्य-बोध से कभी दूर नही रही। समाज कला के लिये सहज सन्दभ है और इसके विस्तार व परिष्कार के लिये सुलभ परिवेश। इतिहास की उथल-पुथल, उसके आवेश और उद्वेग, विवेक और विसगतियाँ, ज्योति और ज्वाला, सभी उसके चित्रो, मूर्त्तियो, लोकगीतो व काव्यो मे प्रतिबिम्बित होते हैं। आज भी लोक-मानस के निर्माण मे इसका हाथ है।

सबसे बडा प्रयत्न हुआ है कला-चिन्तन के लिये एक सयुक्त क्षेत्र का विकास [Toward a Unified Field in Aesthetics Walter Abell] इस सयुक्त क्षेत्र मे सारे दृष्टिकोणो को 'एक' मे व्यवस्थित करने का प्रयास है, क्योकि प्रत्येक दृष्टिकोण, अलग-अलग अपने आप मे, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अधूरा है। इतिहास, समाज, सस्कृति, विज्ञान, मनोविज्ञान, कला, दर्शन, सभी सौन्दर्य के आकर्षण व चमत्कार प्रभाव व उपयोगिता, को स्वीकार करते हैं, और अपने ढग से समझते-समझाते हैं। कलात्मक व्यापार मन का मौलिक व्यापार है जो रूप का उन्मेष करता है। यही सृजन है, जो समस्त सृष्टि का विधान है। ऐसी स्थिति में कला और सौन्दर्य को छोड देना भी विचार के लिये सम्भव नहीं है। सौन्दर्य-चिन्तन का बहुमुखी विस्तार, सचमुच, शुभ लक्षण है।

---

*(i) Psychology of Art Douglas N Margan

(ii) Towards a Psychology of Art Arnheim

(iii) Freud and the Analysis of Poetry—Kenneth Burke.

कला और सौन्दर्य : नये सन्दर्भ

आधुनिक सन्दर्भों मे सौन्दर्य दशन के पिता, सर हरबर्ट रीड, कहते हैं कि मनुष्य के मन की रचना, उसका उद्भव और विकास, एक ही दिशा की ओर सकेत करते हैं, और वह दिशा है 'अनेको' मे 'एक' का सृजन, अवयवो मे अवयवी की खोज, खण्डो एव विभक्त मे अखण्ड और अविभक्त का अन्वेषण। सक्षप मे, यह है 'पूण' की रचना और 'पूर्ण' का विकास। शरीर मे स्नायु मण्डल की क्रियाओ का मूल विधान भी यही है। केनोविच जैसे रूसी चिन्तक तो समस्त सृष्टि के विधान को 'खण्डो' मे 'अखण्ड' का सृजन, विकास और विस्तार ही मानते हैं। प्रस्तुत पुस्तक की मान्यता रही है कि 'पूण' और 'अखण्ड' ही सुन्दर होता है। खण्डित और अपूर्ण नही। 'सुन्दर' मे रस और आनन्द देने की सामथ्य रहती है, जहाँ रस है, वहाँ शुभ और शिव का निवास होता है, और यही जीवन का परम सत्य है। भारतीय मनीषा ने युगो पहले निष्कर्ष निकाला था कि सत्य, शिव और सुन्दर एक ही तत्त्व के अनेक नाम हैं, और, इससे भी आगे, कि मनुष्य सतत इस तत्त्व की साधना में लगा रहा है, लगा रहेगा, क्योकि यही उसका अपना, असली—आध्यात्मिक—स्वरूप है।

अपने रूढिगत रूप मे कला वह प्रक्रिया है जिससे सुन्दर का सृजन होता है, और सुन्दर से आनन्द और सत्य का विकास एव विस्तार।

परन्तु आज के सन्दर्भ में कला की यह प्रक्रिया एव प्रयोजन रूढि को छोड रहे हैं। इस घटना की चर्चा हम इस अध्याय मे करेंगे। क्या कला अपने सनातन विधान को त्याग कर किसी अन्य विधान को अपना सकेगी? क्या यह सम्भव भी होगा? इन प्रश्नो पर कुछ आलोचन भी यहा किया जायगा।

इसमे सन्देह नही कि विज्ञान ने जीवन और जगत् के हमारे ज्ञान को निखारा है, उसे तराशा है, विशद और गम्भीर बनाया है। विज्ञान का मूल विधान है विश्लेषण: तोडना, काटना, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम की ओर बढना, और इस प्रकार जानकारी को निखारना। परन्तु इस प्रक्रिया से सहज ही दो बातें पैदा होती हैं एक, मनुष्य का अपना बिखराव, टूटन और तराश, दो, अपने आपे की—अपने स्वरूप और अध्य

की पहचान मे बाधा, और बाधा से उत्पन्न भीतरी सकट, उलझाव, अजनबीपन, जीवन मे नीरसता या एकरसता अजीब बोरियत और उदासी, छटपटाहट और दर्द भरी दिशाहीनता, और, अन्त मे, निरुद्देश्यता से उत्पन्न आत्म हानि एव आत्म-ग्लानि, अब और धुधलापन। आश्चर्य कि यह धुधलापन विज्ञान की चकाचौध के बावजूद बढता जा रहा है, और भोगो की भरमार के बावजूद रस पिपासा मिट नही रही है।

कला के क्षेत्र मे आज अधाधुन्ध प्रयोग हो रहे हैं अमूर्त कला और इसके अवान्तर भेद, दादावाद, अतियथार्थवाद, फ्रायड के सिद्धान्तो पर आधृत कलाओ के अनेक रूप, अ कविता और अ-कला, ओप और पोप-कलाए, आदि अनगिनत प्रकार। इनमे से अनेक प्रयोग सफल सिद्ध हुए है और इनके माध्यम से कला ने आगे कदम बढाये हैं, और, यदि इन कला-प्रयोगो मे युग के प्रतिबिम्ब को देखा जाये तो इनकी सच्चाई में सन्देह नही किया जा सकता। युग के यथार्थ की सच्ची, सही और समूची तस्वीर इनमे उभर कर आती है। यदि युग की अन्तश्चेतना स्वय उद्विग्न और उदास है, छटपटाहट और उन्माद, भय और शकाओ, से लबलबा रही है तो कला बेचारी क्या करे ? कलाकार युग से नाता तोड कर कहाँ जाये ? अथवा, पुराने घिसे-पिटे कला-रूपो मे बझे रहकर अपने को कैसे झुठलाये, और क्यो झुठलाये ? यदि आदमी अपनी पहचान खो बैठा है तो कला मे भी यदि यही स्थिति मिले—पहचान की हानि—तो इसमे कला का क्या दोष ? कलाकार अपने अनुभव को ही अभिव्यक्त करता है। जो उसने भोगा ही नही, उसे कैसे और क्यो प्रकट करे ? परन्तु इस 'सच्चाई' से, यदि इसे चरम सत्य मान लिया जाये, तो—कला का एक मौलिक विधान ही बदल जाता है कला सृजन नही, वह मात्र अभिव्यक्ति है। जो 'है', उसका कलात्मक अभिलेख, जो गुजर रहा है, उसका अनुमोदन और उसका हूबहू दस्तावेज तैयार करना। यदि कला सृजन है, मात्र अभिव्यक्ति, फोटोग्राफी या प्रतिबिम्बन नही, तो उसे इस 'सच्चाई' का ही तिरस्कार करना होगा। यदि, जैसा कि सर हरबर्ट रीड अथवा भारतीय कला चिन्तक मानते हैं मनुष्य के मन और शरीर की रचना ही एक, अखण्ड और पूर्ण को पाने के लिये है तो 'खण्डित' मानव व्यक्तित्व को प्रतिबिंबित करने के लिये 'आज' की कला का प्रयास 'सच्चा' कलात्मक प्रयास नही कहा जा सकता।

प्रश्न रह जाता है कौन-सी कला सच्ची है यथार्थ को पकड़ कर चलने वाली 'आज' की कला ? अथवा, मनुष्य के सनातन स्वरूप—अखड और पूर्ण रूप—को उसकी आखो के सामने प्रस्तुत करने वाली 'कल' की कला ? लगता यह है कि मनुष्य की छटपटाहट बहुत दिन नही चलेगी। या तो यह बिकल छटपटाहट खत्म हो

जायेगी, अथवा वह स्वय समाप्त हो जायेगा। उसका सहज स्वरूप 'सकल' और 'समस्त' है, विकल एव व्यस्त नही। तीसरी सम्भावना यह भी है कि मनुष्य का स्वरूप ही बदल जाये, और उसकी जगह विकल टूटा व बिखरा हुआ, नया मानव ही पैदा हो जाये, जिसका स्वभाव ही व्याकुल छटपटाहट हो! क्या होगा? यह तो हम नही जानते। इतना स्पष्ट है कि जैसा वह आज है, अपनी बनावट और बुनावट के अनुसार, कला का पुराना और सदातन विधान—अखण्ड और पूण का सृजन—ही अन्त मे विजयी होगा, और कला मात्र प्रतिबिबन के प्रयोजन से ऊपर उठ कर मनुष्य के अपने रूप को उसकी आखो के आगे प्रस्तुत करने का प्रयास करेगी।

बिखराव और विकलता की कला की 'सच्चाई' मे सन्देह नही किया जा सकता, क्योकि यह युग के क्षुब्ध, तरगायमान मानस का फोटोग्राफ है, पर तु यह सन्देह की बात है कि यह बिखराव स्वय हमारे मन की सच्चाई है, अथवा इस बिखराव को लेकर मनुष्य चिरकाल तक जीवित रह सकेगा। टूट जाने के कारण मानव-मन आज अशान्त है, उसकी रस-पिपासा को मिटाने के लिये कला को उसका सत्य, सनातन रूप प्रस्तुत करना होगा। रस के साथ जीवन का वही सम्बन्ध है जो पानी का पौधे के साथ होता है। कला अपने सारे उपादानो और विधानो से रस का सृजन व सचार करे, जैसा कि वह आदिम युगो की सभ्यताओ से लेकर करती आयी है। स्मरण रहे, भोग और रस मे भेद है। आज की सभ्यता ने भोगो की भरमार कर दी है, परन्तु उसने इसके बावजूद, रस पैदा नही किये हैं, जिनसे जीवन व चेतना की जडे गहराई तक सीची जाती हैं। नित नये रूपो की सृष्टि करके रस का सृजन व सचार कला का प्रयोजन है, जो रहना चाहिये, रहेगा।

कला और विज्ञान मे भीतरी अन्तर्विरोध नही है। यदि विज्ञान का काम सत्य की खोज करना है, नये आयामो का अनुसन्धान और नूतन क्षितिजो का उद्घाटन है, तो कला अपनी सवेदनशील निगाहो से इन आयामो का सरस व सुन्दर रूप प्रस्तुत कर सकती है। अन्तत बुद्धि के आलोक को भी हृदय के रस ही सीचते और पुष्ट करते हैं। मैंने कई कला-कृतियो और सगीत की धुनो मे मात्र युगीन ही नही, अपितु चिरन्तन सत्यो के स्वरूप को पढा है, देखा और सुना है जिनमे विज्ञान वेत्ता सकल्पना, प्रत्यय, सिद्धान्त अथवा वादो के अनेक जाल बुन कर भी—रग-बिरगे ताना बाना बुन कर भी—स्यात इतना सफल न हो सके। कला सत्य के अनुसन्धान मे मात्र पिछलग्गू नौकरानी या सहचरी का काम न करके, आगे चलकर अपनी समग्र-ग्राहिणी दृष्टि से विज्ञान को रास्ता तक दिखा सकती है। अनेक उदाहरण हैं, जब विज्ञान

से बहुत पहिले कला सत्य को देख सकी थी। विज्ञान जिसकी कल्पना आधी अधूरी दृष्टि से करता है, उसे कला अपनी पूर्ण दृष्टि से देखती है। सत्य की अधिकाधिक गवेषणा कला की भावी सम्भावना है।

विज्ञान किसी प्रक्रिया को खण्डश तोडता है, जो धीरे धीरे सरल होती जाती है गन्ने से चीनी बनाने की लम्बी और जटिल वैज्ञानिक प्रक्रिया को छोटे और सरल खण्डो मे तोड कर ही चीनी-मिलो का आविष्कार हो सका। तक्नीक सरल और खण्डश अनेक क्रियाओ को जोड कर आविष्कार करता है। प्रत्येक सरल क्रिया मशीन करती है पूरी मशीन सरल क्रियाओ का जोड है। तक्नीक के विकास मे कला का बडा हाथ है और रहेगा, क्योकि कला का चरम रूप शिल्प है, जिसका वैदिक अथ है 'रूप देना', और यूनानी रूप है, techne अर्थात् करना। कला अन्तत क्रिया है। इसका प्राण 'करना है, करने की क्रिया को विकसित करना, उसे समन्वित रूप देना, सौदय प्रदान करना, और अन्तत उसे सन्तुलन--लय--सवाद जैसे रूप के सनातन विधानो से सवारना कला का काम है। आधुनिक तक्नीक कला से इसके लिये बहुत कुछ सीख सकता है।

'करना', अर्थात् ठीक तरह 'करना' यदि कला का प्राण है तो तक्नीक बहुत समय तक कला से बहुत दूर नही रह सकता। समन्वय, सवाद लय, सामजस्य आदि रूप-विधान और प्रधान-गुण भाव व अगागी विधान आदि मात्र बुद्धि की सकल्पनाए दशन के लिये मान्य हो, परन्तु कला तो इनका इन्द्रिय गोचर और प्रत्यक्ष व प्रखर अनुभव कराती है, इन्ही से 'रूप' का उदय होता है, और रूप सु दर होता हे। कला अपने साधनो व माध्यमो से रूप का आस्वादन कराती है तक्नीक इस 'रूप' का उपयोग करता है मशीनो के माध्यम से। हमारा विचार है, कला और तक्नीक की दूरी कम होती जायेगी आने वाले युगो मे। दोनो के साथ से अनेक भावी सभावनाए प्रस्फुटित हो सकती है, ऐसा लगता है।

कला के सृजन की विशेषता यह है कि इसका उदय और विकास मन की उन गहराइयो मे होता है, अर्थात् अन्तश्चेतना और अचेतन की अतल गहराइयो मे, जहाँ जीवन और मन के आदि स्रोत हैं, और जहाँ जीवन व जगत्, सभ्यता व सस्कृति, के समूचे बन्धन, रोक और रुकावट, व्यवधान और बाधाएँ, नही पहुँचते। मन की यह मुक्त, आदिम स्थिति किसी अद्भुत आनन्द का स्रोत है, जिसे भारतीय चिन्तन मे 'चमत्कार' कहा गया है, और रस का भी सार माना गया है। ससार का कोई सुख अथवा भोग इस जैसा नही हैं, आज भी अनेक बन्धनो व जटिलताओ मे जकडे हुए मन को वहीं लौट कर विराम, विश्राम अथवा 'मृत्यु' का अद्भुत अनुभव होता है। कलाकार

सृजन के क्षण मे जिस मुक्त मन स्थिति को भोगता है, वही मन स्थिति रसिक भी कला के प्रभाव से प्राप्त करता है । यदि आज का थका, ऊबा, उजडा मानव-मन, सच-मुच, उसी सजक, आदिम मुक्त मन स्थिति का भोग करना चाहता है तो कला मे रसास्वादन की क्रिया से यह सम्भव हो सकता है । हम यो सभ्यता के असख्य ऐतिहासिक युगो को पार नही कर सकते, परन्तु कला अपने रूप-विधानो व साधनो से, कौशल एव भगिमाओ से, हमे वहाँ क्षणो मे ले जाती है जहाँ समय और दिशाओ की सीमाएँ गल उठती हैं, और हमारे सस्कृतियो से बोझिल व विचारो के जजालो से दबे ढके मन को असीम और अनन्त का प्रचण्ड अनुभव कराने मे समथ होती है, कला इन सीमाओ को अस्वीकार ही नही करती, वह इन्हें लाँघ जाती है, और अपने साथ रसिक को भी लघा देती है । 'आज' की व्याकुल कला न केवल सीमाओ को स्वीकार कर बैठी है, वह अपनी ही झूठी सच्ची प्रतिबद्धताओ को ओढ बैठी है । देखना है । कब तक ?

मनोविज्ञान के अनेक प्रयोगो से प्रमाणित हुआ है कि कला का मन की गहराइयो मे ही नही, अपितु स्नायु तन्तुओ, मास-पेशियो, हृदय और रसग्रन्थियो, यहा तक कि मस्तिष्क के केन्द्रो पर भी, प्रभाव पडता है । ध्वनियो का सगीतात्मक स्पन्दन मन और तन की गहराइयो मे प्रवेश करके इन्हे प्रभावित करता है, इनकी टूटी लय को जोडता है, और माधुय से सींचता है ।

यदि ऐसा है तो क्या यह सोचना सगत न होगा कि कलाओ का उपयोग, आने वाले युगो मे, शरीर एव मन के रोगो की चिकित्सा के लिये किया जायेगा ? फ्रायड कलाओ को मानसिक रोगो की उपज मानता था । अस्वस्थ एव विकृत मन की अभि-व्यक्तिया ! परन्तु लगता यह है कि कला के लय एव सगति के विधान जीवन के ही सहज विधान हैं जिनके द्वारा तन मन के सुख व स्वास्थ्य की परिभाषा की जा सकती है । यह सम्भव है कि विज्ञान भविष्य मे कला के सहज विधानो को और भी प्रभावी बनाने की दिशा मे आगे बढे ।

इतिहास मे, कलाओ के माध्यम से मनुष्य की समष्टि-चेतना की अभिव्यक्ति होती रही है । मुगल कला पर मुगल जीवन शैली की अमिट छाप है । इसी प्रकार खजु-राहो अथवा अजन्ता की कलाए अपने-अपने युगो के स्पष्ट हस्ताक्षर हैं । समाज एव उसकी सास्कृतिक उपलब्धियो को आकने के लिये कलाओ के समान सच्चा साक्ष्य कही अन्यत्र नही मिलेगा । समष्टि चेतना के इतना निकट होने के कारण मनुष्य के सामू-हिक प्रयत्नो को समझने के लिये कला उपयोगी साधन है । धर्म, नीति, सस्कृति, राज-तत्र आदि सामूहिक प्रयासो के पीछे मनुष्य की रस-लालसा, रूप के लिये अमिट चाह,

सुन्दर, शुभ एव पुण्य के लिये ललक ही प्रेरक शक्तिया रहती हैं। इस प्रकार कलात्मक प्रवृत्तिया इतिहास की शक्तियो से जुड जाती है।

हमारे विचार से 'रूप' सुन्दर होता है, और 'रूप' मे कला के सारे विधान रूपायित होते हैं। अतएव सुन्दर और कलात्मक अन्तत एक ही तथ्य के दो नाम है। परन्तु आज के सन्दर्भ मे मान्यता बदल रही है सभी कुछ जो कलात्मक है, वह आवश्यकतया सुन्दर नही होता। कलात्मक रूप की अभिव्यक्ति है जो केवल मनोहर या आनन्द देने वाली हो, यह आवश्यक नही। रूप की अभिव्यक्ति हमे अज्ञात और अज्ञेय, रहस्य और आश्चर्य, अनदेखे अनभोगे सत्य के नूतन आयामो की ओर ले जा सकती है, और हमारे मन का रजन ही नही। निर्माण भी कर सकती है। सुन्दर मे रस और आनन्द के तत्त्व को प्रधानता दी जाती है। मनोरजन और रस का अनुभव स्वास्थ्य के लिये हितकर है। इसमे बुरा कुछ नही, यदि इससे मन की सहज ऊर्जाओ का ह्रास न हो। आज ससार भर मे रस और रजना के लिये 'सु दर' का सृजन हो रहा है। 'सेक्स' को इसमे प्रधानता दी जा रही है। इसमे भी बुरा कुछ नही, यदि मनुष्य की स्वस्थ चेतना का इससे विघटन न हो, मूल्य की सहज चेतना को ठेस न लगे और उसकी स्वाभाविक ऊर्जाओ का विकास न रुक जाये। 'सुन्दर' की यही सीमा है जहाँ से आगे 'असुन्दर' प्रारभ होता है, अर्थात जहाँ से मन का विकास रुक जाये और मन विकारो से ग्रस्त होने लगे। 'कलात्मक' के लिये 'सुन्दर' होने की अनिवार्यता नही है, यदि वह अपने ही विधानो का पालन करते हुए मन के गहरे अन्तरालो मे अथवा जगत् के विराट् विस्तार मे मन को ले जाता है और उसके लिये 'अतीत', आश्चर्य और चमत्कारो की झाकी प्रस्तुत करता है, जो अन्यथा सम्भव नही। इस कला मे मन और मनुष्य के नव निर्माण की क्षमता होती है।

सौन्दर्य के शास्त्रीय चिन्तन की भावी दिशा क्या हो सकती है ?

सौन्दर्य को कलाकार और कला-रसिक के बीच का सौदा समझा जाता रहा है। कलात्मक सकल्पनाओ पर दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता माथापच्ची करके इनकी गुत्थियो को सुलझाने मे युगो से उलझे रहे हैं। आज का चिन्तन है कि जहाँ कही सृजन और निर्माण का प्रयास दिखाई दे, वहाँ रूप के विधान देखें जा सकते है। चाहे वह कारीगर हो, शिल्पी हो, मूर्तिकार हो, अथवा जहाँ भी सगठन, व्यवस्था, रचना का प्रयास चल रहा हो, समाज मे, ससार मे, विज्ञान मे, तकनीक मे, वहाँ सवत्र और सवदा 'रूप' को खोजने और बनाने का ही प्रयास दिखाई देता है। 'रूप' मे पूणता का प्रखर अनुभव होता हे। आधे-अधूरे, टूटे-फूटे मे मन को टिकाव नही मिलता। पूर्ण की यह खोज कलात्मक सौन्दर्य की ही खोज है। हम चारो ओर सुन्दर से घिरे हैं, और अपने

कामो मे सुन्दर को खोज रहे हैं, और कार्यों से सुन्दर का ही सृजन-निर्माण कर रहे हैं। और, यह सुन्दर मन की मात्र कल्पना नही है। बुद्धि की मात्र उडान नही है, वरन् सुन्दर प्रचण्ड अनुभूति है जिसे हम समूचे तन-मन से ग्रहण करते हैं, अपने सासो की लय मे सुन्दर के लय को उतारते हैं, शरीर के जीवन्त वितान मे सामजस्य और सन्तुलन, सक्षेप मे, रूप की पूणता को स्वीकारते हैं। सुन्दर केवल ताजमहल, अथवा अजन्ता, अथवा मोना लिसा के चित्र, अथवा यूनानी मूर्तियो मे ही सिमटा नही है, वरन् वह हमारे वस्त्र, वेश भूषा, केश-सज्जा-झोपडे से लेकर भव्य भवनो के निर्माण तक, मशीनो के बनाने मे और जीवन की विविध व्यवस्थाओ मे देखा और भोगा जा सकता है। मनुष्य का शरीर सुन्दर की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है, आकाश मे तारो का विस्तार सौन्दर्य का विलास है, पुष्पो एव वनस्पतियो मे इसी की एक भगिमा देखी जा सकती है। सक्षेप मे, सौन्दर्य व्यापक तत्त्व है और इसे भोगने के लिये बुद्धि सक्षम नही होती। जीवन अपनी समग्रता के साथ इस समग्र का साक्षात् अनुभव करता है।

यदि ऐसा है तो पुराना शास्त्रीय चिन्तन अब नही चलेगा, जो सौन्दय को अपने व्याकरण और विज्ञान की बोधगम्य सीमाओ से बाधने की चेष्टा करता है। लगता यह है कि मनुष्य को मनुष्य की तरह जीने के लिये कला और सौदर्य को जीवित रखना पडेगा, जिससे मन में रस के स्रोत ही न सूख जायें, और सूख जाये जीवन की अजस्रधारा भी। तब, आवश्यक है कि सौन्दर्य के शास्त्रीय चिन्तन का विस्तार हो, और उसे सभी दिशाओ मे प्रवेश मिले। तब, सम्भव है कि सौन्दय सत्य, शिव और मगल का पर्याय ही न रह जाये, बल्कि वह जीवन की परिभाषा ही बन उठे।

पठनीय पुस्तकें

दार्शनिक ग्रन्थ

1. G L Raymonds — The Essentials of Aesthetics
2. H Read — The Meaning of Art
3. G Santayana — The Sense of Beauty
4. G Santayana — Reason in Art
5. Vernon Lee — Beauty and Ugliness
6. Vernon Lee — The Beautiful
7. B Croce — The Essence of Aesthetics
8. Hegel — The Philosophy of Fine Art
9. Kant — Critique of Judgment
10. Baudouin — Psychoanalysis and Aesthetics
11. E F Carritt — The Theory of Beauty
12. B Bosanquet — A History of Aesthetics
13. G Gentile — The Philosophy of Art
14. S Alexandar — Artistic Creation and Cosmic Creation
15. C Bell — Art
16. A B Govind — Art and Meditation
17. A K Kumarswami — The Dance of Shiva
18. A K Kumarswami — The Transformation of Nature in Art
19. M R Anand — The Hindu View of Art
20. J M Thorburn — Art and Unconscious

अन्य पुस्तकें

1. Indian Sculpture — S Kramrisch
2. The Hindu Temples — S Kramrisch
3. Buddhist Wall Paintings — Langdon Warner
4. Six Limbs of Painting — A N Tagore
5. Anatomy of Indian Painting — A N Tagore

6 Indian Shilp Shastra — M A Ananthalwar
7 Somnath and other Temples in Kathiawar — J H Cousins
8 The Story of Stup — A H Longhurst
9 The Stupa Symbolism — M R Anand
10 Ajanta — G Yazdani
11 Mahabodhi — A Cunningham
12 Sanchi and its remains — F C Maisy
13 Introduction to Indian Painting — A K Kumarswamy
14 Indian Art through the Ages — A K Haldar
15 Studies in Indian Painting — N C Mehta
16 The Development of Early Hindu Iconography — A A Macdonell
17 Indian Images — B C Bhattacharya
18 Ideals of Indian Art — E B Havell
19 Indian Sculpture and Painting — E B Havell
20 Rock-cut Temples of India — J F Ferguson

सस्कृत ग्रन्थ

1 शिल्प-रत्नम्, 2 विष्णु-धर्मोत्तरम्, 3 मान सार, 4 चित्राङ्कन, 5 प्रतिमा लक्षण विधानम् 6 मय शास्त्र, 7 विश्वकर्मा प्रकाश, 8 चित्र लक्षणम्, 9 नाटच शास्त्र, 10 शुक्रनीति, 11 ध्वन्यालोक, 12 रसगङ्गाधर, 13 काव्य प्रकाश, 14 साहित्य-दपण, 15 काव्य मीमासा ।

अनुक्रमणिका